पातञ्जल योगदर्शन

सांख्ययोगाचार्य श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य-कृत
बँगला-भाष्यानुवाद और टीका का मूलसहित हिन्दी रूपान्तर

सम्पादक—
भगीरथ मिश्र, एम०, ए०, पी-एच० डी०
हरिकृष्ण अवस्थी, एम्० ए०
व्रजकिशोर मिश्र, एम्० ए०

लखनऊ विश्वविद्यालय

पातञ्जल योगदर्शन

सांख्ययोगाचार्य श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य-कृत
बँगला-भाष्यानुवाद और टीका का मूलसहित हिन्दी रूपान्तर

सम्पादक —
भगीरथ मिश्र, एम्,० ए०, पी-एच० डी०
हरिकृष्ण अवस्थी, एम्० ए०
व्रजकिशोर मिश्र, एम्० ए०

लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

मूल्य नौ रुपये

मुद्रक
नवभारत प्रेस,
नादान महल रोड, लखनऊ

वक्तव्य

'लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन' के अन्तर्गत, हिन्दी-विभाग-द्वारा अध्यापकों और विद्यार्थियों के अनुसंधान एवं अध्ययन-संबंधी साहित्यिक और सांस्कृतिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, परन्तु आज हम 'सेकसरिया ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे हैं, इसका हमें बड़ा हर्ष है। यह ग्रन्थ है 'पातञ्जल योगदर्शन'। संस्कृत में यह ग्रन्थ सुविख्यात है, परन्तु हिन्दी के माध्यम से मूलसूत्रों के साथ साथ इसकी कोई अधिकारपूर्ण और प्रामाणिक व्याख्या सुलभ नहीं थी। बिहार प्रदेशस्थ, मधुपुर कपिलमठ के तपस्वी विद्वान् श्री धर्ममेध आरण्य के उद्योग से योगदर्शन की एक विद्वत्तापूर्ण एवं प्रामाणिक टीका का हिन्दी रूपान्तर हमें प्राप्त हुआ है। यह टीका सांख्ययोगाचार्य स्वर्गीय श्री हरिहरानन्द स्वामी जी के द्वारा बँगला में की गई थी और कलकत्ता विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित भी हुई है। हिन्दी-भाषी जनों को भी सुलभ करने के हेतु उन्होंने अपने शिष्यों-द्वारा उसका हिन्दी रूपान्तर कराने का परिश्रम किया। मुझे यह हिन्दी रूपान्तर लखनऊ विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान (Anthropology) विभाग के अध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्रनाथ मजूमदार के उद्योग से प्राप्त हुआ था और इसके प्रकाशन के लिए उनके आग्रह के साथ साथ, यहाँ के भूतपूर्व कुलपति आचार्य श्री नरेन्द्र देव जी की भी प्रेरणा और शुभकामना थी। अतएव प्रकाशित करने का निश्चय करके मैंने इसे हिन्दी-विभाग के तीन अध्यापकों, डॉ० भगीरथ मिश्र, पं० हरिकृष्ण अवस्थी और श्री व्रजकिशोर मिश्र को इसके शोधन और संपादन का भार सौंप दिया, जिन्होंने बड़े परिश्रम से भाषासम्बन्धी त्रुटियों का शोधन करके उसका यह रूप प्रस्तुत किया है। मुझे आशा है कि इस विषय में अभिरुचि रखने वाले हिन्दी-भाषी जन इसे अपना कर हमारे प्रयत्न को प्रोत्साहन प्रदान करेंगे।

--दीनदयालु गुप्त

डॉ० दीनदयालु गुप्त,
एम्० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्०,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम् ।
नास्ति योगसमं बलम् ॥

महाभारत ।

हिन्दी

पातञ्जल योगदर्शन

सांख्ययोगाचार्य श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य-कृत

बँगला-भाष्यानुवाद और टीका का मूलसहित हिन्दी रूपान्तर

सम्पादक—

भगीरथ मिश्र, एम्०ए०, पी-एच० डी०,

हरिकृष्ण अवस्थी, एम्० ए०,

व्रजकिशोर मिश्र, एम्० ए०

लखनऊ विश्वविद्यालय

दो शब्द

महर्षि पतंजलि के योगदर्शन के संबंध में कुछ कहना मेरे लिए अनधिकार चेष्टा होगी; परन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि हिन्दी के भक्तिकाव्य को विशेषतः निर्गुण संतकाव्य-धारा को योगदर्शन ने अत्यधिक प्रभावित किया है। उसके इस प्रभाव को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए, योगदर्शन का ज्ञान आवश्यक है। संतकवियों का योग-संबंधी-ज्ञान प्रायः गुरु-शिष्य-परम्परा के द्वारा उपार्जित ज्ञान था और उनकी शब्दावली में योग, सांख्य और वेदान्त तीनों दर्शनों की बातों का विचित्र समन्वय है; फिर भी उनकी साधना और अनुभूति-संबंधी बातों में योग दर्शन का प्रभाव सबसे अधिक है और विशेषतः हठयोग का। योग दर्शन की संस्कृत में बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्यायें, भाष्य और टीकाएँ हैं जैसे—व्यास भाष्य, वाचस्पति मिश्र की टीका, विज्ञान भिक्षु का वार्तिक, भोजवृत्ति, गणेश भट्ट की वृत्ति आदि। ये व्याख्यायें बड़ी गवेषणा पूर्ण और अनुभव युक्त हैं। परन्तु, राष्ट्र-भाषा हिन्दी के माध्यम से अभी अधिक व्याख्याएँ दर्शन शास्त्रों की नहीं हुई हैं। योगदर्शन का सामान्य परिचयात्मक अनुवादमात्र गीताप्रेस से प्रकाशित हुआ है तथा कतिपय अन्य प्रयत्न भी साधारण कोटि के हुए हैं। हाँ, एक ग्रंथ का नाम इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय है और वह है - "पातंजल योग-प्रदीप" जिसका प्रणयन श्री स्वामी ओमानंद जी तीर्थ ने किया है और जो आर्य साहित्य मंडल अजमेर से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ में सुबोध शैली में योगदर्शन को स्पष्ट किया गया है और उसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में षड्-दर्शन समन्वय का प्रयत्न हुआ है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सन् १९३८ में सांख्ययोगाचार्य श्री मद् हरिहरानन्द आरण्य-कृत बंगला में सूत्रभाष्यानुवाद और उनकी निजी टीका सहित पातंजल योगदर्शन प्रकाशित किया। श्री स्वामी हरिहरानन्द जी आरण्य ने दर्शन-संबंधी अन्य अनेक पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें से प्रमुख हैं—सांख्यतत्वालोक, भास्वती (योगदर्शन के व्यास भाष्य की टीका) पंचशिखादीनां साँख्यसूत्रम्-(सभाष्यम्), योगकारिका, धर्मपदम्-(पाली धम्मपद का संस्कृत अनुवाद)। ये सभी ग्रंथ लेखक की प्रतिभा और विद्वत्ता के द्योतक हैं। परन्तु योगदर्शन-संबंधी उनके गंभीर ज्ञान और अनुभव के द्योतक उनके अंशतः ज्ञात जीवनी के तथ्य हैं। आचार्य स्वामी जी ने अपनी सन्यासावस्था के सन् १८९२ से १८९८ तक के छः वर्षों का समय राजगिरि के निकटस्थ अशोक-कालीन प्राचीन गुफाओं में व्यतीत किया और उस समय उनका मिताहार केवल एक बार, तीन मील से आने वाले एक व्यक्ति के द्वारा लाये गये भोजन द्वारा होता था।। जीवन का अंतिम भाग उन्होंने कपिल गुहा में व्यतीत किया जो मधुपुर (बिहार) के निकटस्थ कपिल मठ के पास है। यह गुफा, चारों ओर हरे भरे धान के खेतों से घिरी हुई लगभग दो एकड़ भूमि पर स्थित है। इस गुफा में उन्होंने सन् १९२६ से १९४७ तक का २१ वर्षों का समय व्यतीत किया और यहीं उन्होंने अपना नश्वर स्थान छोड़कर अमरपद प्राप्त किया। अपनी जीवनी लिखने अथवा समाधि-

स्थल पर किसी प्रकार का स्मारक बनाने से अपने शिष्यों को उन्होंने रोक दिया था अतएव उनके लौकिक जीवन के अधिक तथ्य अप्रकट हैं।

स्वामी हरिहरानंद-कृत योग दर्शन की टीका बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण और प्रामाणिक है। तत्वचिंतक मनीषी ने बड़ी सूक्ष्म शंकाओं को उठाकर अपनी टीका में उसके निवारण का प्रयत्न किया है और व्यास भाष्य में आये हुए रहस्यों का उद्‌घाटन एवं अनेक रूढ़ और पारिभाषिक शब्दों की तत्वबोधिनी व्याख्या की है। योगदर्शन की विस्तृत भूमिका में उन्होंने ऐतिहासिक एवं दार्शनिक तथ्यों से संबंध रखने वाली गुत्थियों को बड़े ही तर्क पूर्ण ढंग से सुलझाया है। युक्तिपूर्ण प्रमाणों से न केवल उन्होंने भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन ही किया है, वरन् सांख्य-योग के वास्तविक संबंध और महत्व को भी खोल कर रख दिया है। यह कृति उनके प्रौढ़ अनुभव और चिन्तन का परिणाम हैं। अतएव यह इस विषय के विद्वानों का ज्ञान-वर्द्धन करेगी, इसमें संदेह नहीं। वास्तव में योग - व्यावहारिक जीवन से अत्यधिक संबंध रखता है। अतएव इसे न केवल विद्वानों तक सीमित रहना चाहिए, वरन् इसके यथार्थ रूप को सर्व-जिज्ञासु-सुलभ बनाना चाहिए। महाभारतकार ने कहा भी है 'नास्ति सांख्य समं ज्ञानं। नास्ति योग समं बलं।' अतएव भगवान व्यास के परिपक्व और व्यापक अनुभव का उपयोग हमारे लिए अति आवश्यक है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर सांख्य-योगाचार्य स्वामी आरण्य जी ने कपिलमठ को एक ज्ञान-योग-शिक्षा-साधना का स्थान बनाया। और आज भी कपिल मठ ज्ञानार्जन और योग-साधना का स्थान है। स्वर्गीय स्वामी जी के शिष्य श्रीमद् धर्ममेध आरण्य एवं उनके शिष्य ब्रह्मचारी जी आदि के उद्योग से बँगला-टीका का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद हुआ और यही प्रस्तुत 'हिन्दी-पातंजल योगदर्शन' है जो लखनऊ विश्वविद्यालय के लिए हिन्दी विभाग ने प्रकाशित किया है। इस अनुवाद को यहाँ लाने का श्रेय डा० धीरेन्द्र नाथ मजूमदार को है अन्यथा हम लोगों को इसका पता भी न था और इसके प्रकाशन की प्रेरणा लखनऊ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति आचार्य श्री नरेन्द्र देव जी से प्राप्त हुई थी। समस्त उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेकर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डाक्टर दीनदयालु गुप्त ने इसके हिन्दी अनुवाद को देखकर संशोधन करने का भार हम तीन व्यक्तियों को सौंपा, जिसे हम लोग अब पूरा कर पाये हैं। इस कार्य में हम सभी की अतिव्यस्तता के कारण अत्यधिक समय लग गया है जिसका हमें खेद है। इस शोधन कार्य में हमें 'ऐन्थ्रापालोजी' विभाग के अनुसंधान के विद्यार्थी श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री से बड़ी सहायता मिली है। इस संस्करण में प्रयत्न करने पर भी एक लम्बा शुद्धिपत्र होगया है जिसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। आशा है योग मार्ग के पथिकों के लिए एक अनुभवी व्यक्ति की टीका का यह हिन्दी रूपान्तर उपादेय होगा।

—भगीरथ मिश्र

योगदर्शन

विषय सूची

१—समाधिपाद

सूत्र | पृष्ठ संख्या

सूत्र | पृष्ठ संख्या

२—साधनपाद

३—विभूतिपाद

सूत्र | पृष्ठ संख्या

४—कैवल्यपाद

सूत्र | पृष्ठ संख्या

सांख्ययोगाचार्य श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य

ज्ञानं महोदधिसमं खलु धीर्विशाला भा यस्य भाति च विमुक्तिद-सांख्ययोगौ।
रुद्ध्वा शरीरमपि दर्शितमोक्षहेतु वंन्दे तदार्यचरणं शरणं श्रितानाम् ॥

भूमिका

भारतीय मोक्ष-दर्शन

लाखों वर्षों से पृथ्वी पर मनुष्यों का निवास रहा है, इस तथ्य को भारतीय शास्त्रकार भली भाँति जानते थे। परन्तु, उसका काल्पनिक चित्रण करके उन्होंने इस तथ्य के ज्ञान का समुचित प्रयोग नहीं किया है। और, उधर पाश्चात्य विद्वानों ने अपने संकीर्ण संस्कारवश ईसवीपूर्व के दो तीन हजार वर्षों के भीतर ही संस्कृत-साहित्य के उद्गम की कल्पना की है। फलत:काल के संबंध में भारतीय पुराणकारों की कल्पनायें जितनी असम्भव हैं, पाश्चात्य विद्वानों की कल्पनायें उतनी ही संकीर्ण हैं और इसलिये दोनों ही दोषपूर्ण हैं। अत: सत्य के अनुसंधान करनेवालों के लिए यही युक्तिसंगत है कि वे संस्कृत-साहित्य के प्रादुर्भावकाल के संबंध में किसी निश्चित निर्णय का हठ न करें *। यथार्थ काल-निर्णय के अभाव में भी वैदिक और साहित्यिक संस्कृत के भाषा-रूपों के आधार पर कालक्रम का निर्धारण किया जा सकता है। परन्तु यह भी सर्वत्र मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक परवर्ती ग्रंथों की रचना प्राचीन भाषा के अनुकरण पर हुई है और साथ ही अनेक प्राचीन ग्रंथों में भी कालान्तर में बहुत से प्रक्षिप्त अंश समाविष्ट हो गये हैं।

वेदों के ही मंत्र और ब्राह्मण अंशों में भाषा के तीन-चार रूप देखने को मिलते हैं। उनमें ऋग्वेद की ऋचाएँ, यजुर्वेद के मंत्रों से प्राय: प्राचीन हैं। ऋचाओं के भी कालक्रम से तीन भाग प्राचीन, अप्राचीन और मध्यम किये जा सकते हैं। विस्तार-भय से इस विषय के उदाहरण देना अधिक उपयुक्त नहीं है। दार्शनिक मतों का पूर्वापर संबंध भी इसी प्रकार निश्चित किया जा सकता है।

अनेक युक्तियों के आधार पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि कुरुक्षेत्र का युद्ध ईसा से ढाई हजार वर्ष से भी पहले हुआ था और इसलिए यह भी मानना पड़ेगा कि महाभारत के कृष्ण, युधिष्ठिर आदि आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व वर्तमान थे, वेद उनसे भी बहुत पहले के हैं। विशेष रूप से वेदों की ऋचाएँ तो उनसे बहुत पूर्व की हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु ब्राह्मण और उपनिषद् में महाभारतकालीन व्यक्तियों के आख्यान मिलने के

---

* मोक्षमुलर ने भी कहा है "All this is very discouraging to students accustomed to chronological accuracy, but it has always seemed to me far better to acknowledge our poverty and the utter absence of historical dates in the literary history of India, than to build up systems after systems which collapse at the first breath of criticism or scepticism."

—The Six systems of Indian Philosophy. Page 120.

कारण यह वेदांश महाभारत काल के बाद की रचना है, इस भ्रम का स्थान हो सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है :—

'एतेन हवा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण तुरः कावषयः जनमेजयं पारीक्षितमभिषिषेच', इत्यादि । ८ प० । २१ । तथा शतपथ ब्राह्मण में भी, 'एतेन हेन्द्रोतो दैवापः शौनकः जनमजयं पारीक्षितं याजयांचकार,' इत्यादि । १३।५।४।१ छान्दोग्य उपनिषद् में भी देवकीनन्दन कृष्ण का उल्लेख मिलता है।

परन्तु युधिष्ठिर आदि नामों के उल्लेख के कारण सब वेदांगों के समस्त अंश महाभारत काल के बाद लिखे गये हैं, ऐसा मानने की अपेक्षा यह मानना अधिक युक्तिसंगत होगा कि केवल उतने ही अंश प्रक्षिप्त हैं, जिनमें वे नाम आये हैं। **'चतुर्विंशति-साहस्त्रीं चक्रे भारत संहिताम् । उपाख्यानैर्बिना तावद् भारतमुच्यत बुधैः ।'**

महाभारत आदि पर्व के इस कथन से ज्ञात होता है कि व्यास जी की मूल रचना में पहले चौबीस सहस्त्र श्लोक मात्र थे। लेकिन धीरे धीरे उसमें जैसे एक लाख से अधिक श्लोक समाविष्ट हो गये वैसे ही हजारों वर्षों की कंठ-परम्परा के कारण तथा अनेक प्रतिभाशाली आचार्यों के व्याख्यानों के फलस्वरूप वेदांश-समूह का कलेवर बढ़ता गया, यह कहना बहुत कुछ ठीक है। महाभारत की रचना का प्रथम नाम जय, पश्चात् भारत और तदुपरान्त महाभारत हुआ, ऐसा प्रसिद्ध है। विशेष रूप से यह भी निश्चय है कि व्यास, याज्ञवल्क्य इत्यादि नाम के व्यक्ति एक से अधिक थे। इस अनुमान के लिए भी अवकाश है कि याज्ञवल्क्य तथा शतपथ ब्राह्मण के संग्राहक याज्ञवल्क्य दो भिन्न व्यक्ति हैं। याज्ञवल्क्य शतपथ ब्राह्मण का संग्राहक भी है और उसी में (शतपथ ब्राह्मण में ही) अनेक स्थलों पर याज्ञवल्क्य का दूसरे व्यक्तियों से (अन्य पुरुष के रूप में) संवाद भी है। पतंजलि नाम के शास्त्रकार भी एक से अधिक व्यक्ति थे। वस्तुत: पतञ्जलि अथवा पतंचलि एक वंश का नाम है, वृहदारण्यक से यह विदित होता है। पतञ्जलि नामक एक व्यक्ति इलावृतवर्ष या भारतवर्ष के उत्तर में स्थित हिमवत् प्रदेश के निवासी थे और महाभाष्यकार पतंजलि भारत के मध्य-देश के निवासी थे, इसका आभास महाभाष्य के पढ़ने से मिल सकता है। एक पतंजलि लौह-शास्त्रकार भी थे।

इस प्रकार विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न अंश प्रक्षिप्त होने से तथा एक नाम के अनेक व्यक्तियों-द्वारा भिन्न-भिन्न कालों में शास्त्र-रचना होने के कारण किसी ग्रंथ का पौर्वापर्य निःसंशय रूप से नहीं ठहराया जा सकता। इस पर विचार करना हमारा भी उद्देश्य नहीं है। हम इसमें केवल धर्ममत के —विशेषत: मोक्षधर्म मत के –उद्भव, विकास और परिणाम के विषय पर विचार करेंगे।

हिन्दू धर्म का प्रकृत नाम आर्षधर्म है। मनु ने कहा है **'आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रा विरोधिना । यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'** ॥ बौद्ध लोग भी सनातन धर्म को इसिमत या ऋषिमत तथा जटी और सन्यासियों को ऋषिप्रव्रज्या में दीक्षित कहते थे। हिन्दूधर्म के मूल जो वेद हैं वे सब ऋषि-वाक्य ही हैं। जो वेदमंत्र के द्रष्टा या रचयिता हैं वे ही ऋषि हैं। ऋषिगण साधारण मनुष्यों की कोटि के भीतर नहीं आते। जिनमें अलौकिक शक्ति थी, वे ही ऋषि-युग में ऋषि होते थे। ऋषि शब्द प्राचीनकाल में अत्यन्त पूज्य के अर्थ में व्यवहार किया जाता था। इसीलिये बौद्ध लोग भी बुद्ध को 'महेषि या महर्षि' कहते थे। फलत: उस युग में

अलौकिक ज्ञान और शक्ति-संपन्न व्यक्ति ऋषि होते थे। स्त्री और शूद्र तक ऋषि-पद प्राप्त कर सके थे।

ऋषिप्रणीत या ऋषिदृष्ट शास्त्र ही वेद है। कोईकोई कहते हैं कि वेद ईश्वर-प्रणीत है। किन्तु, इसका कोई प्रमाण वेद में नहीं मिलता। दूसरे कहते हैं कि 'ईश्वरप्रणीत होने से वेद पौरुषेय हो जाता है, अतः वेद ईश्वरप्रणीत नहीं है'। कुछ आधुनिक वेदान्ती भी कहते हैं, वेद ईश्वर से निश्वासरूप में उत्पन्न हुआ, फलतः वह ईश्वरजात होने पर भी पौरुषेय नहीं; क्योंकि निश्वास, पौरुषेय क्रिया के रूप में मान्य नहीं हो सकती। **'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्ऋग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषदःश्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।।, वृह० २।४।१०।** इस श्रुति से वेदान्तियों ने उक्त काल्पनिक व्याख्या खड़ी की हैं। वस्तुतः यह श्रुति रूपकार्थ में ही संगत बैठती है। जो शास्त्र लोक में रचे गये हैं वे मानों उस अन्तर्यामी के निःश्वास-रूप हैं। इस प्रकार का अर्थ ही यहाँ पर संगत है, नहीं तो ईश्वर के निःश्वास फेंकने से ही वेदादि समस्त शास्त्र बन गये, ऐसी कल्पना नितान्त अयुक्त और बालोचित ही कही जा सकती है।

ऋषिदृष्ट शब्द की एक और भी व्याख्या है जिसके अनुसार वेद का अस्तित्व नित्य है। ऋषियों ने अनादिकाल से अस्तित्व रखनेवाले उस वेद को देखकर गद्य तथा पद्य-समूह में उसे व्यक्त किया। अवश्य ही इन सब मतों का श्रौत प्रमाण नहीं है। **'अग्निः पर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नुतनैरुत'** इत्यादि वैदिक शब्दावली भी अनादिकाल से विद्यमान है, यह नितान्त अयुक्त कल्पना ही है। ऋषियों ने अपने अलौकिक दृष्टि-बल से सत्य का उद्‌घाटन करके उसे प्रचलित भाषा में श्लोकादि की रचना-द्वारा व्यक्त किया है, यही मत इस विषय में समीचीन है।

एक श्रेणी के आदमी हैं, जो कहते हैं, कि वेद असभ्य मनुष्य के गीत हैं। यह भी अयुक्त कुसंस्कार है। वस्तुतः समग्र वेद में जो सब धर्म-चिन्तन विद्यमान है, आजके सुसभ्य मनुष्य उससे कुछ भी अधिक उन्नत चिन्ता नहीं करते। मनुष्य के लिये उसके निकट पहुँचने में अब भी बहुत देर है। ईश्वर, परलोक, निर्वाण, मुक्ति आदि के विषय में वेद में जो कथन है, उससे उन्नत चिन्तन मनुष्य अब तक नहीं कर सका। ***F. W. H. Meyers, Sir Oliver Lodge*** इत्यादि वैज्ञानिक आज भी जो तथ्य परलोकके संबंध में प्रकट हुए कहते हैं, वे भी वेदोक्त मत के अन्तर्गत ही हैं।

उपनिषद् में है **'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे'** ई० १०। जिन्होंने यह कहा उन्होंने अन्य किसी धीर ऋषि से सुनकर तब इस श्लोक की रचना की, अतः श्रुति ही के प्रमाण से श्रुति मनुष्य के द्वारा रचित है। जिन से श्रुति रचित हुई वे ही ऋषि थे। ऋषिगण दो प्रकार के हैं, प्रवृत्ति धर्म के तथा निवृत्ति धर्म के। जो कर्मकांड के प्रवर्तक तथा कर्मकांड-संबंधी मंत्रों के द्रष्टा या रचयिता हैं वे प्रवृत्तिधर्म के ऋषि हैं। **'नमस्ते ऋषिभ्यः पूर्वेभ्यः पूर्वजेभ्यः पथिकृद्भ्यः'** इत्यादि वेदमंत्रों के ऋषि ही प्रवृत्ति धर्म के पथिकृत् ऋषि हैं। और जो मोक्ष-मार्ग का साक्षात्कार करके उसका प्रवर्त्तन कर गये हैं वे निवृत्तिधर्म के ऋषि हैं। संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् में जो मोक्षधर्म-विषयक अंश है उसके द्रष्टा राजर्षि-गण तथा ब्रह्मर्षि-गण निवृत्तिधर्म के ऋषि हैं, जैसे वाग् आम्भृणी, जनक, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य

इत्यादि। परमर्षि कपिल मोक्षधर्म के प्रधान ऋषि हैं यह बात प्राचीन भारत के धर्मयुग में प्रसिद्ध थी, जैसे महाभारत में **'ऋषीणामाहुरेकं यं कामादवसितं नृषु........यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षि प्रजापतिम्।'**

योगधर्म में सिद्ध ऋषिगण, जिनके प्रवर्तित धर्म के अनुसार धर्माचरण करके आज तक संसार के अधिकांश मानव सुख शान्ति प्राप्त कर रहे हैं, वे विश्वसंबंधी सम्यग् दर्शन-रूप जो ज्ञानस्तूप स्थापित कर गये हैं; आजकल के बाहरी दृष्टिवाले, अपने को सभ्य समझने वाले पंडितगण उसके तलदेश में ही पिपीलिका के समान विचरण कर रहे हैं।

धर्म दो प्रकार के हैं, प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म या मोक्षधर्म। जिस धर्म से इहलोक और परलोक में सर्वाधिक सुखलाभ होता है, वही प्रवृत्तिधर्म है, एवं जिसके द्वारा निर्वाण या शांति-लाभ होता है, वह निवृत्तिधर्म है। निवृतिधर्म भारत में ही आविष्कृत हुआ है, प्रवृत्ति धर्म पृथ्वी पर सर्वत्र है।

प्रवृत्तिधर्म के मूल ये दो आचरण हैं, (१) ईश्वर या महापुरुष की अर्चना तथा (२) दान, परोपकार, मैत्री आदि पुण्य कर्मों का आचरण। इनमें अर्चना की प्रणाली मूलतः इस प्रकार है—स्तुति और शृंगार, धूप, दीप एवं नैवेद्य। वैदिक युग से आज तक समस्त प्रवृत्ति धर्मों के अन्तर्गत ये ही मूल आचरण देखे जाते हैं। कर्मकांड(*Ritual*)की प्रणाली अनेक प्रकार की हो सकती है। किन्तु वे सब मूल आचरण सर्व धर्म में समान हैं। वैदिक काल में अग्नि में हव्य की आहुति देकर देवार्चना की जाती थी उसके साथ दान दिया जाता था और सोमादि नैवेद्य रूप में समर्पित होते थे। यहूदियों में भी पशुमांस अग्नि में डालकर देवता की अर्चना की जाती थी। ईसाइयों की सैक्रामेण्ट (*Sacrament*) नैवेद्यार्पण के समय (*Grace*) पाठ तथा मुसलमानों द्वारा कुर्बानी और नमाज भी नैवेद्य-समर्पण के रूप हैं।

उस प्रकार के प्रवृत्ति धर्म-द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह वेद में भी देखा जा सकता है। **'यत्र ज्योतिरजस्रं त्रिणाके त्रिदिवे दिवः।'** इत्यादि वेदमंत्र में यही कहा गया है। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि भी ऐसे कर्म के इसी प्रकार के फल में विश्वास करते हैं।

स्वर्ग और नरक-सम्बन्धी सत्य जानने के लिए अलौकिक दृष्टि की आवश्यकता है। हमारे ऋषि और ईसाइयों आदि के पैगम्बर (*Prophet*) अलौकिक दृष्टि वाले व्यक्ति थे। धर्माचरण करने के लिये मनुष्यों को किसी न किसी प्रकार की कर्मकांड-पद्धति ग्रहण करनी पड़ती है। ऋषि यागयज्ञ रूप में तथा ईसाई इस्लाम-धर्मी कर्मकांड की किसी न किसी पद्धति या रिचुअल (*Ritual*) का अवलम्बन कर धर्माचरण करते रहे हैं। किन्तु अलौकिक शक्ति-सम्पन्न धर्मप्रवर्त्तक महापुरुष की अर्चना, तथा दान आदि कर्म सामान्यतया सर्वत्र ही मिलते हैं।

आर्ष प्रवृत्ति-धर्म कितने युग से आविष्कृत होकर चले आरहे हैं, इसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। पाश्चात्य लोग आपातकाल के मोह से जो चार पाँच हजार वर्ष का अनुमान लगाते हैं वह संकीर्ण कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

निवृत्ति धर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं, आर्ष तथा अनार्ष। आर्ष सम्प्रदाय सांख्य, वेदान्त आदि और अनार्ष संप्रदाय बौद्ध, जैन आदि। यद्यपि आर्ष संप्रदाय सब का मूल है

तथापि बौद्ध आदि के द्वारा अपने अपने सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकों को ही मूल मानने के कारण उन्हें अनार्ष कहा जाता है।

निवृत्ति धर्म का मूल मत और आचरण ये हैं:—पुण्य-द्वारा स्वर्ग-लाभ होने से भी स्वर्ग-लाभ चिरस्थायी नहीं है, क्योंकि उससे भी जन्म-परम्परा की निवृत्ति नहीं होती। सम्यक् दर्शन, जन्मपरम्परा या संसार की निवृत्ति का कारण है। सम्यक् योग अर्थात् चित्तस्थैर्यरूप समाधि, तथा सम्यक् वैराग्य, सम्यक् दर्शन या प्रज्ञा के कारण हैं। सम्यक् दर्शन के द्वारा दुःखमूल अविद्या का नाश होता है अतएव दुखमय संसार की निवृत्ति हो जाती है।

सांख्य, वेदांत, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन प्रभृति समस्त निवृत्तिधर्मवादियों का यही मत है। जिस प्रकार प्रवृत्ति धर्मवादियों में धर्म-पद्धति का भेद रहता है, उसी प्रकार निवृत्ति-वादियों के बीच दर्शन तथा सम्यक् योग में भी भेद है। आर्ष संप्रदाय के निवृत्तिवादियों में आत्मज्ञान तथा अनात्म विषय के प्रति सम्यक् वैराग्य यही तो सामान्य धर्म हैं। बौद्ध लोग केवल वैराग्यवादी और जैन तथा वैष्णव आदि वैराग्य एवं एक न एक प्रकार के आत्मज्ञानवादी हैं।

निर्गुण तथा सगुण के भेद से आत्मज्ञान दो प्रकार का है। सांख्य के अनुयायी निर्गुण पुरुषवादी हैं, वेदान्तियों के अनुसार आत्मा, निर्गुण तथा ऐश्वर्य-संपन्न सगुण दोनों ही है। तार्किक आत्मा को सगुण मानते हैं किन्तु सभी मतों में योग या अभ्यास-वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्ति निरोध, आत्मसाक्षात्कार एवं शाश्वत शान्ति का उपाय है।

बौद्धमत में आत्मज्ञान के स्थान में अनात्मज्ञान अर्थात् पंचस्कन्ध आत्मा शून्य है यह ज्ञान ही सम्यक् दर्शन है। इसके साथ सम्यक् तृष्णा-शून्यता या वैराग्य ही निर्वाण है। जैनों का भी कथन है कि वैराग्ययुक्त समाधिविशेष उनका मोक्ष है। वैष्णवों में विशिष्टाद्वैतवादी भी वैराग्य और समाधि को मोक्ष का उपाय मानते हैं।

श्रुति में आत्मा परमागति कहलाती है। वस्तुतः प्राचीन ऋषिगण परम पदार्थ के लिये बहुधा "आत्मा" नाम का व्यवहार किया करते थे। वे इन्द्रादि देवताओं एवं प्रजापति हिरण्यगर्भ नामक सगुण ईश्वर की उपासना करते थे। हिरण्यगर्भ देव ही कालक्रम से ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन नाम से त्रिरूप में विभक्त हुए हैं। ब्रह्मांड के अधीश्वर प्रजापति हिरण्यगर्भ का अन्य नाम अक्षर आत्मा है। वे ऐश्वर्य से सम्पन्न फलतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी हैं। **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत'** १०।१२१ (१) इत्यादि ऋचा में उन्हीं की स्तुति हुई है।

प्रजापति हिरण्यगर्भ या अक्षर आत्मा के अतिरिक्त निर्गुण पुरुष भी श्रुति में हैं। वे **'अक्षरातपरतः परः'** इत्यादि रूप से कथित हुए हैं। वे ऐश्वर्य से निर्मुक्त हैं अतएव उन्हें सर्वज्ञ, सर्वव्यापी आदि विशेषण से विशेषित नहीं किया जा सकता।

आत्मा को पुरुष रूप से जानना और निर्गुण रूप से जानना यह उभय प्रकार का ज्ञान ही आत्मज्ञान है। उनमें निर्गुण पुरुष रूप आत्मा सांख्य सम्मत है। वेदान्ती लोग आत्मा को ईश्वर भी कहते हैं और निर्गुण भी। सांख्य के मत में (तथा न्याय, वैशेषिक वैष्णवादि मत में) पुरुष बहुत हैं। सांख्य मत में पुरुष स्वरूपतः निर्गुण हैं। अपने अन्तःकरण की विशुद्धि के अनुसार पुरुष ईश्वर, अनीश्वर होते हैं। पुरुष के अन्दर माया किस प्रकार से आती है, इसे वेदान्ती लोग स्पष्ट समझा नहीं सके, इसलिए उनका मत उतना विशद नहीं।

सगुण (अर्थात् ईश्वरतायुक्त वा सत्वगुण प्रधान) तथा निर्गुण आत्मज्ञान प्रथम ऋषि समाज में आविर्भूत हुआ था। यागयज्ञादि प्रवृत्ति धर्म का आचरण सर्व प्रथम है। उसके बाद सगुण आत्मज्ञान के द्रष्टा कोई ऋषि प्रादुर्भूत हुए। वागाम्भृणी ऋषि इसका उदाहरण हैं। **'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः'** इत्यादि ऋचा में उक्त ऋषि ने सार्वज्ञ्य, सर्वव्यापित्व आदि ऐश्वर्ययुक्त सगुण आत्मज्ञान का प्रकाश किया है। वेद के संहिता भाग में और भी अनेक जगह पर ऐसा आत्मज्ञान देखा जाता है।

बाद में परमर्षि कपिल ने निर्गुण आत्मज्ञान को प्रकाशित किया। वह क्रमशः ऋषियुग के मनीषी ऋषि-वृन्दों के भीतर प्रचलित होकर श्रुति में समाविष्ट हुआ है। संहिता की अपेक्षा उपनिषद् में ही वह अधिक स्पष्ट रूप में लक्षित है। महाभारतकार उसके लिये कहते हैं, **'ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे। यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे, साख्यागतन्तन्निखिलन्नरेन्द्र ॥'** (शान्ति पर्व) अर्थात् हे नरेन्द्र जो महत ज्ञान महान् व्यक्तियों में, वेदों के भीतर तथा योग शास्त्रों में देखा जाता है और पुराण में भी विविध रूपों में पाया जाता है वह सभी सांख्य से आया है।

अतएव परमर्षि आदि-विद्वान कपिल-द्वारा प्रकाशित निर्गुण पुरुष, उपनिषद् में भी देखा जाता है। **'इन्द्रियेभ्यः परह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।'** कठ इत्यादि श्रुति में सांख्यीय सुमहत् निर्गुण आत्मज्ञान उपदिष्ट हुआ है। वर्त्तमान श्रुतियाँ वेदान्तियों के अनेकांश में अनुकूल होने के कारण लुप्त नहीं हुईं। क्योंकि प्रायः हजार डेढ़ हजार वर्ष तक तो वेदान्तियों का ही निरन्तर प्रभाव रहा, किन्तु उससे बहुत सी सांख्य के अनुकूल श्रुतियाँ लुप्त हो गईं। योगभाष्यकार ने ऐसी श्रुति को उद्धृत किया है जो वर्तमान ग्रन्थ में नहीं मिलती, जैसे **'प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरितिश्रुतेः।'** यह श्रुति काललुप्त शाखा में स्थित रही होगी। महाभारत में कहा गया है **'अमूर्तेस्तस्य कौन्तेय सांख्यंमूर्तिरिति श्रुतिः।'** (शान्ति पर्व) प्रचलित कुछ श्रुति ग्रन्थों में सगुण तथा निर्गुण दोनों ही निर्विशेष रूप से उल्लिखित रहने से और इस प्रकार उनका भेद स्पष्ट न होने के कारण बहुत से साधारण बुद्धि के लोग विभ्रान्त हो जाते हैं।

इसलिये यह प्रगट होता है कि पहिले कर्मकांड का उद्‌भव हुआ और बाद में सगुण आत्मज्ञान और उसके बाद सांख्यीय निर्गुण पुरुषज्ञान प्रगट हुआ। सम्पूर्ण आत्मप्रकाशन का यही क्रम रहा। महर्षि पंचशिख ने जिस सांख्य दर्शन का प्रणयन किया था और जो अब लुप्त हो गया है, जिसका कुछ अंशमात्र, योगभाष्य में उद्धृत होने के कारण लुप्त होने से बच सका। उसमें मिलता है कि **'आदि विद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानायतंत्रम्प्रोवाच।'** निर्गुण ब्रह्म विद्या की उत्पत्ति का निर्देश करनेवाला यही उपयुक्त कथन है। यह पौराणिकों की काव्यमय काल्पनिक आख्यायिका नहीं है, वरन् एक दार्शनिक का ऐतिहासिक वाक्य है।

परमर्षि कपिल के आविर्भाव के बाद भारत में धर्मयुग का प्रवर्तन हुआ। मोक्षधर्म के सुलभा और जनक के संवाद में है:—**'अथ धर्मयुगे तस्मिन् योग धर्ममनुष्ठिता। महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी।'** (शान्ति पर्व) इस धर्मयुग की अनुस्मृति से बाद में पौराणिक सत्ययुग कल्पित हुआ है। उस धर्मयुग में मिथिला में ब्रह्मविद्या का अत्यधिक

प्रचार था। जनकवंशीय जनदेव, धर्मध्वज, कराल आदि नृपतिगण आत्मज्ञानी थे। उस समय महर्षि पंचशिख सन्यास लेकर विदेहादि देश में विचरण करते थे। महाराज जनदेव जनक ने उनसे ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त की थी और इधर काशीराज अजातशत्रु भी आत्मज्ञानी थे। किन्तु, मिथिला की इस प्रकार की ख्याति थी कि जिज्ञासु तथा विद्वान लोग प्राय: विदेहराज्य में जाते थे। कौषीतकी उपनिषद् में अजातशत्रु ने कहा है **'जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति,'** अर्थात् आत्मविद्या के निमित्त 'जनक जनक' पुकारते हुए लोग मिथिला को दौड़ते हैं।

उस धर्मयुग में महर्षि पंचशिख ने महर्षि कपिल के उपदेश का अवलम्बन कर सांख्यसूत्र का प्रणयन किया। मोक्षधर्म के मनन या युक्तिपूर्वक उसके निश्चय करने के लिए ही मोक्ष-दर्शन है। 'भारतीय सभ्यता का इतिहास' नामक ग्रन्थ में श्रीमान रमेशचन्द्र दत्त ने जो कहा है कि 'पृथ्वी पर सांख्यदर्शन ही सबसे प्राचीन दर्शन ज्ञात होता है' यह सर्वथा सत्य है। महर्षि पंचशिख का वह ग्रन्थ यद्यपि सम्पूर्ण नहीं मिलता, फिर भी उसका जो भाग उपलब्ध है उसीसे समग्र सांख्य दर्शन का संग्रह हुआ है। सांख्य युक्तिपूर्ण दर्शन होने के कारण आदिवक्ता की बात के ऊपर उतना निर्भर नहीं करता। इस कारण सांख्य का मूलग्रन्थ उपलब्ध न होने से भी हानि नहीं है। प्रचलित षडध्याय सांख्यदर्शन प्राचीन प्रासाद के सदृश है[1]। प्रासाद जैसे समय समय पर संस्कार-परिवर्तन-द्वारा भिन्न आकार धारण करती है किन्तु भित्ति आदि अनेक अंश यथावत् रहते हैं, वैसा ही षडध्याय सांख्यदर्शन भी है। कारिका और सांख्यदर्शन छोड़कर तत्वसमास या कापिल सूत्र नामक जो ग्रन्थ हैं उसे अनेक लोग प्राचीन मानते हैं। मोक्षमूलर ने उसमें कुछ अप्रचलित पारिभाषिक शब्द देखकर उसे प्राचीन माना था। वह कुछ प्राचीन अवश्य है पर अधिक प्राचीन नहीं। उसकी टीका अत्यन्त आधुनिक है। अप्रचलित पारिभाषिक शब्द, उसकी प्राचीनता नहीं, वरन् आधुनिकता ही प्रमाणित करते हैं। तात्पर्य यह कि पारिभाषिक शब्द प्राचीन होने से अधिक प्रचलित रहना चाहिये था, जब ऐसा नहीं तब नूतन पारिभाषिक शब्द अप्राचीनता का ही सूचक समझना चाहिये।

प्राचीन भारत में मुमुक्षु सम्प्रदाय के भीतर सांख्य तथा योग ये दो संप्रदाय बहुत काल तक प्रचलित रहे। सगुण आत्मज्ञान आविर्भूत होने पर उसके साथ योग भी अवश्य आविष्कृत हुआ था। कारण यह है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन या समाधि के बिना किसी प्रकार का आत्मज्ञान साध्य नहीं। निगुण ज्ञान का आविष्कार होने से योग का भी उस के अनुरूप संस्कार हुआ था। परमर्षि कपिल से जिस प्रकार निर्गुण आत्मज्ञान, प्रवर्त्तित हुआ उसी तरह निर्गुण पुरुष प्राप्त करनेवाला योग भी प्रवर्त्तित हुआ। उदर और पृष्ठ जैसे अन्योन्याश्रित हैं, सांख्य और योग भी ऐसे ही हैं। इसलिये प्राचीन शास्त्र में सांख्य तथा योग को एक ही समझने के लिए अनेक उपदेश मिलते हैं। जो केवल तत्वनिदिध्यासन तथा वैराग्य-अभ्यास करके आत्मसाक्षात्कार करते थे वे सांख्य मतावलम्बी, एवं जो तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग के क्रम से आत्मसाक्षात्कार करते थे वे योग

---

१. 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' सांख्यदर्शन का यह सूत्र बोधिचर्यावतारपंजिका में उद्धृत देखा जाता है। वह पुस्तक ईसवी दसवीं शताब्दी से पहिले, शायद बहुत पहले, रची गई थी, क्योंकि नैपाल में जिस पोथी के आधार पर वह मुद्रित हुई है वह नैपाली संवत् के १९८ वें साल या ई० सन् १०७७ से भी पुरानी पोथी है।

संप्रदाय के थे। महाभारत के सांख्ययोग-संबंधी कई एक संवादों का यही सारभूत मर्म है। वस्तुत: मोक्षधर्म का सांख्य, तत्वकांड तथा योग, साधनकांड है।

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यःपुरातनः' इत्यादि वाक्यों से जान पड़ता है कि योग का आदिवक्ता हिरण्यगर्भदेव है। हिरण्यगर्भदेव ने किसी स्वाध्यायशील ऋषि को योगविद्या का प्रकाश प्रदान किया था उसी से संसार में योगविद्या का प्रचार हुआ अथवा हिरण्यगर्भ शब्द कपिल ऋषि के लिये भी प्रयुक्त हुआ, यह कह सकते हैं। **'यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिः प्रजापतिम्' 'हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि सुष्टुतः'** (शान्ति पर्व) इत्यादि भारत वाक्यों से जान पड़ता है कि कपिल ऋषि प्रजापति हैं तथा हिरण्यगर्भ नाम से उनकी स्तुति की जाती थी।

और भी कपिल ऋषि के प्रादुर्भाव के विषय में दो प्रकार के मत हैं। एक मत (सांख्य-मत) के आधार पर उन्होंने पूर्वजन्म के उत्तम संस्कारबल से ज्ञानवैराग्यादि-संपन्न होकर जन्म लिया और अपनी प्रतिभा के बल से परम पद को प्राप्त कर संसार में प्रचार किया था। दूसरे मत (योगमत) के अनुसार उन्होंने ईश्वर (सगुण ईश्वर या हिरण्यगर्भ) से ज्ञान प्राप्त किया था। **'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानै विभर्त्ति'** 'इत्यादि श्वेताश्वतर उपनिषद् के वाक्य में यह मत प्रकट हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् प्राचीन योग-संप्रदाय का ग्रन्थ है।

फलत: कपिल के पहिले जैसे आत्मज्ञान का प्रचार था, वैसे योग का भी। कपिल ने निर्गुण पुरुषविद्या तथा कैवल्यप्रापक योग का प्रवर्तन किया। उन्होंने अपने पूर्व-संस्कार से ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न होकर जन्मग्रहण किया था और साधनबल से ईश्वरानुग्रह अथवा आत्मशक्ति के द्वारा परम पद-लाभ करके उसका प्रकाश किया था। उसी से प्रचलित सांख्य-योग का प्रवर्तन हुआ है।

योगसूत्र प्रचलित षड्दर्शनों में सबसे प्राचीन है। उसमें किसी दार्शनिक मत का उल्लेख या खंडन नहीं है। केवल अपने मत के सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिए शंकाओं का समाधान किया गया है। उदाहरणार्थ, **'न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्'** इस सूत्र में जो भी स्वाभाविक शंका उठ सकती है, उसी का निराकरण है। ऐसी शंका दूसरे किसी संप्रदाय का मत नहीं भी हो सकती है। भाष्यकार ने सूत्र के तात्पर्य के द्वारा अनेक स्थानों पर बौद्धमत का परि-हार किया है, किन्तु सूत्रकार ने केवल स्वाभाविक न्यायदोष का ही निराकरण मात्र किया है। कहीं पर भी उन्होंने बौद्धादि मतों का निराकरण नहीं किया। केवल **'न चैकचित्ततंत्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्'** इस सूत्र में बौद्ध मत का (वह बौद्धों का उद्भावित मत नहीं भी हो सकता) आभास पाया जाता है, किन्तु वह सूत्रभाष्य का ही अंग था ऐसा जान पड़ता है। भोजराज ने उसे सूत्ररूप में स्वीकार नहीं किया। अत: बौद्धमत का प्रचार होने के भी पहले पातंजल योगदर्शन रचा गया है, ऐसा अनुमान हो सकता है।

योगभाष्य समस्त प्रचलित दर्शनों के भाष्यों से अधिक प्राचीन है। पर, वह बौद्धमत के प्रचार के बाद रचा गया। उसकी सरल प्राचीन भाषा—प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थ की भाषा की भाँति भाषा—और न्यायादि अन्य दर्शनों के मत का उल्लेख, उसकी प्राचीनता को प्रमा-णित करते हैं। वह व्यास जी द्वारा रचित है। अवश्य ही ये व्यास जी महाभारतकार कृष्ण-द्वैपायन व्यास नहीं हैं। बुद्ध के दो या तीन सौ वर्षों के बाद जो व्यास जी थे उन्हीं के द्वारा

यह रचा गया। अति दीर्घजीवी एक व्यास की कल्पना की अपेक्षा अनेक व्यासों को स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत है। प्रत्येक कल्प में व्यास का आविर्भाव होता है, यह प्रवाद वास्तव में व्यास की अनेकता का द्योतक है। पुराण में यह भी मिलता है कि व्यास उनतीस हुए हैं। न्याय के प्राचीन वात्स्यायन भाष्य में योगभाष्य उद्धृत हुआ है। कनिष्क के समय के भदंत धर्मत्रात आदि ने भी व्यास-भाष्य का उल्लेख किया है। (देखिये शान्तरक्षित का तत्वसंग्रह)।

योगसूत्र तथा योगभाष्य के जैसे विशुद्ध तर्कसम्मत, गंभीर और पूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ संसार में नहीं है। सूत्रकार के न्यायानुसारी लक्षण, युक्तिशृंखला तथा प्रांजलता, सभी अतुलनीय हैं। उनकी गम्भीर और निर्मल मेधाशक्ति की थाह पाना कठिन है। योगभाष्य की भाँति सारवान् विशुद्ध न्यायपूर्ण तथा गंभीर दार्शनिक पुस्तक अन्य नहीं। वह प्राचीन भारत के दार्शनिक गौरव का अवशिष्ट सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

पहिले ही कहा गया है कि सांख्ययोग का प्रचलित ग्रन्थ अपेक्षाकृत आधुनिक होने पर भी सांख्य-योग-विद्या बहुत पुरानी है। जिस प्रकार उसका ज्ञान उच्चतम है, उसका न्याय जिस प्रकार विशुद्धतम तथा अन्धविश्वास के कलंक से पूर्णत: शून्य है, उसी प्रकार उसका शील भी विशुद्धतम है। अहिंसा, सत्यादि की अपेक्षा विशुद्ध शील, और मैत्री करुणादि की अपेक्षा अधिक पवित्र भावना नहीं हो सकती। बौद्ध लोगों ने इस सांख्ययोग का शील भलीभाँति ग्रहण किया है और उसका साधारण जनप्रिय (*Popular*) कहानियों के रूप में प्रचार करने के कारण दुनिया भर में पूजित हो रहे हैं।

बुद्ध ने पहले कालाम गोत्र के अराड़ मुनि से शिक्षा प्राप्त की। बुद्ध-चरितकार अश्वघोष, जिन्होंने पूर्वप्रचलित सुत्तसमूह से अपने महाकाव्य की रचना की थी, इस बात से परिचित थे कि अराड़ मुनि सांख्यमतावलंबी आचार्य थे। उस काल मगध में वे ही प्रसिद्ध सांख्याचार्य थे। अराड़ ने कहा है **'प्रकृतिश्च विकारश्चजन्ममृत्युजरैव च।......तत्रच प्रकृतिर्नाम विद्धिप्रकृतिकोविदः। पंचभूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च।'**इत्यादि। अन्यत्र **'ततो रागाद्भयं दृष्ट्वा वैराग्यं परमं शिवम्। निग्रहन्निन्द्रियग्रामं यततेमनसः श्रमे।'** अन्यत्र **'जैगीषव्योऽपि जनको वृद्धश्चैव पराशरः। इमं पन्थानमासाद्यमुक्ता ह्यन्येच मोक्षिणः।'** निश्चय ही अश्वघोष का सांख्यसंबंधी जिस प्रकार ज्ञान था उन्होंने उसी रूप में तो अराड़ के मुँह से कहलाया है परन्तु पीछे बुद्ध के मुँह से शुद्ध बौद्धमत कहलाया है। (ईसवी से पहले) प्राचीन बौद्धलोग दूसरों के मत बहुत कम जानते थे अथवा बहुत कम जानने की चेष्टा करते थे। बुद्ध के समकालीन सम्प्रदाय आजीवक आदि का मत पालि में कतिपय वाक्यों में ही निहित है। वही सब ग्रन्थों में उद्धृत देखा जाता है और वह अतीव अस्पष्ट है। अत: अराड़ तथा गौतम का वार्तालाप कवि के काव्य में है उसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। किन्तु, उससे यही तथ्य जाना जाता है कि अश्वघोष के समय में तथा उनके बहुत पूर्व यह प्रसिद्ध था कि अराड़ मुनि सांख्य मतावलम्बी थे। कोवेल (*Cowell*) का विचार है कि अराड़ एक प्रकार से सांख्यमत के आचार्य थे। यथार्थ में अश्वघोष ही सांख्यमत को इस प्रकार के कुछ विकृतरूप में समझते थे। वह अश्वघोष की ही बात थी, अराड़ की नहीं। अश्वघोष के काव्यानुसार अराड़ से बुद्ध की शिक्षा आधे दिन में ही सम्पन्न हुई थी। परन्तु पालिभाषा में बुद्ध की जीवनी से ज्ञात होता है कि वे छः वर्षों तक शिक्षा-ग्रहण करने के बाद साधन के लिए

उरुविल्व को गये। अराड़ के पास शिक्षा-ग्रहण करके विशेष शिक्षा के लिए वे रुद्रक रायपुत्र के निकट गये और वहाँ शिक्षा की समाप्ति करके साधन में प्रवृत्त हुए थे।

सांख्य का साधन योग वा समाधि है तथा बुद्ध ने भी आसन प्राणायाम आदि के साथ समाधि-साधना की थी। अतः रुद्रक योगाचार्य थे। काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास को दमन करके ध्यान-मग्न होना सांख्ययोग का साधन है। बुद्ध ने भी ठीक ऐसा ही किया था। मारविजय का अर्थ ही काम, क्रोध तथा भय को जीत लेना है। मार लोभ, भय और त्रास दिखाकर उन्हें चंचल नहीं कर सकता और सात दिन तक निराहार से निरोध समापत्ति में रहने का अर्थ श्वास तथा निद्रा को जीतना है। बौद्ध लोग तथा कुछ आधुनिक व्यक्ति भी कहते हैं कि बुद्ध ने योग का कठोर आचरण करने पर भी उससे कुछ फल होता न देखकर मध्यमार्ग का अवलंबन किया था। यह सम्पूर्ण भ्रान्ति है। सांख्ययोग में व्यर्थ की कठोर साधना निषिद्ध है। श्रुति भी कहती है **'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणायन्तिनाविद्वांसस्तपस्विनः।'** अर्थात् अविद्वान या ब्रह्मविद्या से वर्जित, केवल कायिक तपस्या करने वाले वहाँ नहीं जा सकते हैं। योगभाष्य में भी है **'चित्तप्रसादनमबाधमानमनेन आसेव्यमिति'** (२। द्रष्टव्य) परन्तु बौद्धों के प्रधान सूत्र में है **'लोहिते सुससमानम् हि पित्तं सेम्हञ्च सुस्सति। मंसेसु खीयमानेसु भीय्यो चित्तं पसीदति। भीय्यो सति च पञ्ञा समाधिचुपतिट्ठति।'** अर्थात् साधन श्रम से खून सूख जाने पर पित्त तथा स्नेह सूख जाते हैं। उसके उपरान्त मांस के क्षीण होने पर चित्त सम्यक् प्रसन्न होता है और भलीभाँति स्मृति, प्रज्ञा तथा समाधि उपस्थित होती हैं। इसमें कठिन तपस्या ही की बात कही गयी है। भोजन-लोलुप, वीर्यहीन, परवर्ती बौद्ध लोग ही सुख का मार्ग ग्रहण करने में तत्पर थे।

जैनों के सर्वप्रामाण्य कल्पसूत्र ग्रन्थ में एवं अन्यान्य प्राचीन सूत्रों में भी "षष्टितन्त्र" का उल्लेख है। बुद्ध के समसामयिक महावीर (पालि के निगण्ठ नाटपुत्त) इन सब विद्याओं में पारंगत थे, यथा, **'रिउव्वेय जजुव्वेय सामव्वेय अहव्वणव्वेय इतिहास पंचमाणं निघण्टु छट्ठाण सठठितंत विसारए संखाणे सिक्खा कप्पे वागरणे छन्दे निरुत्ते जोइसामयणे'** अर्थात् 'महावीर ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम तथा अथर्ववेद, इतिहास, निघण्टु, षष्टितन्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त ज्योतिष इन सब विद्याओं में व्युत्पन्न होंगे।' इसमें देखा जाता है कि षडंग वेद तथा सांख्य शास्त्र में व्युत्पन्न होने की बात है; न्याय वेदान्तादि अन्य शास्त्रों का उल्लेख नहीं है। यह बात जैनों में भी प्रख्यात थी, पाठक ध्यान दें। जैनों के योग के भी प्रधान साधन पाँच यम हैं। चाणक्य के समय में भी सांख्य, योग और लोकायत यह तीनों ही आन्वीक्षिकी या न्यायोपजीवी दर्शन थे, न्याय वैशेषिक आदि नहीं थे, यथा कौटिल्य अर्थ-शास्त्र (१।२) में है **'सांख्य योगोलोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी।'** सांख्य के प्राचीनत्व के सम्बन्ध में इस प्रकार की चिरंतन प्रख्याति रहने पर भी कोई कोई आधुनिक व्यवसायी सांख्य की प्राचीनता के विषय में संशय करते हैं। यह सर्वथा निस्सार है। **'सांख्यं विशालं परमं पुराणम्'** (महाभारत) इस विषय में संशय करने का कोई भी कारण नहीं रह सकता।

बुद्ध के समय में अराड़ तथा रुद्रक सम्प्रदाय के श्रमण अवश्य ही थे, विरोधी संप्रदाय होने से उनका उल्लेख निश्चय मिलना चाहिये था किन्तु प्राचीन सूत्र में निर्ग्रन्थ, आजीवक, पुराणकाश्यप प्रभृति छः सम्प्रदायों की बात ही है। पर ब्रह्मजाल सूत्र में जो बुद्ध से कम

से कम सौ वर्ष के पश्चात रचित हुआ है (कारण उसमें लोकधातु कम्पन प्रभृति काल्पनिक बातें हैं) जिन शाश्वतवादों का उल्लेख है उनमें से एक सांख्य को लक्ष्य करता है,यथा "जो तर्क युक्ति से आत्मा को शाश्वत कहते हैं" इत्यादि वाद का सांख्य होना अधिक सम्भव है । इस समय के बौद्धगण बुद्ध के मौलिकत्व की स्थापना करने के लिए सचेष्ट थे ।

फलत: महर्षि कपिल प्रवर्त्तित ज्ञान और शील के द्वारा आज तक पृथ्वी के जितने मनुष्य आलोकित तथा साधुशील हुए हैं, उतने और किसी धर्म-प्रवर्तक के द्वारा नहीं हुए । सांख्य के सत्व, रज और तम से वैद्यकशास्त्र भी भारतवर्ष में उद्भूत हुआ है । महाभारत में है **'शीतोष्णे चब वायुश्च गुणा राजन् शरीरजाः।। तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्यलक्षणम् ।। उष्णेन वाध्यते शीतं शीतेनोष्णंच वाघ्यते । सत्वं रजस्तमश्चेति त्रय आत्मगुणाः स्मृताः ।।'** सत्व,रज और तम इन तीन गुणों से शरीर के वात, पित्त और कफ आविष्कृत हुए और इस प्रकार वैद्यक विद्या प्रवर्त्तित हुई एवं प्राच्य तथा पाश्चात्य देश में व्याप्त हुई । अतएव सांख्य से जगत जिस प्रकार धर्म विषय में ऋणी है उसी प्रकार वाह्य विषयों में भी ऋणी है । (३।२६योगसूत्र की टीका द्रष्टव्य है)

सांख्ययोग से अन्यान्य मोक्षदर्शन उद्भूत हुए हैं । उनमें से अनार्ष दर्शनों में बौद्ध दर्शन प्रधान तथा प्राचीन है, और आर्ष दर्शनों में आन्वीक्षिकी या न्याय प्राचीन है, किन्तु वेदान्त प्रधान है । बौद्ध दर्शन के विषयों की ग्रन्थ में अनेक स्थलोंपर विवृत्ति हुई हैं । वेदांत के विषय भी स्वतंत्र प्रकरण में दिखलाये गये हैं । तर्कदर्शन (अर्थात् न्याय तथा वैशेषिक) मोक्षदर्शन होने पर भी कभी मुमुक्षु सम्प्रदायों ने भी उनका अवलंबन ग्रहण किया था, ऐसा प्रकट नहीं होता । उन दोनों के मत में योग ही मोक्ष का साधन है, और साधनलभ्य तत्वज्ञान मोक्ष का उपाय है । उनके मत में तत्व के लक्षण यह हैं, **'सतः सद्भावः असतश्च असद्भावः** (वात्सायन भाष्य:) । न्यायमत के अनुसार षोड़श पदार्थों के द्वारा अन्तर्वाह्य सब समझ लेना ही तत्वज्ञान है, किन्तु सूक्ष्म तत्वज्ञान में योग की अपेक्षा रहती है । वैशेषिक के अनुसार छः पदार्थों के द्वारा तत्व समझा जाता है । न्याय की अपेक्षा वैशेषिकों की युक्ति-प्रणाली अधिक विशुद्ध है ।

इसके अनन्तर हम सबके सांख्य दर्शन के साथ अन्यान्य दर्शनों का सम्बन्ध दिखाकर इस संक्षिप्त विवरण का उपसंहार करेंगे । सांख्य के मूल मत यह हैं:—

(१) त्रिविध दुःखों की निवृत्ति मोक्ष है । (२) मोक्षावस्था में हमारे अन्तर्वर्त्ती जो निर्गुण अविकारी पुरुष नामक तत्व है, उसमें स्थिति होती है । (३) मोक्ष में चित्त निरुद्ध होता है । (४) चित्त निरोध का उपाय समाधिजन्यप्रज्ञा तथा वैराग्य है । (५) समाधि के उपाय यमादि शील और ध्यानादि साधन हैं । (६) मोक्ष होने से जन्म-परम्परा की निवृत्ति होती है । (७) जन्म-परम्परा अनादि है वह अनादि कर्म से होती है । प्रकृति एवं बहु पुरुष उसके मूल उपादान और हेतु हैं । (६) पुरुष तथा प्रकृति असृष्ट नित्य पदार्थ हैं । (१०) ईश्वर अनादि मुक्त पुरुष विशेष है । (११) उसने जगत की अथवा हमारी सृष्टि नहीं की है । (१२) प्रजापति हिरण्यगर्भ या अन्य ईश्वर ब्रह्मांड के अधीश्वर हैं । वे अक्षर हैं उनके प्रशासन से ही ब्रह्मांड की स्थिति है । ('सांख्य के ईश्वर' प्रकरण द्रष्टव्य है)

उनमें से बौद्धों ने (१), (३), (४), (५), (६), (७) और (११) मत संपूर्ण लिए हैं और (२) दूसरा मत आंशिक रूप से ग्रहण किया है और उन्होंने पुरुष के परिवर्त्तन में कतिपय पुरुष के लक्षण-सम्पन्न 'शून्य' नामक अविकारी एवं गुणशून्य पदार्थ लिया है।

महायान बौद्ध आदि-बुद्ध नामक जिस ईश्वर को स्वीकार करते हैं,वह सांख्य के अनादि, मुक्त ईश्वर के तुल्य पदार्थ है। महायान और हीनयान दोनों प्रकार के बौद्धगण प्रजापति ब्रह्मा को तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उनकी अधीश्वरता को उतना स्वीकार नहीं करते।

वेदान्तियों ने उसका प्राय: सभी ग्रहण किया है, केवल पुरुष और ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न मत लिये हैं। उनके मत में पुरुष तथा ईश्वर वस्तुत: एक ही पदार्थ हैं, और पुरुष अनेक नहीं हैं और ईश्वर सृष्टि करते हैं, हिरण्यगर्भादि के रूप में। प्रकृति को ईश्वर की माया व इच्छा कहते हैं, वह अनिर्वचनीय भाव से ईश्वर में रहती है। ईश्वर ने ही अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा अनादिकाल से अपने अंश द्वारा जीव की सृष्टि की है। उपर्युक्त विषयों में सांख्य से वैदान्तिक भिन्न हैं।

तार्किकों ने प्राय: वे सभी मत ग्रहण किये हैं। पर वे अपने सोलह वा छ: पदार्थों के अन्तर्गत करके उन्हें समझना चाहते हैं। वे निर्गुण पुरुष का रहस्य उतना नहीं समझते अतएव आत्मा को सगुण मानते हैं। तर्क-दार्शनिक भी सांख्य के समान पूर्णत: युक्तिवादी हैं। बौद्ध-वैदान्तिक आदि मूलत: अन्धविश्वासवादी हैं।

वैष्णव दार्शनिक भी—विशेषत: विशिष्टाद्वैतवादी—प्राय: वह सभी ग्रहण करते हैं। सांख्य के समान उनके मत में भी जीव तथा ईश्वर पृथक् पृथक् पुरुष हैं, अधिक से अधिक दोनों के बीच नित्य स्वामी-सेवक का सम्बन्ध है। जीव तथा ईश्वर नित्य हैं, अत: जीव उनके मत में असृष्ट है। पर सांख्य-सम्मत जन्य-ईश्वर के समान उनका ईश्वर विश्व का रचयिता है। सांख्य के सदृश उनके मत में भी योग के द्वारा ईश्वरवत् हुआ जा सकता है। केवल सम्पूर्ण ईश्वरत्व प्राप्त नहीं होता। मुक्त ईश्वर स्वीय प्रकृति वा माया के द्वारा सृष्टि करते हैं, यह मत वेदांत के पक्ष में है किन्तु सांख्य के प्रतिकूल है।

सर्वमूल सांख्य-योग का प्रश्रय ग्रहण करके कालक्रम से इस प्रकार के भिन्न-भिन्न मोक्षदर्शन उत्पन्न हुए हैं। मौलिक विषय में सब सांख्य मतका ही आश्रय ग्रहण किये रहने पर भी अवान्तर विषयों में उन्होंने अनेक भिन्न दृष्टियों का अवलम्बन किया है।

भारत में जब ऋषियुग में धर्मयुग था, तब मनीषी ऋषि-वृन्द सांख्ययोगमत के द्वारा तत्वदर्शन करते थे। उस समय मोक्षविषय में कुसंस्कार-रूप आवर्जना उत्पन्न नहीं हुई थी। उस समय के मुमुक्षु ऋषिगण विशुद्ध न्यायसंगत ज्ञान और विशुद्धशील का अवलम्बन करते थे। कालक्रम से सांख्ययोग तथा भारतीय लोकसमाज के बदल जाने पर बुद्ध ने उत्पन्न होकर पुन: मोक्षधर्म में बल का संचार किया। बुद्ध की महानुभावता के द्वारा सांख्य-योग तथा मोक्षधर्म अधिक परिमाण से जन-साधारण में प्रचारयोग्य हुआ। बौद्ध धर्मावलम्बियों के भी कालक्रम से विकृत होने पर आचार्य-प्रवर शंकर ने आकर मोक्षधर्म की क्षीण देह को पुन: बल-प्रदान किया।

शंकराचार्य के उपरान्त भारत क्रमशः अधःपतन की चरम सीमा में पहुँचा। अधःपतित अज्ञानाच्छन्न तथा हीनवीर्य भारत के अन्धविश्वास-मूलक युक्तिहीन मोक्षधर्म-विरोधी मतसमूहों को ही उपयोगी बताकर उनका प्रचार किया गया। स्वपक्ष-समर्थन के लिए यह कहा जाता है कि कलियुग में उस प्रकार का धर्म ही जीवन का उद्धार कर सकता है।

सांख्ययोग वा प्रकृत मोक्षधर्म को मानव समाज के अति अल्प-संख्यक मनुष्य ही ग्रहण कर सकते हैं। बुद्ध देव ने भी कहा है **'अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः। इतरा तु प्रजा चाथ तीरमेवानुगच्छति ।।"** सांख्ययोगी होने के लिये परमार्थोन्मुखी बुद्धि सम्यक् न्याय-कुशल मेधा और विशुद्धचरित्र परमावश्यक हैं। इन सबका एक साथ मिलना दुर्लभ है।

जैसे समुद्र सुदूर होने पर भी उसका वाष्प महादेश के अभ्यन्तर को सरस करके प्रजा को संजीवित रखता है, उसी प्रकार सांख्ययोग साधारण मनुष्यों के अगम्य होते हुए भी, उसकी स्निग्ध छाया ने मानव के धर्म-जीवन को संजीवित कर रक्खा है। साधारण-जन सत्य तथा न्याय के साथ बहुत कम सम्बन्ध रखते हैं। सत्य की अति अस्पष्ट छाया में अत्यधिक मिथ्या कल्पनाओं को मिश्रित कर देने पर उनके हृदय उसकी ओर कुछ आकृष्ट होते हैं। यदि कहा जाय, **'सत्यं ब्रूयात्'** तो किसी के हृदय में नहीं बैठेगा, किन्तु यदि कल्पना मिलाकर कहा जाय **'अश्वमेध सहस्रंच सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ।।'** तब अनेकों के हृदय आकृष्ट होंगे। वस्तुतः साधारण मनुष्यों में, वे किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों, जो धर्मज्ञान है वह पन्द्रह आना मिथ्या कल्पनाओं से मिश्रित सत्य है। हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुसलमानादि धर्म के सम्बन्ध में जो कल्पना करते हैं, उसका यदि एकतम मत सत्य हो तब अन्य सब मिथ्या होगें। इससे ही समझा जायेगा, कि संसार में कितने मनुष्य भ्रान्त हैं। फलतः "ईश्वर तथा परलोक है एवं सत्यादि सत्कर्मों का फल अच्छा होता है" इन दोनों सत्यों की नींव के ऊपर प्रभूत मिथ्या कल्पनाओं के महल निर्माण करके जनता तृप्त है।

" ईश्वर ने हमारा सृजन किया है " इत्यादि ईश्वरसम्बन्धी अनेकानेक प्रमाणशून्य अन्धविश्वासमूलक कल्पनाओं में जनता भूली रहती है। परलोक के संबंध में भी नाना सम्प्रदायों की विभिन्न कल्पनायें हैं। इसके उदाहरणस्वरूप बौद्धधर्म का इतिहास देखना चाहिये। बुद्ध का निर्वाण धर्म भी जन-साधारण में असंख्य काल्पनिक कहानियों में ही फैला, जिनमें एक आना सत्य तो पन्द्रह आना मिथ्या थीं। साधारण बौद्धों का प्रमुख धर्मज्ञान इन्हीं में सीमित था। हमारे अप्राचीन पौराणिक महाशयों ने भी उसी प्रकार से धर्म का प्रचार किया है। परन्तु बुद्ध के प्रभाव से सामान्य बौद्ध निर्वाण धर्म की श्रेष्ठता को एक स्वर से स्वीकार करते हैं, किन्तु सामान्य हिन्दू उसे भी स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं।

फलतः बुद्ध ईसा आदि महापुरुषगण यदि लौट आवें तो जगत में अपना धर्ममत ढूँढकर भी नहीं पायेंगे, पाने पर भी चकित होकर देखेंगे कि उनके कट्टर भक्तों ने उनके नाम का किस प्रकार से दुरुपयोग किया है।

जो कुछ भी हो, सांख्ययोग जिस प्रकार विशुद्ध, न्याय एवं मिथ्या-कल्पना-शून्य तथा अन्धविश्वासहीन आन्वीक्षिकी की प्रणाली में है, सर्वसाधारण में अधिक प्रचार योग्य नहीं हो पाता है। बुद्ध अथवा बौद्धों तथा पौराणिकों के द्वारा वह सर्वसाधारण में प्रचारित हुआ था, किन्तु उसका क्या परिणाम हुआ, यह बताया जा चुका है । मनुष्यों का चित्त स्वभावत: ऐसा कल्पना-विलासी है कि विशुद्ध न्याय की अपेक्षा अविशुद्ध कल्पना-मिश्रित न्याय ही उनको कर्मों में (सत् या असत् में) अधिकतर प्रेरित करता है। यदि विशुद्ध सत्य धर्म कहा जाय तो प्राय: कोई भी उसे बढ़कर ग्रहण करने को प्रोत्साहित न होगा। किंतु यदि सत्य के साथ अनेक कल्पनायें और अत्युक्तियाँ मिला दी जायें तो उसे सुनने के लिए लोग उमड़ पड़ेंगे।

उपसंहार में वक्तव्य है कि जिनकी ऐसी बुद्धि है कि मोक्षधर्म के आमूल ग्रहण करने में कहीं पर भी अन्धविश्वास की सहायता नहीं लेनी पड़ती है, तथा जिनकी मेधा ऐसी न्यायनिष्ठ है कि न्यायानुसार जो सिद्ध होगा उसी में निश्चित मति होकर कर्त्तव्यमार्ग पर बढ़ने को तैयार होते हैं तथा कर्त्तव्यमार्ग में चलने के लिये जिन्हें भय, लोभ अथवा अन्ध-विश्वास से प्रयोजन नहीं होता, जिनके हृदय, स्वभाव से ही अहिंसा, सत्य आदि विशुद्धशील के पक्षपाती हैं, वे ही सांख्ययोग के अधिकारी हैं।

इसके उपरांत इस दर्शन की दृष्टि से योग क्या है और क्या नहीं है, यह संक्षेप में कहा जाता है। अभ्यास और वैराग्यपूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध करना ही प्रकृत, मोक्ष-प्रापक योग है। चित्तवृत्ति-निरोध का अर्थ है कि मन में एकमात्र ज्ञान को उदित रखकर अन्य सभी का निरोध (सम्प्रज्ञात) अथवा सर्व व्यवहारिक ज्ञानों का (निद्राज्ञान का भी) निरोध करना (असम्प्रज्ञात), अभ्यास का अर्थ है पुन: पुन: चेष्टा करना । अतएव बार बार चेष्टा वा इच्छापूर्वक जो चित्तवृत्ति-निरोध है वही योग कहलाता है । चेष्टा न करके अथवा स्वत: वा इच्छा के आधीन रूप में यदि कदाचित् चित्त का स्तब्धभाव हो भी जाय तो उसको योग नहीं कहा जा सकता। देखा भी जाता है कि किसी किसी मनुष्य के चित्त में अकस्मात् स्तब्धभाव आ जाता है । वे अनुभव करते हैं कि 'उस समय मुझे कोई और ज्ञान नहीं था' इस प्रकार शारीरिक लक्षणों (यथा सिर झुक जाना, अथवा सीधे बैठे रहने पर भी कुछ निद्रित के से श्वास, प्रश्वास चलना प्रभृति) से स्पष्ट होता है कि वह निद्रा की भाँति अवस्था में है। अत: उक्त लक्षणों से वह योग नहीं माना जा सकता, इसके अतिरिक्त मूर्च्छा, हिस्टिरिया प्रभृति में भी उस प्रकार का स्तब्धभाव होता है। फिर किसी किसी की स्वाभाविक रूप से थोड़े बहुत दिनों तक रक्त-संचार को रोक रखने एवं निराहार रहने की शक्ति रहती है। वह भी योग नहीं है । आसन मुद्रादि के द्वारा प्राणों को प्रकार-विशेष से थोड़े बहुत दिनों तक रुद्ध कर रखना भी प्रकृत योग नहीं है, क्योंकि उस प्रकार के व्यक्तियों में किसी एकमात्र अभीष्ट विषय में स्वेच्छापूर्वक चित्तस्थिर कर सकने की सामर्थ्य नहीं दिखाई देती है।

एकमात्र ज्ञान को रखकर अन्य अनुभवों को रुद्ध करना योग का तारतम्य है। जब एकतान भाव से कुछ काल तक एक ही ज्ञानवृत्ति स्थिर रक्खी जाती है तब उसे ध्यानरूप योगांग कहते हैं और जब वही एकतानता इतनी प्रगाढ़ होती है कि और सब भूलकर, यहाँ

तक कि अपने को भी भूलकर, केवल ध्येय विषय में चित्त को स्थिर रक्खा जाता है तब स्वेच्छाधीन तादृश स्थैर्य को समाधि कहते हैं। समाधि के यह लक्षण सम्यक्रूप से समझना चाहिये। अज्ञ लोग अनेक प्रकार के स्तब्ध भाव को वा आविष्टभाव को अथवा बाह्यज्ञान-शून्य भाव को अथवा उसी प्रकार के अन्य किसी भाव को जो समाधि समझ बैठते हैं, उसका योग से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

विषयभेद से समाधि भी अनेक प्रकार की है,यथा, रूपरसादि-ग्राह्य विषयक समाधि, अहंकारादि-ग्रहण विषयक समाधि, अहमत्वमात्रग्रहीतृ विषयक समाधि। इन सब का नाम सबीज समाधि है। सबीज समाधि का सर्वोच्चभाव अस्मितामात्र में वा अहमत्वमात्र में समाहित होना है। अवश्य प्रथमतः, ध्येय विषय की धारणा का अभ्यास करना पड़ता है, अनन्तर वह ध्यान में परिणत होकर उसी का ध्यानाभ्यास करते करते जब ध्यान प्रगाढ़तम होता है तभी उस विषय में समाधि होती है, यथा अहमत्वमात्र में समाधि करने के लिए सर्वप्रथम विचार के तथा मानसिक प्रक्रिया-विशेष के द्वारा अहमत्व की धारणा करनी पड़ती है, तदनन्तर उसे एक तान करके ध्यान करना पड़ता है, तत्पश्चात् उसके प्रगाढ़ होने पर अहमत्वबोध मात्र में समाहित हुआ जा सकता है। तब केवल अहमत्वरूप बोधमात्र ही निर्भासित रहता है, शरीरादि की कठिनतम पीड़ा से भी योगी विचलित नहीं होते। (**यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते—गीता**)। अवश्य यह दीर्घकाल तक निरन्तर, यथार्थ ज्ञान पूर्वक एवं श्रद्धापूर्वक अभ्यास सापेक्ष है, एवं बाह्य समस्त विषयों में वैराग्य न होने से यह-साध्य नहीं होती। समाधि की शक्ति चित्त में आविर्भूत होने से ग्राह्य, ग्रहण, तथा ग्रहीता इनमें से किसी विषय में समाहित हुआ जाता है। किन्तु अभ्यास के समय साधकगण, जिस से शीघ्र आनन्द लाभ हो, ऐसे विषय लेकर ही ध्यान करने के लिए विज्ञ उपदेष्टा के द्वारा आदिष्ट होते हैं, कारण शब्दरूपादि ग्राह्य विषयों का ध्यान करके शीघ्र आनन्दलाभ नहीं होता एवं सूक्ष्म ग्रहीता आदिविषयों की उपलब्धि भी दूर हो पड़ती है।

साधन करते करते अथवा किसी किसी को आप ही आप अल्पाधिक आनन्द लाभ होता है (कवि टेनिसन को भी होता था) अथवा 'मैं व्यापी हूँ' इत्यादि अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। साधकों को साधन के फलस्वरूप उस प्रकार की कुछ अनुभूति होने से उसे लेकर धारणा की जा सकती है एवं दीर्घकाल में वह ध्यान में परिणत हो सकता है, और जिनकी आप ही वैसी कोई अनुभूति कदाचित आ जाती है, इच्छापूर्वक नहीं ला सकते उनका कोई विशेष फल नहीं होता। वैसा भाव आने से ही हम उसे धारणा ध्यान, समाधि की अवस्थायें नहीं कह सकते, कारण कि ऐसी दशा में उस प्रकृति के भीतर आनन्द, व्यापित्व आदि भाव आने पर भी चित्त में वृत्तिप्रवाह चलता रहता है और एकवृत्तिता नहीं आ पाती, अतएव वह योग के लक्षण में नहीं पड़ता। वह अनुभूति-विशेष हो सकती है एवं उस अनुभूति के धारणा से संयुक्त होने पर ही योगाभ्यास हो सकता है।

समाधि सिद्ध होने से ज्ञान और इच्छाशक्ति का सम्यक् उत्कर्ष होता है। जिसमें वह नहीं है उसकी समाधि सिद्धि भी नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। विचार हो सकता है कि कोई समाधिसिद्ध योगी यदि ज्ञान की अथवा शक्ति प्रयोग की इच्छा न करे तो उनकी ज्ञान-शक्ति का प्रत्यक्ष न होने पर भी उन्हें समाधिसिद्ध कहा जा सकता है, यह सत्य है किन्तु ज्ञान तथा शक्ति को बहुस्थलों में प्रयोग करने का प्रयत्न करके भी जो अकृतकार्य हो रहे हैं

और फिर भी अपने को समाधिसिद्ध कहते हैं यह उनका मिथ्या अथवा भ्रान्त कथन ही समझना चाहिये।

योग का फल है त्रिविध दुख की निवृत्ति। सम्यक् रूप से चित्त स्थिर करके बाह्याभिमान, शरीर अभिमान, और इन्द्रियाभिमान के ऊपर इच्छामात्र से ही उठने की शक्ति होने पर दुख-मुक्त हुआ जा सकता है। अत: उस प्रकार से चित्त को स्थिर करके सूक्ष्मतम विषयों में न जा सकने से एवं 'मात्रास्पर्श' (इन्द्रियाभिमान) के त्याग किये बिना दुखा:-तीत अवस्था में नहीं जाया जा सकता है। अतएव जो इच्छामात्र से उस प्रकार की अवस्था में नहीं जा सकते, परन्तु अपने को जीवनमुक्तादि कहते हैं, उनका कहना मिथ्या अथवा भ्रान्त है। हिस्टिरिया आदि प्रकृतिवालों को भी कभी कभी स्पर्शबोध नहीं रहता, किन्तु वह योग का लक्षण नहीं है यह पहिले ही कहा गया है।

प्रकृत योग दो प्रकार के हैं, सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात। पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार समाधि-सिद्ध न होने से सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात कोई भी योग नहीं हो सकता। सम्प्रज्ञात योग के लिए चित्त की एकाग्र भूमिका आवश्यक है। ईश्वर-प्रणिधान, सर्वदा ग्रहीता आदि का ध्यान, विशोका प्रभृति का ध्यान करके जब अनायास ही चित्त एक विषय में स्थिर रक्खा जा सकता है, और अन्यभाव नहीं आते तब उस प्रकार की चित्तावस्था को एकाग्रभूमिका कहते हैं। विक्षिप्त भूमिका में कभी कभी चित्त स्थिर होने पर भी अन्य समय विवश होकर मन कार्य करता है, अतएव उस प्रकार की विक्षिप्तभूमि में सामयिक समाधि कर सकने से भी स्थायी चित्त-शान्ति नहीं होती, इस कारण एकाग्र-भूमिका की आवश्यकता है। एकाग्रभूमिक चित्त में यदि समाधि हो और उस समाधि के द्वारा पूर्ण प्रज्ञा हो, तब वह प्रज्ञा चित्त में सर्वदा स्थायी रूप से रह सकेगी। इस अवस्था को समापत्ति कहते हैं। इस प्रकार से समापन्न होने की शक्ति-लाभ करने के पश्चात् सर्वोच्च व्यावहारिक आत्मभाव-ग्रहीता या महान आत्मा की उपलब्धि करके उसमें समापन्न हुआ जाय तब व्यावहारिक जगत की सर्वोच्च अवस्था में पहुँचा जा सकता है। तत्पश्चात् विवेकज्ञानपूर्वक परवैराग्यबल से जब उस भाव को भी रुद्ध किया जाता है तब चित्तेन्द्रिय की सम्यक् शान्ति होती है और केवल परम पुरुषत्व भाव रह जाता है। वही योग का परम फल, शाश्वती शान्ति वा कैवल्यमोक्ष है।

चित्त की सात्विक, राजस और तामस, त्रिविध अवस्थायें हो सकती हैं। राजस-चंचलता घटने से ही सात्विक स्थिति नहीं आ जाती, तामस अवस्था भी हो सकती है। स्तब्धता उसी प्रकार की चांचल्यहीन, किन्तु तामस अवस्था है। केवल वृत्तिरोध ही योग नहीं है, कथित ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीता आदि किसी तत्व में इच्छापूर्वक स्थिति करके जो वृत्तियों का रोध होता है, वही योग है। स्तब्धता में चित्त इच्छापूर्वक किसी तत्व में स्थित नहीं होता। क्लोरोफार्म आदि के फल से भी चित्त की गति रुद्ध होती है, किन्तु उसको लोग अज्ञान अवस्था ही कहते हैं। हिस्टिरिया स्तब्धभाव आदि मानस रोग-विशेष भी उसी प्रकार के हैं। यह सब विवश और जड़ अवस्थायें हैं, परन्तु योग, स्ववश तथा पूर्ण चेतन अवस्था है। बाह्यदृष्टि से दोनों में कुछ सादृश्य रहने के कारण लोग विभ्रान्त होते हैं, किन्तु दोनों की चित्तावस्था तथा परिणाम अन्धकार और आलोक की भाँति विभिन्न तथा विपरीत हैं।

ओ३म नमः परमर्षये ॥

अथ पातंजलदर्शनम् ॥

समाधिपादः ।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

भाष्यम् । अथेत्ययमधिकारार्थः । योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् । योगः समाधिः । स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः । क्षिप्तं मूढ़ं विक्षिप्तम् एकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः । तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते । स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात् प्रवेदयिष्यामः । सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः ॥ १ ॥

अथ योग अनुशिष्ट हो रहा है । १ ।

भाष्यानुवाद (१)—'अथ' शब्द अधिकारार्थक है । योगानुशासन रूप शास्त्र (२) आरम्भ हुआ है यह जानना चाहिये (३) योग का अर्थ है समाधि (४), वह चित्त का सार्वभौम धर्म है (अर्थात् चित्त की सभी भूमियों में समाधि हो सकती है) । क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच प्रकार की चित्तभूमिकाएँ हैं । (५) उनमें (६) विक्षिप्त चित्त में उत्पन्न जो समाधि है उसमें सब विक्षेपसंस्कार उपसर्जन या अप्रधान भाव से रहते हैं (७), वह योग के उपयुक्त नहीं होती । (८) किन्तु जो समाधि एकाग्रभूमि चित्त में समुद्भूत होकर सत् स्वरूप अर्थ को (९) प्रकर्ष के साथ प्रकट करती है, अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेशों को क्षीण करती है (१०) कर्मबन्धन को या पूर्वसंस्कार-पाश को ढीला करती है (११) और निरोधावस्था को उपस्थित करती है, उसको सम्प्रज्ञात योग (१२) कहते हैं । यह सम्प्रज्ञात योग वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत होता है । आगे चलकर इसकी व्याख्या भली भाँति की जायगी । समस्त वृत्ति निरुद्ध होने पर जो समाधि उत्पन्न होती है वह असंप्रज्ञात है ।

टीका । १ म सूत्र (१) । यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यं प्रभवति जगतोऽनेकधानुग्रहाय
प्रक्षीण क्लेशराशिर्विषमविषधरोऽनेकवक्त्रः सुभोगी ।
सर्वज्ञानप्रसूतिर्भुजगपरिकरः प्रीतये यस्य नित्यम्
देवोऽहीशः स वोऽव्यात् सितविमलतनुर्योगदो योगयुक्तः ॥

जगत पर अनुग्रह करने के लिये जो अपना आदिरूप त्यागकर बहुधा अवतीर्ण होते हैं, जिनकी अविद्यादि क्लेशराशि प्रकृष्टरूप से क्षीण हैं, जो विषम विषधर, बहुवक्त्र,

सुभोगी और सब ज्ञान के प्रसूतिस्वरूप हैं, जिन्हे भुजंगम सम्पर्क नित्य प्रीति प्रदान करता है, वे श्वेतविमलतनु योगदाता और योगयुक्त अहीश (नागपति) देव तुम्हारा पालन करें ।

यह श्लोक भाष्य के किसी किसी पाठ में मिलता है, किन्तु यह क्षेपक है । वाचस्पति मिश्र ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया है । विज्ञानभिक्षु ने इसकी व्याख्या की है । इसीलिये यह वाचस्पति मिश्र के परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुआ है । यह छन्द भाष्य जैसे किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता ।

(२) शिष्ट का शासन—अनुशासन । इन सब सूत्रों में प्रतिपादित योगविद्या की रचना हिरण्यगर्भ और प्राचीन महर्षियों के उपदेशों पर आश्रित है । यह सूत्रकार की मौलिक उद्भावना नहीं है ।

योग शास्त्र केवल दार्शनिक युक्तिपूर्ण शास्त्र नहीं है । यह अनुभव सिद्ध पुरुषों द्वारा आविष्कृत और उपदिष्ट हुआ है । यह तथ्य इस प्रकार प्रमाणित होता है :—चित्, असम्प्रज्ञात, समाधि इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान इस समय हमें अनुमान द्वारा सिद्ध होता है किन्तु सर्वप्रथम इस प्रकार के अनुमान के लिये अनुमेय की प्रतिज्ञा अथवा प्रमेय-विषय-निर्देश की आवश्यकता होती है कारण अनुमेय का प्राथमिक परिचय न हो तो अनुमान नहीं किया जा सकता है । चितिशक्ति आदि का निर्णय-ज्ञान अस्मदादि (गुरुशिष्यादि) की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली द्वारा हो सकता है किन्तु जो आदिम गुरु हैं, जिन्हें किसी ने भी इसकी शिक्षा नहीं दी, वे इन सब अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान अनुमान द्वारा कैसे कर सकते हैं । अतएव यही मानना ठीक है कि आदि गुरु ने इन सब विषयों का अवश्य ही प्रत्यक्ष अनुभव किया था । इस विषय पर सांख्य का दृष्टान्त हैं **'इतर थां अन्ध परम्परा,'** (३।८१ सू) अर्थात् यदि मुक्ति-शास्त्र जीवन्मुक्त या चरम तत्व के साक्षात्कारी पुरुषों द्वारा उपदिष्ट न हो तो यह अन्ध-परम्परा के समान होगा । अन्धपरम्परागत उपदेश में जिस तरह दृष्टिगोचर कुछ नहीं रह सकता, उसी तरह अप्रत्यक्षदर्शी के उपदेश में कुछ भी प्रत्यक्ष-ज्ञान-साध्य उपदेश नहीं रह सकता । यह कहा जा चुका है कि चित्, मुक्ति इत्यादि विषयों का ज्ञान अतीन्द्रिय होने के कारण शिक्षणीय अथवा साक्षात्करणीय होता है । आदिम गुरु के लिए वह शिक्षणीय नहीं हो सकता, इसलिए आदिम उपदेष्टा का वह प्रत्यक्षानुभूत ज्ञान है ।

जो विषय काल्पनिक अथवा प्रतारणा मात्र नहीं हैं वे अनुमानप्रमाण द्वारा निश्चित होते हैं । आदिम उपदेशकों द्वारा अनुभूत विषयों को प्रमाणित करने के लिये दर्शनशास्त्र बना है । शास्त्र में लिखा है : **'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः । मत्वातु सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ।'** श्रुति वाक्यों से सुनना चाहिये, युक्तियों से मनन करना चाहिये, मनन के बाद निरंतर ध्यान करना चाहिये । ये सब (श्रवण, मनन, ध्यान) दर्शन वा साक्षात्कार के हेतु हैं । इनमें से श्रुति में कहे हुए विषयों के मनन करने के लिये ही सांख्यशास्त्र का आरम्भ हुआ है । सांख्य-प्रवचन-भाष्य के रचयिता विज्ञानभिक्षु ने भी यही कहा है :— **'तस्य श्रुतस्य मननार्थ मथोपदेष्टुम्'** इत्यादि । महाभारत में भी लिखा है कि **'सांख्यं वै मोक्षदर्शनम्'** ।

१—(३) अर्थात् 'अथ' शब्द के द्वारा यही समझाया गया है कि योगानुशासन इस सूत्र द्वारा अधिकृत या आरंभ किया गया है ।

१—(४) योग शब्द के अनेक पारिभाषिक, यौगिक और रूढ़ अर्थ हैं जैसे, जीवात्मा

और परमात्मा की एकता, प्राण और अपान का संयोग, इत्यादि। किन्तु इस शास्त्र के योग का अर्थ समाधि समझना चाहिये। इसका अर्थ द्वितीय सूत्रोक्त लक्षण द्वारा स्पष्ट होगा।

१—(५) चित्त की भूमिका का अर्थ है चित्त की सहज या स्वाभाविक अवस्था। चित्तभूमिकाएँ पाँच प्रकार की हैं। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें जो चित्त स्वभावतः अत्यन्त अस्थिर, अतीन्द्रिय विषयों की विचारणा के लिए जितनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता है उतनी जिस चित्त में नहीं है, और जिस चित्त को सम्पूर्ण तत्त्वों की सत्ता अचिन्त्य प्रतीत होती है, वह चित्त क्षिप्तभूमिक है। प्रबल हिंसा आदि प्रवृत्ति के वश में आकर कभी-कभी समाधि हो सकती है। महाभारत की कथा में जयद्रथ इसका दृष्टान्त है। पाण्डवों से हार कर प्रबल द्वेष के कारण इसका चित्त शिव में समाहित हुआ था ऐसा वर्णन है।

दूसरी भूमि 'मूढ़' है। जो चित्त किसी इन्द्रिय-विषय में मुग्ध होने के कारण तत्त्व-चिन्तन करने के अयोग्य हो जाता है वह मूढ़भूमिक चित्त है। क्षिप्त की अपेक्षा से यह मोहक विषय में सहज ही समाहित (लवलीन) हो जाता है, इसलिये यह द्वितीय है। कामिनी-कांचन के अनुरान से लोग इन विषयों में ध्यान मग्न हो जाते हैं, ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं। यह मूढ़ चित्त में समाहित होने का दृष्टान्त है।

तीसरी भूमि 'विक्षिप्त' है। विक्षिप्त का अर्थ है कि जो क्षिप्त से विशिष्ट हो। अधिकांश साधकों का चित्त विक्षिप्तभूमिक होता है। जिस अवस्था में चित्त कभी-कभी स्थिर हो जाता है और कभी-कभी चंचल हो जाता है वह विक्षिप्त है। क्षणिक स्थिरता के कारण विक्षिप्त-भूमिक चित्त तत्त्वों के श्रवण मनन आदि द्वारा स्वरूप अवधारण करने में समर्थ होता है। मेधा और सद्वृत्तियों की न्यूनता या अधिकता के कारण विक्षिप्त चित्तवाले मनुष्यों के असंख्य भेद हैं। विक्षिप्त चित्त में भी समाधि हो सकती है किन्तु वह सदाकाल स्थायी नहीं होती क्योंकि इस भूमि की प्रकृति कभी स्थिर और कभी अस्थिर होती है।

चतुर्थ 'एकाग्र भूमिका' है। जिस चित्त का अग्र वा अवलम्बन एक है उसे एकाग्र-चित्त कहते हैं। सूत्रकार ने कहा है **'शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः'** (३।१२ सूत्र)। अर्थात् एक वृत्ति निवृत्त होने पर यदि उसके बाद ठीक तदनुरूप वृत्ति उठे और उसी तरह की अनुरूप वृत्तियों का प्रवाह चलता रहे, तो ऐसे चित्त को एकाग्र-चित्त कहते हैं। इस प्रकार की एकाग्रता जब चित्त का स्वभाव हो जाती है, जब दिन रात म अधिकांश समय चित्त एकाग्र रहता है, यहाँ तक कि स्वप्नावस्था में भी एकाग्र स्वप्न होता है ※, तब ऐसे चित्त को एकाग्रभूमिक कहते हैं। एकाग्रभूमिका वशीकृत होने पर संप्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है। यही समाधि वास्तविक अथवा कैवल्य का साधक है। श्रुति कहती है **'यो हैनं पाप्मा माययात्सरति न हैनं सोऽभिभवति'** (शतपथ ब्रा०) अर्थात् अज्ञात या अवश-भाव से जो पाप मन में आते रहते हैं वे भी ऐसे ज्ञानवान् अर्थात् सम्प्रज्ञातवान् को अभिभूत नहीं कर सकते हैं।

※ जागृत अवस्था के संस्कार से स्वप्न होता है। जागृत अवस्था में यदि बहुत समय तक सहज से ही चित्त एकाग्र रहे तो स्वप्न में भी वैसा ही होगा। एकाग्रता का लक्षण है ध्रुवा-स्मृति अथवा सर्वदा आत्म-स्मृति। अतएव स्वप्न में भी आत्मविस्मरण नहीं होता, केवल शारीरिक प्रकृति के कारण इन्द्रियाँ जड़ रहती हैं।

पाँचवीं चित्तभूमि का नाम 'निरुद्ध भूमि' है। यह शेष अवस्था है। निरोध समाधि के (१।१८ सूत्र देखिये) अभ्यास द्वारा जब चित्त का चिरस्थायी निरोध वशीकृत हो जाता है, तब चित्त की उस अवस्था को निरोधभूमि कहते हैं। निरोधभूमि द्वारा चित्त विलीन होने पर कैवल्य होता है। संसार में जितने भी जीव हैं उन सब के चित्त साधारणतः इन पाँच अवस्थाओं में ही रहते हैं। इन में कौन भूमि समाधि के लिये उपादेय और कौन भूमि समाधि के लिए अनुपादेय है, भाष्य कार इसी का विवेचन कर रहे हैं।

१—(६) इनमें = भूमिकाओं में, क्षिप्त-भूमिक और मूढ़-भूमिक चित्त में क्रोध, लोभ, तथा मोह आदि से किसी किसी स्थल पर जो समाधि हो सकती है वह समाधि कवल्य सिद्ध नहीं कराती। विक्षिप्तभूमिक चित्त में भी इसी कारण कैवल्य नहीं होता है।

१—(७) जिस अस्थिर चित्त को समय समय पर समाहित किया जा सकता है उसे विक्षिप्त चित्त कहा गया है। जिस समय स्थिरता का प्रादुर्भाव होता है उस समय अस्थिरता दबी रहती है। पुराणों में अनेक समाहित-चित्त ऋषियों का अप्सराओं द्वारा जो तपोभ्रष्ट होना वर्णित है, वह ऐसे अप्रधान विक्षेप के कारण ही होता है।

१—(८) योग के पक्ष में = कैवल्य के पक्ष में। समाधि टूटने पर विक्षेपों का फिर उदय होता है इसलिये समाधि से प्राप्त प्रज्ञा चित्त में भली भाँति ठहरने नहीं पाती। अतएव जब तक ये सब विक्षेप दूर होकर चित्त में सदा के लिए एकाग्रता नहीं आजाती तब तक वह कैवल्य का साधक नहीं हो पाता है।

१—(९-१२) जिस योग के द्वारा बुद्धि से लेकर भूतपर्यन्त समस्त तत्त्वों का सर्वतोमुखी ज्ञान प्रकर्ष अथवा सूक्ष्मतम भाव में होता है और जिस ज्ञान के पश्चात् तद्विषयक कुछ भी अज्ञात नहीं रहता, वही सम्प्रज्ञात योग है। **एकाग्र भूमि में समाधि होने पर ही संप्रज्ञात योग होता है।** एकाग्रभूमि में चित्त को सहज ही अभीष्ट वस्तु में मनमाने समय तक संलग्न रखा जा सकता है। पदार्थ का जो सत्य ज्ञान है उसे सदा चित्तमें रखना ही मनुष्य मात्र के लिये अभीष्ट है, कारण सत्य ज्ञान को चित्त में स्थिर रख सकने पर कोई भी मिथ्या ज्ञान नहीं चाहता है। विक्षिप्त-भूमि में संयम द्वारा सूक्ष्म-ज्ञान होने पर भी विक्षेप के उदित होने पर वह ठहरता नहीं। इसलिए एकाग्रभूमिक चित्त में ही चिरन्तन समाधिज्ञान हो सकता है। जो ज्ञान चिरस्थायी है (अर्थात् बुद्धि के अवस्थानकाल तक रहने वाला है) और जिसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर ज्ञान कोई दूसरा नहीं हो सकता तथा जो अभिभूत नहीं होता वही चरम सत्य ज्ञान है। उस सत्य ज्ञान का ज्ञेय-विषय सत्स्वरूप विषय है। इसलिए भाष्यकार ने कहा है कि एकाग्र भूमि जात-समाधि से सत्स्वरूप अर्थ प्रकाशित होता है, इस कारण उस समय जिस क्लेश वृत्ति को या कर्म को ज्ञान-वैराग्य के द्वारा त्याग दिया जाता है, उसका त्याग सदा के लिए होता है। इसलिये इस अवस्था म क्लेशों का क्षय भी होता है और कर्मबन्धन भी शिथिल पड़ जाते हैं। सब ज्ञेय वस्तुओं का चरम ज्ञान होने पर परम वैराग्य के द्वारा जब ज्ञानवृत्ति को भी अवलम्बन हीन कर के क्षीण किया जाता है तब उसको निरोध समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात योग में पदार्थ का अन्तिम (सम्पूर्ण) ज्ञान या संप्रज्ञान होता रहता है, इसलिये यह योग निरोधावस्था को सम्मुख उपस्थित कर देता है।

एकाग्र चित्त की समाधि के चार कार्य हैं, सत्स्वरूप अर्थ का प्रकाश, क्लेश-क्षय, कर्म-बन्धन-शैथिल्य और निरोधावस्था की समुपस्थिति। इसकी प्रक्रिया यह है—समाधि द्वारा भूत

का स्वरूप या तन्मात्र ज्ञान होता है। (देखिये सूत्र १।४४)। तन्मात्रमें सुख-दुःख और मोह नहीं है अर्थात् जो योगी तन्मात्र साक्षात् करते हैं वे तन्मात्र (वाह्यजगत्) से सुखी, दुःखी वा मुग्ध नहीं होते। समाधि की अवस्था में विक्षिप्तभूमिकचित्त में इसी प्रकार का ज्ञान होता है, किन्तु जब दवा हुआ विक्षेप फिर उदित होता है तब वह चित्त फिर सुखी, दुःखी और मुग्ध हो जाता है। किन्तु एकाग्रभूमिकचित्त में ऐसा नहीं होता। उसमें समाधिप्रज्ञा दृढ़ हो जाती है। अतः विक्षिप्त भूमि में समाधि-द्वारा पदार्थ का प्रज्ञान तो हो सकता है पर एकाग्र भूमि में संप्रज्ञान या सर्वतोभाव से प्रज्ञान चिरस्थायी होता है। कलश आदि के विषय में भी ठीक इसी तरह समझना चाहिये। मान लो किसी को धन के विषय में अनुराग या आसक्ति है, यदि उसी विषय के विराग-भाव में चित्त की समाधि हो जाय तो उतने समय के लिये हृदय से वह राग हट सा जाता है, परन्तु चित्त एकाग्रभूमिक होने पर वह वैराग्य चित्त में भली-भाँति बैठ जाता है। राग आदि के क्षय होने पर उनसे पैदा होने वाले कर्म भी एक-एक कर के सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार से निरोधावस्था आ जाती है।

यह ध्यान रहे कि संप्रज्ञात योग शुद्ध समाधि नहीं है। समाधि-प्रज्ञा के चित्त में भली-भाँति स्थिर होने को ही सम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

भाष्यम्—तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रम्प्रववृते—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील-त्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसानुविद्धमधर्म्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योत मानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत् परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सत्वगुणात्मिका चेय-मतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपिख्यातिं निरुणद्धि, तद-वस्थं संस्कारोपगं भवति, स निर्बीजः समाधिः, न तत्र किंचित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद—पूर्वोक्त द्विविध योग का लक्षण कहने की इच्छा से यह सूत्र रचा गया है :—

२—चित्त वृत्ति के विरोध का नाम योग है (१) ॥

सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण न करने से (अर्थात् "सर्व चित्त वृत्तियों का निरोध योग है" ऐसा न कह कर केवल "चित्तवृत्ति का निरोध योग है" इस प्रकार कहने से) संप्रज्ञात को भी योग कहा है। प्रख्या या प्रकाशशीलत्व, प्रवृत्तिशीलत्व और स्थितिशीलत्व इन तीन स्वभावों के कारण चित्त सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के फलस्वरूप

त्रिगुणात्मक है । प्रख्यारूप चित्त से यदि रजस् और तमोगुण का संसर्ग रहे तो उसे ऐश्वर्य और विषयादि प्रिय लगते हैं । वही चित्त यदि केवल तमोगुण के साथ ही संलग्न हो तो उसकी प्रवृत्ति अधर्म, अज्ञान, आसक्ति और अनैश्वर्य में होती है । चित्त का मोह रूप आवरण पूर्णतया हट जाने पर ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य, इन तीन विषयों की पूर्ण प्रज्ञा उदित होती है । और इस अवस्था में रजोगुण द्वारा कुछ अभिभूत होने पर चित्त में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है । जब रजोगुण का यह अस्थिरता-रूप मल लेशमात्र भी नहीं रहता तब चित्त स्वरूप-स्थित हो जाता है । उसमें केवल बुद्धि और पुरुष का भेद ज्ञान रहता है और तब शीघ्र ही धर्म-मेघ-समाधि लग जाती है । इसकी व्याख्या आगे की गई है । ध्यानी जन इसे परम प्रसंख्यान कहते हैं । चितिशक्ति अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा, दर्शितविषया, शुद्धा और अनन्ता है और यह विवेक ख्याति सत्त्वगुणात्मिका है इसीलिए चित्तशक्ति के विपरीत है । विवेक ख्याति भी समलता का कारण है , अतः विवेक ख्याति में भी विरक्त चित्त उसको निरुद्ध कर देता है । इस अवस्था में चित्त संस्कारमय रहता है । यही निर्बीज समाधि है । इसमें किसी प्रकार का संप्रज्ञान न होने के कारण इसे असम्प्रज्ञात भी कहते हैं । इसलिये चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग दो प्रकार का है ।

टीका २—(१) चित्तवृत्ति का निरोध या योग सर्व श्रेष्ठ मानसिक बल है । मोक्ष धर्म में लिखा है **'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्'** सांख्य जैसा ज्ञान नहीं है और योग जैसा कोई बल नहीं है। वृत्ति के निरोध को मानसिक बल क्यों कहा गया है इसकी व्याख्या यह है। वृत्तिनिरोध का अर्थ है किसी एक इच्छित विषय में चित्त को स्थिर रखना अर्थात् अभ्यास के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार चित्त को किसी विषय में स्थिर रखने का नाम योग है । स्थिरता और ध्येय विषय के भेद के अनुसार योग के अनेक अंग-भेद हैं । विषय केवल घटपटादि बाह्य द्रव्य ही नहीं हैं । मानसिक भाव भी ध्येय विषय हो सकता है । जब चित्त में स्थिरता शक्ति उत्पन्न होती है तब कोई भी मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रक्खी जा सकती है । अतएव हमारी सब से बड़ी दुर्बलता यही है कि हम अपने चित्त में सदिच्छा को स्थिर नहीं रख पाते । किन्तु वृत्ति स्थिर होने पर सब सदिच्छाएँ मन में स्थिरता प्राप्त कर सकती हैं इसलिये ऐसे पुरुष में मानसिक बल रहेगा । इस स्थैर्य की जितनी वृद्धि होगी उतना ही मानसिक बल भी बढ़ेगा। स्थिरता की अन्तिम सीमा का नाम समाधि (अपने को भूले हुए की तरह इच्छित विषय पर चित्त को स्थिर रखना) है । श्रुति और दार्शनिक युक्ति द्वारा दुःख का कारण और शाश्वतीशान्ति का उपाय समझ लेने पर भी हम केवल मानसिक दुर्बलता के कारण दुःख से मुक्त नही हो पाते । श्रुति का उपदेश है **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'** अर्थात् ब्रह्मानन्द जानकर विद्वान् किसी से नहीं डरते, ऐसा जानकर और मरण-भय की अज्ञानता समझ कर भी केवल मानसिक दुर्बलता के कारण हम निर्भय नहीं हो पाते । किन्तु जिन्हें समाधि-बल प्राप्त हो जाता है वे शक्ति सम्पन्न और स्वतन्त्र पुरुष सब प्रकार शुद्धि प्राप्त कर त्रिताप से मुक्त हो सकते हैं । इसीलिये शास्त्र कहते हैं **'विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि । प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्'** ।। (विष्णु पुराण ७म अंश) । समाधि सिद्ध होने पर उसी जन्म में ही मुक्ति हो सकती है । श्रुति में भी इसलिये श्रवण और मनन के पश्चात् निदिध्यासन (ध्यान या समाधि) के अभ्यास का उपदेश है । पूर्वोक्त अंश से सहज ही समझा जा सकता है कि समाधि के बिना कोई

मुक्त नहीं हो सकता। मुक्ति समाधिबल से प्राप्त करने के योग्य परम धर्म है। श्रुति में कहा है **'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैन-माप्नुयात्'**। (कठ २। २४), शास्त्र में है **'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'** अर्थात् योग के द्वारा जो आत्मदर्शन होता है वही परम (सर्व श्रेष्ठ) धर्म है। धर्म का फल सुख है, आत्म दर्शन की अवस्था में मुक्तावस्था में दुःखनिवृत्ति की या इष्ट भाव की अन्तिम कोटि शान्ति का लाभ होती है, इसलिये आत्म-दर्शन ही परम धर्म कहा जाता है।

संसार में जो लोग मोक्षधर्म का आचरण कर रहे हैं वे सभी उसी परम-धर्म के किसी न किसी अंग का अभ्यास कर रहे हैं। ईश्वर की उपासना का प्रधान फल चित्त की स्थिरता है। दान आदि और संयम मूलक कर्मों का फल भी परम्परा सम्बन्ध से चित्त की स्थिरता ही है। अतएव संसार के समस्त साधक, जानकर या अनजाने ही इस सार्वजनीन चित्तवृत्ति निरोधरूप परम-धर्म के किसी न किसी अंग का अभ्यास कर रहे हैं।

२--(२) प्रकाश, क्रिया और स्थिति इन तीन धर्मों का विशेष विवरण २।१८ सूत्र की टिप्पणी में देखिये। भाष्यकार दिखा रहे हैं कि क्षिप्त आदि चित्तों में कौन-से गुणों की प्रबलता होती है और कौन-से विषय प्रिय लगते हैं।

२—(३—४) चित्त रूप में परिणत जो सत्त्वगुण है वही चित्तसत्त्व अर्थात् विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है। वही चित्तसत्त्व जब रज और तमोगुण द्वारा अनुविद्ध होता है अर्थात् चांचल्य और आवरण के कारण प्रत्यग् आत्मा के ध्यान में निविष्ट नहीं होता, किन्तु ऐश्वर्य और शब्दादि-विषयों में अनुरक्त रहता है। उसी तरह क्षिप्त-भूमिक चित्त आत्म-ध्यान और विषय-वैराग्य में सुखी नहीं होता। वह प्रायः ऐश्वर्य से अथवा इच्छा-पूर्त्ति द्वारा शब्दादि विषयों के ग्रहण से सुखी होता है। ऐसे व्यक्तियों (यदि वे साधक हों) के मन में अणिमा आदि सिद्धियों अथवा (असाधकों को) लौकिक ऐश्वर्य की कामनाएँ प्रबल भाव से उठती हैं और वे परमार्थिक तथा लौकिक विषयों के उपदेश, शिक्षा और आलोचना आदि करके सुखी होते हैं। उत्तरोत्तर सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव और इतर गुणों का पराभव जितना होता जाता है उतना ही वे वाह्य विषयों को छोड़ कर आन्तरिक भाव में स्थिति प्राप्त कर सुखी होते हैं। विक्षिप्त भूमिवाले पुरुष, प्रकृत निवृत्ति या शान्ति नहीं चाहते किन्तु शक्ति का उत्कर्षमात्र चाहते हैं।

जिस चित्त में चित्तसत्त्व प्रबल तमोगुण द्वारा अभिभूत है, ऐसे चित्तवाल लोग (मूढ़-भूमिक) प्रायः अधर्माचरण अर्थात् जिस कर्म का फल अधिक परिमाण में दुःख ही होता है ('कर्म प्रकरण' देखिये) करते हैं और वे अज्ञानी या विपरीत (परमार्थ-विरोधी) ज्ञान युक्त होते हैं। वे वाह्य विषयों के बड़े अनुरागी होते हैं तथा प्रधानतः मोह के वश में ऐसा आचरण करते हैं कि जिसका फल अनैश्वर्य वा इच्छा की अप्राप्ति है।

२—(५) रजोगुण का काम चांचल्य है, अर्थात् एक भाव से दूसरे भाव को प्राप्त करना है। मोहरहित चित्त को ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यरूप त्रिविध विषय की प्रज्ञा होती रहती है। इसी से उस चित्त में भी कुछ चंचलता रहती है अर्थात् अभ्यास और वैराग्यरूप साधन में तत्पर चंचलता रहती है।

२--(६) रजोगुणरूप मल का लेशमात्र भी हटने पर अर्थात् सत्त्वगुण के चरम

विकास होने पर चित्तसत्त्व अपने स्वरूप में स्थित होता है, अर्थात् पूर्णरूप से सात्त्विक-प्रसाद–गुण प्राप्त करता है, जैसे अग्नितप्त निर्मल कांचन अपने दूषित वर्ण को त्याग कर 'सुवर्ण' धारण कर लेता है। साथ ही वह पुरुषस्वरूप में अथवा पुरुष-विषयक-प्रज्ञा में प्रतिष्ठित होता है। इसको विवेक-ख्याति-विषयक समापत्ति कहते हैं। इस प्रकार का चित्त विवेक-ख्याति में अर्थात् बुद्धि और पुरुषस्वरूप के भेदज्ञान में लगा रहता है। जब विवेक-ख्याति 'सर्वथा' होती है, अर्थात् जब विवेकख्याति अपने वाह्यफल सर्वज्ञत्व और सर्वाधिष्ठातृत्व में विरक्त होकर विप्लवहीन होती है तब उसे धर्म-मेघ-समाधि कहते हैं। (४।२९ सूत्र देखिये।)

परम प्रसंख्यान का अर्थ है पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार अथवा विवेकख्याति। व्युत्थान को सम्यक् रूप से निरुद्ध करने के लिये यही उपाय है। धर्म-मेघ समाधि द्वारा क्लेश की पूर्णतया निवृत्ति, और इस अवस्था में सर्वज्ञतादि विवेक जनित सिद्धियों में भी वैराग्य होने के कारण इसे ध्यायी लोग परम प्रसंख्यान कहते हैं।

२––(७) चितिशक्ति के पाँच विशेषण हैं यथा :––शुद्धा, अनन्ता, अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा और दर्शितविषया। दर्शितविषया––सब विषय जिसके निकट (बुद्धि द्वारा) दर्शित होते हैं। अर्थात् जिसकी सत्ता से बुद्धि के चैतन्य होने पर बुद्धिस्थित विषयों का प्रत्यनुभव होता है। यह स्वप्रकाश शक्ति (सांख्यतत्त्वालोक में "पारिभाषिक शब्दार्थ" देखिए) समस्त विषयों के प्रकाशित होने के कारण ही कुछ क्रियाशील अथवा विकृत नहीं होती, अतएव कहते हैं, "अप्रतिसंक्रमा" अर्थात् प्रतिसंक्रम (=संचार, कार्य अथवा विषय में संक्रान्त होना) से रहित अर्थात निष्क्रिय और निर्लिप्त। अपरिणामिनी अर्थात् विकार शून्य। शुद्धा का अर्थ सात्त्विक प्रकाश के समान आवरण-शील चंचल नहीं अपितु वही पूर्ण और स्वप्रकाश चितिशक्ति। इसी प्रकार अनन्ता का अर्थ है "अन्त" पदार्थ के साथ जिसका संयोग ही न हो सके। परिमित असंख्य अवयवों की समष्टि द्वारा जो अनन्तता आती है वह चिति में कल्पित नहीं की जा सकती।

२—(८) अर्थात् विवेकबुद्धि सत्त्वगुण प्रधान है। प्रकाशक के सम्बन्ध से जो प्रकाश आविर्भूत होता है और जो अपने नित्य-सहचर रज और तमोगुण के द्वारा न्यूनाधिक आवृत और चंचल है उसी को सात्त्विक प्रकाश या बुद्धि का प्रकाश कहते हैं। इसीलिये बुद्धि के प्रकाश होने वाले विषय (शब्दादि और विवेक) परिच्छिन्न और नश्वर हैं। इस कारण स्व-प्रकाश चितिशक्ति से बुद्धि भिन्न समझी जाती है। समाधि द्वारा बुद्धि का साक्षात्कार करके निरोध समाधि द्वारा चैतन्यमात्राधिगम होने पर बुद्धि और चैतन्य के पार्थक्य को बोध कराने वाली प्रज्ञा को विवेकख्याति वा बुद्धि और पुरुष का भेद-ज्ञान कहते हैं (देखिये सूत्र २।२६)। विवेकख्याति द्वारा परम वैराग्य और तत्पश्चात चिरस्थायी चित्तनिरोध के होने पर उसे कैवल्यावस्था कहा जाता है।

२—(९) समस्त ज्ञेय विषयों का संप्रज्ञान हो जाने पर परवैराग्य के फलस्वरूप यह (संप्रज्ञान) भी निरुद्ध हो जाता है, इसलिये इस समाधि का नाम असम्प्रज्ञात है। पहले संप्रज्ञात समाधि प्राप्त किए बिना असंप्रज्ञात भी प्राप्त नहीं हो सकती।

भाष्यम्—तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद्बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव इति—

तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये, व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद—चित्त द्वारा उस प्रकार की निरोधावस्था प्राप्त किए जाने पर विषयों के अभाव से बुद्धि बोधात्मक (१) पुरुष का स्वभाव कैसा होता है ?—

३—उस अवस्था में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। उस समय चितिशक्ति स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है। जैसी कैवल्यावस्था में रहती है वैसी इसमें भी रहती हैं—(२) चित्त की व्युत्थान अवस्था में चितिशक्ति (परमार्थतः) उस प्रकार की (स्वरूप में प्रतिष्ठित) होने पर भी (व्यवहारतः) वैसी नहीं रहती। (क्यों ? इसका उत्तर निम्न सूत्र में कहा गया है।)

टीका ३—(१) बुद्धिबोधात्मक—विषयाकार म परिणत बुद्धि का बोद्धा या साक्षीस्वरूप। प्रधान बुद्धि—अहं प्रत्यय।

३—(२) अर्थात् इस अवस्था के समान वृत्ति की सम्यक् निरुद्धावस्था को ही कैवल्य कहते हैं। निरोध समाधि चित्त का लय, और कैवल्य चित्त का प्रलय होता है। द्रष्टा की 'स्वरूप स्थिति' तथा वृत्तिसारूप्य 'अस्वरूप स्थिति' ये केवल बाह्य रूप से बोलने के लिए ही हैं। ये सब केवल शाब्दिक प्रतीति के लिये हैं। निरोधावस्था के सम्बन्ध में १।१८ की टीका देखिए।

भाष्यम्—कथं तर्हि ? दर्शितविषयत्वात्।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

व्युत्थाने याश्चित्त वृत्त यस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः; तथा च सूत्रम् 'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्' इति। चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः। तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिसम्बन्धो हेतुः ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद क्यों ?—दर्शितविषयत्व ही इसका कारण है (१)। ४। दूसरी (विक्षेप) अवस्था में वृत्तियों के साथ (पुरुष का) सारूप्य (प्रतीत) होता है।

व्युत्थान अवस्था में जो भी चित्त वृत्तियां उदित होती हैं, उनके साथ पुरुष का अविशिष्ट-रूप में वृत्ति या ज्ञान होता है। इस विषय में पंचशिखाचार्य का सूत्र प्रमाण है, यथा—"एक ही दर्शन, ख्याति ही दर्शन" (२) अर्थात् लौकिक भ्रान्ति-दृष्टि से "ख्याति या बुद्धि की वृत्ति ही दर्शन है" इस प्रकार की बुद्धि वृत्ति के साथ दर्शन (=बुद्धि से अतिरिक्त पौरुषेय चैतन्य है) एकाकार की तरह प्रतीत होता है। चित्त अयस्कान्त मणि के समान निकटस्थ होने पर ही उपकारक है (३), दृश्यत्व गुण के द्वारा यह स्वामी पुरुष का

"स्वं" स्वरूप होता है (४)। इसीलिये पुरुष के साथ अनादि संयोग ही चित्तवृत्ति के उपदर्शन का कारण बनता है।

टीका ४—(१) दर्शितविषयत्व पहिले ही (१।२ सूत्र) कहा जा चुका है। बुद्धि और पुरुष एक प्रत्यय के अन्तर्गत हो जाने के कारण अत्यन्त निकट से चित्स्वभाव पुरुष के द्वारा बुद्धि में आरूढ़ विषयों का प्रकाश होता है। इसी प्रकार से बुद्धिगत विषयों के प्रकाश का हेतु स्वरूप होने के कारण, पुरुष मानों बुद्धिवृत्ति से अभिन्न से प्रतीत होते हैं।

४—(२) पंचशिखाचार्य एक अति प्राचीन सांख्याचार्य थे। पुराणों में कहा गया है कि कपिल मुनि के शिष्य आसुरि के शिष्य पंचशिख थे। पंचशिखाचार्य ने ही सर्वप्रथम सांख्य शास्त्र को सूत्र शैली में रचा। भाष्यकार ने अपनी उक्ति की पुष्टि के लिये पंचशिखाचार्य की जिन उक्तियों को उद्धृत किया है वे सब ही अमूल्य रत्न हैं। जिस ग्रन्थ में से ये प्रवचन उद्धृत किए हैं वह आजकल अलभ्य है। जिस ग्रन्थ से भाष्यकार ने इन सब वचनों को निकाला है वह आजकल लुप्त हो गया है। पंचशिख के संबन्ध में महाभारत में भी कहा है—**'सर्वसंन्यास धर्माणां तत्वज्ञानविनिश्चये। सुपर्यवासितार्थश्च निर्द्वन्द्वो नष्टसंशयः ।। ऋषीणामहुरेकं यं कामादवसितं नृषु। शाश्वतं सुखमत्यन्तमन्विमन्विच्छन्तं सुदुर्लभम् ।। यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षि प्रजापतिम्। स मन्ये नेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ।।'** इत्यादि (मोक्षधर्म)। पंचशिखवाक्यस्थ 'दर्शन' शब्द का अर्थ चैतन्य है, और 'ख्याति' शब्द का अर्थ बुद्धिवृत्ति वा बौद्ध प्रकाश है।

४—(३) विज्ञानभिक्षु ने इस दृष्टान्त की व्याख्या इस प्रकार की है :—जिस प्रकार अयस्कान्त मणि (चुम्बक) शरीर-विद्ध लौह कील को अपनी ओर खींच कर उपकार करता है और इसके द्वारा भोगसाधन हो जाने के कारण अपने स्वामी का 'स्व'-स्वरूप हो जाता है, उसी तरह चित्त भी विषयरूप लौहकील को अपनी ओर खींचकर दृश्यत्व रूप उपकार द्वारा अपने स्वामी पुरुष का भोग-साधक होने के कारण "स्व"-स्वरूप होता है।

४—(४) "मैं देखूँगा", "मैं सुनूँगा", "मैं संकल्प करता हूँ" "मैं विकल्प करता हूँ" इत्यादि समस्त वृत्तियों में जो अहम्भाव हैं वह साधारण है। इस अहमत्व (मैं-पन) का जो ज्ञाता स्वरूप मौलिक लक्ष्य है वही दृष्टि स्वरूप है। दृष्टि पुरुष चैतन्यरूप हैं। द्रष्ट चैतन्य के द्वारा बुद्धि चेतन के समान विषयों को प्रकाश करती है। जो प्रकाशित होता है या हम जिसे जानते हैं वह दृश्य है। रूप रस आदि वाह्य दृश्य हैं। चित्त के द्वारा उनका ज्ञान होता है। विषयज्ञान में "मैं" ज्ञाता वा ग्रहीता, चित्त (इन्द्रिययुक्त) ज्ञान-करण वा दर्शनशक्ति और सारे विषय दृश्य वा ज्ञेय होते हैं। साधारणतः अनुव्यवसाय द्वारा हमें चित्तविषयक ज्ञान होता है। इसलिये हम चित्त की ज्ञानवृत्ति को उदय होने के समय में अनुभवपूर्वक, और तदनुस्मरण द्वारा उसका दुबारा अनुभव करके विचार आदि करते हैं। विषयज्ञान के सम्बन्ध में यद्यपि चित्त करणस्वरूप होता है तथापि अवस्था भेद से वह दृश्यस्वरूप भी होता है। चित्त का उपादान अस्मिताख्य अभिमान है। चित्तगत विषय-ज्ञान इसी अभिमान के विशेष विशेष प्रकार का विकार मात्र हैं। जब चित्त को स्थिर करने की शक्ति होती है तब अहंकार या अभिमान का साक्षात्कार किया जाता है। शुद्ध परिणामी अहंकार भाव में स्थिति होने पर उसके विकार-स्वरूप चित्तगत विषय ज्ञान की भिन्नता अनुभव होती है। उस समय विषय-साक्षात्कारी चित्त (अर्थात् विषयाकार समस्त चित्त-

वृत्तियाँ) दृश्य हो जाता है और अहंकार या शुद्ध अभिमान दर्शन शक्ति या करण हो जाता है। किन्तु जब अभिमान को समेट कर शुद्ध 'अस्मि' भाव में अवस्थान (सास्मित ध्यान) किया जाता है तब 'अभिमानात्मक अहंकार' पृथक् या त्याज्य है, यह समझ लिया जाता है। इस बुद्धि की विशेषताएँ विकारशीलता और जड़ता आदि को जान कर जब समाधि-प्रज्ञा के द्वारा बुद्धि-प्रतिसंवेदी पुरुष की सत्ता का निश्चय हो जाता है तब यह विवेक ज्ञान केवल पुरुष सत्ता को विज्ञापित करता रहता है। जब यह विवेक ज्ञान भी समाप्त हो जाय और पर-वैराग्य द्वारा विषयाभाव में लीन हो जाय अर्थात् जब ज्ञातृभाव का अस्मिता-रूप बन्धन भी नष्ट हो जाय तब द्रष्टा-पुरुष को केवल अथवा स्वरूपस्थ कहा जाता है। इस अवस्था में बुद्धि पृथक् हो जाती है अतः वह भी दृश्य होती है। इस प्रकार की समस्त बुद्धियाँ ही दृश्य होती हैं। जिसके प्रकाश के लिये किसी अन्य प्रकाशक की अपेक्षा रहे वही दृश्य है। जिसका ज्ञान कराने के लिये किसी अन्य विज्ञापक की आवश्यकता नहीं वह स्वयं प्रकाश चित् है। दृष्ट-पुरुष स्वयं प्रकाश होता है बुद्धि आदि दृश्य अथवा प्रकाश्य है जो कि पौरुषेय चेतनता द्वारा चेतन से जान पड़ते हैं। यही द्रष्टत्व और दृश्यत्व है। द्रष्टा स्वामि-स्वरूप है और दृश्य 'स्व' स्वरूप है, बुद्धि आदि का साक्षात्कार आगे कहा जायगा।

४—(५) शान्त-घोर-मूढ़ावस्थादि समस्त चित्तवृत्तियों के दर्शन अथवा पुरुषकृत प्रति-संवेदन का हेतु है अविद्याकृत अनादि संयोग (२।२३ सूत्र देखिये)।

भाष्यम्—ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्व सति चित्तस्य—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः, ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति, एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्त्तते, तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद—वे निरोध करने वाली वृत्तियाँ बहुत होनें पर भी चित्त की—

५—क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं।

(क्लिष्टाक्लिष्ट रूपा निरोध करने योग्य वृत्तियाँ बहुत होने पर भी पाँच भाग में बाँटी जा सकती हैं) अविद्यादि क्लेशों से उत्पन्न (१) समस्त कर्म संस्कार की क्षेत्रीभूत (२) वृत्तियां क्लिष्टा विवेकज्ञानविषया और गुणाधिकार-विरोधिनी (३) वृत्तियाँ अक्लिष्टा वृत्ति होती हैं। क्लिष्टा वृत्तियों के प्रवाह म पड़ी हुई (४) वृत्तियाँ भी अक्लिष्टा होती हैं। क्लिष्ट छिद्र में (५) अक्लिष्टा वृत्ति और अक्लिष्ट छिद्र में क्लिष्टा वृत्ति भी उत्पन्न (६) होती हैं। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों द्वारा क्लिष्ट और अक्लिष्ट संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से पनः वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से (निरोध-

समाधि तक) वृत्तिसंस्कार का चक्र प्रतिक्षण चलता रहता है। निरुद्ध चित्त गुणाधिकार का अवसान हो जाने पर अर्थात् विक्षेप-वीज से हीन हो जाने पर 'स्व' स्वरूप में अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमात्रस्वरूप में आ जाता है। अथवा (परमार्थ-सिद्धि में) विलीन हो जाता है (७)।

टीका—५—(१) अविद्यादि पाँच क्लेश (२ । ३—९ सूत्र देखिये) जिन वृत्तियों के मूल में रहते हैं वे क्लेशमूलिका हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष या अभिनिवेश, इनमें से किसी भी एक क्लेश के पहले प्रकट होने से क्लिष्टा वृत्ति कही जा सकती है, क्योंकि ऐसी वृत्ति से जो संस्कार संचित होता है वह विपाक को प्राप्त होकर फिर क्लेशमयी वृत्ति पैदा करता है। दुःख देने के कारण इनके नाम क्लेश हैं।

५—(२) ऊपर कहे हुए कारण से ही क्लिष्टा वृत्ति को सब कर्मसंस्कारों का क्षेत्रीभूत कहा गया है। "जिससे जो जीवित रहता है वही उसकी वृति है, जैसे – ब्राह्मण की वृत्ति याजनादि हैं" (विज्ञानभिक्षु)। चित्तवृत्ति का अर्थ है ज्ञानरूप समस्त अवस्थाएँ। उनके अभाव हो जाने पर चित्त लीन होता है इसलिये ये वृत्तियाँ कही जाती हैं।

५—(३)अविद्यादि के वश में देह, मन इत्यादि पुरुष की उपाधियों का सदा विकार-शील-भाव में अथवा लीन भाव में वर्तमान रहना अथवा संसृति प्रवाह ही गुण विकार हैं। ज्ञान के द्वारा अविद्यादि का नाश करने के कारण ज्ञान विषयक वृत्तियाँ गुणाधिकार-विरोधिनी अक्लिष्टा वृत्तियाँ होती हैं। जैसे देहाभिमान या 'मैं ही देह हूँ' इस प्रकार की भ्रान्ति और उसके अनुगमन करनेवाले कर्म से उत्पन्न चित्त वृत्तियाँ अविद्यामूलिका क्लेशवृत्ति हैं। "मैं देह नहीं हूँ" ऐसे ज्ञानमय ध्यानादि वा उक्त भाव के अनुसार आचरण से उत्पन्न चित्तवृत्तियाँ अक्लिष्टा वृत्ति हैं। ऐसी वृत्तिपरम्परा से अन्त में देहादिधारण (अतएव अविद्यादि) नष्ट हो सकता है, अतः उनको गुणाधिकारविरोधिनी अक्लिष्टा वृत्ति कहा जाता है। विवेक के द्वारा अविद्या नष्ट होने पर विवेक-ख्यातिरूप जो वृत्ति उठती है वही मुख्य अक्लिष्टा वृत्ति है। विवेक का साक्षात्कार जब तक नहीं होता तब तक श्रवण-मनन-पूर्वक विवेक का अनुभव गौण अक्लिष्टावृत्ति होती है।

५—(४ । ५) यह शंका हो सकती है कि जीव तो प्रायः क्लिष्टवृत्ति के अधिक होते हैं अतः अक्लिष्टवृत्ति पैदा होने की संभावना ही कहाँ है और बहुत सी क्लिष्टवृत्ति के अन्दर उत्पन्न और विलीन होती हुई अक्लिष्टवृत्ति कार्यकारिणी कैसे होगी ? भाष्यकार इसका समाधान करते हैं कि क्लिष्ट प्रवाह के अन्दर पड़े रहने से भी अर्थात् उसी में उत्पन्न होने पर भी अँधेरे कमरे में झरोखों से आये हुए प्रकाश की भाँति अक्लिष्टा वृत्ति स्पष्ट रूप से रहती है।

अभ्यास-वैराग्यरूप जो क्लिष्टवृत्ति के छिद्र हैं उनमें भी अक्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न हो सकती है। वैसे ही अक्लिष्ट-वृत्ति के छिद्रों में भी क्लिष्ट वृत्ति हो सकती है। समस्त वृत्तियों के संस्कार भाव में रहने पर भी क्लिष्ट प्रवाह में पड़ी हुई अक्लिष्ट वृत्ति धीरे धीरे बलवती होकर क्लेशप्रवाह रोक सकती है।

५—(६) क्लिष्ट या अक्लिष्ट वृत्ति से वैसे ही संस्कार भी उत्पन्न होते हैं। अनुभूत-विषय का चित्त में आहित रहना संस्कार है। इसीलिए क्लिष्ट वृत्ति से क्लिष्ट-संस्कार और अक्लिष्ट से अक्लिष्ट संस्कार होता है। आगे कही जाने वाली प्रमाणादि वृत्तियों में कौन सी वृत्ति क्लिष्टा और कौन सी अक्लिष्टा हैं यह बताते हैं। विवेक के अनुकूल समस्त

प्रमाण-ज्ञान अक्लिष्ट प्रमाण हैं और उनके विपरीत प्रमाण क्लिष्ट प्रमाण हैं। विवेक काल में वा निर्माण-चित्त-ग्रहण के समय में जो अस्मितादि रहते हैं और जो विवेक के साधक हैं ऐसे अस्मिता-रागादि अक्लिष्ट विपर्यय होते हैं और उनके विपरीत, क्लिष्ट। जिन वाक्यों के द्वारा विवेक सिद्ध होता है उन वाक्यों से उत्पन्न विकल्प अक्लिष्ट, उनके विपरीत क्लिष्ट विकल्प होता है।

विवेक की और विवेक के साधक ज्ञानमय आत्मभावादि की स्मृति अक्लिष्टा स्मृति होती है और इसके अतिरिक्त दूसरी क्लिष्टा स्मृति होती है। विवेकाभ्यास तथा उसके अनुकूल ज्ञानमय आत्मस्मृति इत्यादि के अभ्यास अथवा सत्त्वसंसेवन के द्वारा क्षीयमाणा निद्रा अक्लिष्टा निद्रा और साधारण निद्रा क्लिष्टानिद्रा होती है। जिस निद्रा के पहिले और पीछे आत्मस्मृति ठहरती है तथा जो आत्मस्मृति द्वारा क्षीण हो रही है अथवा जो साधनावस्था में स्वास्थ्य के लिये आवश्यक होती है वह अक्लिष्टा निद्रा कहाती है।

५—(७) जो 'सत्' है उसका विनाश नहीं होता, इसलिये दर्शन संगत, लौकिक दृष्टि में हमारे पास जो सत् के समान प्रतीयमान होता है वह, जब तक लौकिक दृष्टि रहेगी तब तक सत्रूप में प्रतीत होगा। प्राकृतिक सभी पदार्थ विकारशील हैं। वे सदा एक ही रूप 'सत्' या विद्यमान नहीं रहते हैं। उनकी सत्ता अलग अलग रूप धारण करती है। जैसे—'मिट्टी है', "मिट्टी घड़ा बन गई"। घटावस्था में मिट्टी का ध्वंस नहीं हुआ, परन्तु मिट्टी पहले पिण्ड रूप को त्याग करके घट के रूप में 'विद्यमान' रही। इस प्रकार से लौकिक दृष्टि से प्रतीयमान सब द्रव्य ही रूपान्तर ग्रहण करके विद्यमान रहते हैं। उनका पूर्ण अभाव हम कभी नहीं सोच सकते। यह वस्तु का जो रूपान्तर-परिणाम है—इसमें जो पूर्वरूप में स्थित वस्तु है उसे पर-रूप-स्थित वस्तु का अन्वयी कारण बोला जाता है। यथा—घट का अन्वयी कारण मिट्टी। द्रव्य के कारण रूप में लौट आने को 'नाश' कहा जाता है। अतएव नाश का अर्थ है कारण में लीन रहना। अतएव लौकिक दृष्टि से मुक्तचित्त अपने उपादान अव्यक्त में लीन है ऐसा अनुमान होता है। दुःख प्रहाण की दृष्टि से अर्थात् परमार्थ सिद्ध होने पर जब त्रिविध दुःख की सम्पूर्ण निवृत्ति होती है, तब पुनः उसका कोई भी व्यक्तभाव होने की संभावना नहीं रहती है, इस कारण चित्त प्रलीन वा अभाव-प्राप्त सा हो जाता है। उस समय चित्त त्रिगुणसाम्यरूप में रहता है, दुःख के कारण केवल दृष्ट दृश्य के संयोग का ही अभाव होता है। ४-१४ (२)।

धर्ममेघ ध्यान म चित्त-सत्त्व अपने यथार्थ स्वरूप में अर्थात् रज-तम-मलहीन विशुद्ध सत्त्वस्वरूप में रहता है और कैवल्य में स्वकारण में लीन रहता है। रज-तमोमलहीन शब्द का अर्थ रजस्तम से शून्य नहीं, किन्तु विवेक विरोधी दूसरे मालिन्य से हीन है।

भाष्यम्—ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च वृत्तयः—

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद—वे क्लिष्टा और अक्लिष्टा वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं; (यथा)—
६—प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (१)।

टीका—६–(१) यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि निद्रा को वृत्तियों में परिगणित किया गया है तो जाग्रत और स्वप्न को और संकल्पादि को क्यों छोड़ दिया गया है ? इसका उत्तर यह है कि जाग्रत-अवस्था प्रमाण प्रधान है और उसम विकल्पादि भी रहते हैं; स्वप्नावस्था भी वैसे ही विपर्ययप्रधान हैं; उसमें विकल्प, स्मृति और प्रमाण भी रहते हैं। अतएव प्रमाण इत्यादि चारों वृत्तियों के उल्लेख से ये अवस्थाएँ भी कह दी गई हैं।

इन चारों वृत्तियों के निरोध से जाग्रतादि का भी निरोध हो जाता है अतः इनको पृथक् नहीं गिना गया। इसी प्रकार संकल्प भी ज्ञान-वृत्ति-पूर्वक उदित और उसके निरोध से निरुद्ध होता है, अतएव यह भी अलग नहीं कहा गया। पाँच विपर्ययों के द्वारा संकल्प भी सूचित होता है क्योंकि रागद्वेषादि-पूर्वक ही संकल्पादि होते हैं। फलतः यहाँ सूत्रकार ने मूलतः-निरोध करने योग्य वृत्तियों का ही उल्लेख किया है। सुखदुःखादिरूप वेदना वा अवस्था वृत्तियों को भी यहाँ छोड़ दिया गया है। सुख-दुःखादि पृथक् रूप से निरोध करने योग्य नहीं होते; प्रमाणादि के निरोध से ही उनका निरोध करना पड़ता है। विज्ञानभिक्षु ने भी योगसार-संग्रह में कहा है। **'इच्छा कृत्यादिरूप वृत्तीनां चैतन्निरोधेनैवनिरोधो भवति'**।

योगशास्त्र की परिभाषा में प्रत्यय को अर्थात् परिदृष्ट चित्तभाव या बोध समूह को ही वृत्ति कहा गया है। उनमें प्रमाण यथाभूत बोध; विपर्यय अयथा भूत बोध, विकल्प प्रमाण विपर्यय से अन्य अवस्तुविषयक बोध, निद्रा रुद्धावस्था का अस्फुट बोध और स्मृति अनुभूत भाव पुनरनुभव होते हैं। समस्त वृत्तियाँ बोध पूर्वक प्रवृत्ति और स्थिति होती हैं तथा बोध सब प्रकार की वृत्तियों का मुखिया होता है अतः बोध-वृत्ति-समूह के निरोध से समग्र चित्त निरुद्ध होता है। इसलिए योग द्वारा निरोध-योग्य वृत्तियाँ ज्ञानवृत्ति वा प्रत्यय हैं। योगी लोग चित्तनिरोध के लिये समस्त ज्ञानवृत्ति को निरुद्ध करके सफल होते हैं। ज्ञान-वृत्ति के अवलम्बन द्वारा चित्त निरोध करना ही सच्चा वैज्ञानिक उपाय है। योग की वृत्ति चित्तसत्त्व या प्रख्या का भेद है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा गृहीत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पाँच विषयविज्ञान, पाँच कर्मेन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य का चालन या देशान्तर में गमन और गमनीयता-बोध, पाँच प्राणों के द्वारा ग्राह्य के जड़त्व-धर्म का बोध तथा सुखादि करण-गत भावों का अनुभव, इन सब को ले कर जो आन्तर शक्ति संमिश्रित-बोध कराती है, चेष्टा करती है और धारण करती है वही चित्त है। उदाहरणार्थ, मानो एक हाथी देखा; इस हस्ति-दर्शन में आँख से केवल एक विशेष कृष्णवर्णमय आकारमात्र जाना जाता है, किन्तु हाथी के जो अन्यान्य गुण हैं वे सिर्फ आँख से ही नहीं जाने जाते हैं। हाथी की भारवाहिनी शक्ति, गमन-शक्ति, भोजन-शक्ति, उसके शरीर की दृढ़ता, उसकी चिंघाड़ आदि गुण पहिले ही अन्य इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होकर अंतरस्थित हो जाते हैं। हस्तिदर्शन काल में इन सब का समन्वय कर जो आन्तर शक्ति 'यह हाथी है' ऐसा ज्ञान कराती है वही चित्त है, और हस्तिदर्शन की क्रिया से जो आनन्द होता है वह भी चित्त की क्रिया है। उस आनन्दा-नुभव का स्वरूप अन्तःकरण-गत अनुकूल हस्तिदर्शन की अवस्था का बोधमात्र होता है।

वृत्ति के द्वारा चित्त की वर्तमानता अनुभूत होती है और उसके बिना चित्त लीन हो जाता है। ये सब वृत्तियाँ त्रिगुण के अनुसार कई प्रकार के मूल भागों में विभक्त हो

सकती हैं। उनमें योग द्वारा मूलतः निरोध योग्य वृत्तियों को सूत्रकार न पाँच श्रेणियों म बाँटा है। पाठकों को चित्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित विषयों का स्मरण रखना चाहिये। प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति-धर्म-विशिष्ट अन्तःकरण चित्त है। प्रख्या और प्रवृत्ति माने ज्ञान और चेष्टा भाव, स्थिति अर्थात् संस्कार। प्रत्यक्षादि बोध, संस्कार-बोध (स्मृतिरूप) प्रवृत्ति बोध, सुखादि के अनुभव का विशेष बोध, ये सभी बोध चित्तवृति या प्रत्यय हैं। इच्छादि चेष्टा भी दृष्ट धर्म होने के कारण प्रत्ययरूप हैं। संस्कार अपरिदृष्ट धर्म है। अतएव चित्त प्रत्यय तथा संस्कार इन दो धर्मों से युक्त वस्तु है। उनमें प्रत्ययों का नाम चित्त-वृत्ति होता है। साधारणतया समस्त वृत्तियाँ इस शास्त्र में चित्त नाम से ही परिचित हैं। ज्ञान स्वरूप होने के कारण वृत्तियाँ सत्त्वपरिणाम बुद्धि के अनुगत परिणाम हैं। इसलिये चित्त और बुद्धि ये दोनों शब्द अनेक स्थलों पर अभिन्न रूप में व्यवहृत होते हैं। यह बुद्धि बुद्धि-तत्त्व नहीं है। चित्तवृत्ति भी बुद्धिवृत्ति नाम द्वारा परिचित होती है। बहुत जगह पर चित्त और मन शब्द एक ही अर्थ म व्यवहृत होते हैं, किन्तु वास्तव में मन छठा इन्द्रिय है। अर्थात् भीतरी चेष्टा, बाह्येन्द्रिय का प्रवर्त्तन और चित्तवृत्ति अथवा मानस भाव के चैत्तिक विज्ञान के लिये जिस आलोचन का प्रयोजन होता है वह मनका कार्य है। मानस-प्रत्यक्ष उस आलोचन के साथ होता हैं, जैसे चक्षु से चाक्षुष ज्ञान होता है। अतः प्रवृत्तिरूप संकल्पक इन्द्रिय या मन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का आभ्यंतरिक केन्द्र है और चित्तवृत्ति केवल विज्ञान है। मन के द्वारा गृहीत, कृत अथवा धृत विषय का विशेष प्रकार का ज्ञान ही विज्ञान वा चित्तवृत्ति होता है। प्राचीन परिगणन ऐसा ही है यह स्मरण रखना चाहिये।

भाष्यम्—तत्र—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७॥

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः।

अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धः, यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा, देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः।

आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तय शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याऽश्रद्धेयार्थः वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥ ७॥

भाष्यानुवाद—उनमें—

७—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (इन तीन प्रकार से साधित यथार्थ ज्ञान का नाम) प्रमाण (१) है।

इन्द्रियप्रणाली के द्वारा चित्त का वाह्य वस्तु से उपराग का कारण (२) वाह्यविषया एवं सामान्य तथा विशेष विषयों में विशेषावधारणप्रधाना (३) वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। बुद्धि के साथ अविशिष्ट, पौरुषेय चित्तवृत्तिबोध ही (विज्ञानभूतवृत्ति का) फल (४) है। पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी (५) है यह आगे प्रतिपादित किया जायगा। (२।२० सूत्र)

अनुमेय के साथ तुल्य जातीय वस्तु में अनुवृत्त और उससे भिन्नजातीय वस्तु से व्यावृत्त (धर्म ही) संबन्ध कहाता है (६)। इसी संबन्ध को विषय बनाकर (सम्बन्ध-पूर्वि का) जो सामान्यावधारण प्रधाना वृत्ति हो वह अनुमान है। यथा—देशान्तर प्राप्ति के लिए चन्द्रमा, तारका और ग्रहादि गतिमान हैं, जैसे चैत्र इत्यादि। विन्ध्य को अन्य-देश प्राप्ति नहीं होती, अतः वह गतिमान नहीं है।

आप्त पुरुष से दृष्ट वा अनुमित जो अर्थ वा विषय है और दूसरे व्यक्तियों को उसका बोध कराने के लिये आप्त पुरुष जिसका उपदेश करते हैं और उसमें जो अर्थ-विषया वृत्ति उत्पन्न होती है वह श्रोता पुरुष का आगम प्रमाण (७) होता है। जिस आगम का वक्ता अश्रद्धेय अथवा वंचक पुरुष है और जिसका अर्थ (वक्ता के द्वारा) दृष्ट वा अनुमित नहीं हुआ, वह आगम झूठा है अथवा उतने मिथ्यांश में आगम प्रमाण नहीं होता। जो विषय मूल वक्ता के द्वारा या आप्त के द्वारा दृष्ट तथा अनुमित होता है उस विषय का आगमप्रमाण विप्लव से रहित अर्थात् सच्चा होता है (८)।

टीका ७—(१) प्रमा—विपर्यय के द्वारा अबाधित अर्थ में प्रवेश करने वाल बोध। प्रमा का करण = प्रमाण। पहले अप्राप्त सत् या यथाभूत विषय के सत्ता निश्चय का नाम प्रमाण है। अथवा अज्ञात विषय की प्रमा की प्रक्रिया का नाम प्रमाण है। यह जो प्रमाण लक्षण है इसमें ऐसा संशय हो सकता है कि अनुमान से "आग नहीं है" ऐसी असत्ता का जब निश्चय होता है तब यह प्रमाण लक्षण ऐसे अनुमान में नहीं घटता। इसका उत्तर यह है कि "असत्ता का बोध" वास्तव में जिसकी असत्ता है उसके अतिरिक्त अन्य-पदार्थ-बोध-पूर्वक विकल्पमात्र है। **'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया।'** अर्थात् अभाव यथार्थ में दूसरा एक भाव पदार्थ है; किसी एक विषय की सत्ता की अपेक्षा से ही दूसरी वस्तु का अभाव बोला जाता है। वस्तु के नास्तिता-ज्ञान के विषय में श्लोक वार्तिक में लिखा है **'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षान पेक्षया।'** अर्थात् सद्वस्तु को ग्रहण करके और प्रतियोगी वा जिसका अभाव हो उसे स्मरण करके मन-ही-मन (वैकल्पिक) नास्तिता ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे किसी स्थान में यदि घट नहीं दीखे तो उस स्थान तथा आलोकमय अवकाश का रूप ज्ञान आखों से होता है, तत्पश्चात् मन में "घटाभाव" शब्द के द्वारा विकल्प-वृत्ति होती है (१।६ सूत्र देखिये)। फलतः विषय-हीन ज्ञान नहीं हो सकता है। ज्ञान होने का अर्थ है सत्ता का निश्चय होना। शास्त्र कहते हैं **'यदि चानुभवरूपा सिद्धिः सत्तेति कथ्यते। सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते।'** अर्थात् अनुभव-सिद्धि ही यदि सत्ता होती तो सब पदार्थों की सत्ता संवेदन को छोड़कर दूसरा कुछ हो नहीं सकती।

जितने प्रकार के सद्विषयक बोधक हैं वे मूलतः द्विविध हैं, प्रमाण और अनुभव। उनमें प्रमाण करण से वाह्य, पदार्थ विषयक अथवा करण, वाह्य-रूप में व्यवहृत पदार्थविषयक होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाण में ही यह लक्षण साधारण है। अनुभव करणगत भाव-विषयक होता है; यथ—स्मृति का अनुभव, सुख का अनुभव इत्यादि। अनधिगत तत्त्व का बोध प्रमा है, इस प्रमा का दूसरा एक अर्थ होता है; उसका करण = प्रमाण, प्रमाण का इस लक्षण के द्वारा स्मृति से उसका भेद जान पड़ता है।

इस शास्त्र में कुछ अनुभवों को मानस-प्रत्यक्षस्वरूप में ग्रहण कर के प्रमाणों में परिगणित किया है परन्तु स्मृति का अनुभव मानस-प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि वह अधिगत विषय का पुनर्नुभव है। इसीलिये प्रमाण से स्मृति पृथक् है।

७—(२) वाह्य वस्तु की भिन्नता से चित्त भिन्न-भाव धारण कर लेता है इस कारण चित्तका वाह्य-वस्तु-जनित उपरंजन होता है। इंद्रिय प्रणाली से विषय के संपर्क में आकर चित्त उपरंजित वा विकृत होता हैं। चित्त सत्त्व का एक एक प्रकार का परिणाम ही एक एक ज्ञान है। छः प्रकार की इन्द्रियप्रणाली से चित्त के साथ विषय का संपर्क होता है। पांच वाह्येन्द्रियाँ तथा एक अन्तरिन्द्रिय मन ये छः इन्द्रिय इस शास्त्र में ली जाती हैं। इन्द्रिय से सिर्फ आलोचन ज्ञान होता है अर्थात् ग्रहणमात्र होता है। केवल कान आदि इन्द्रियों से जो जाना जाता है वही आलोचन ज्ञान है। यथा, कौआ टेरेने से जो 'का' 'का' मात्र ध्वनि का बोध होता है वह आलोचन ज्ञान होता है। इसके बाद अंतःकरण में विद्यमान अन्य वृत्ति के सहारे से 'यह कौआ की 'का' 'का' ध्वनि है' इस प्रकार जो विज्ञान होता है वही चैत्तिक प्रत्यक्ष है।

मानस विषय का प्रत्यक्ष होने पर अनुभव का विज्ञान होता है या करण-स्थित भाव ग्रहण-पूर्वक उसका विज्ञान होता है। सुखादि वेदना का अनुभूति मात्र मानस आलोचन है; पीछे उसका भी जो विज्ञान होता है वही मानस विषय का प्रत्यक्ष है। वाह्य इन्द्रिय के समान विषय सब से पहल मन के द्वारा गृहीत होता है तदनु मन के द्वारा चित्त के उपरंजित होने पर उसका चैत्तिक प्रत्यक्ष होता है। अतएव समस्त चैत्तिक प्रत्यक्ष में पहले ग्रहण, पीछे उसका प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। अतएव 'करण वाह्य भाव का निश्चयप्रमाण' यह लक्षण समस्त प्रत्यक्ष प्रमाण में संगत हुआ।

७—(३) मूर्ति और व्यवधि (वाह्य विषय) का नाम विशष है। प्रत्येक द्रव्य का जो अपना विशेष वा दूसरे से अलग शब्द-स्पर्शादि गुण है वही उसकी मूर्त्ति है; व्यवधि का अर्थ है आकार। मानो एक ईंट का टुकड़ा है; उसके जो ठीक रङ्ग और आकार हैं उन्हें हजारों शब्द की सहायता से भी ठीक ठीक प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। किन्तु उसे देखने से शीघ्र ही उनका ज्ञान हो जाता है। इसलिये प्रत्यक्ष प्रधानतः विशेष विषयक होता है। 'प्रधानतः' कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष में सामान्य ज्ञान भी रहता है किन्तु विशेष ज्ञान की ही प्रधानता होती है बहुतों में साधारण पदार्थ है (पद अथवा Common Term का अर्थ) वही सामान्य है। अग्नि जल आदि प्रायः सब शब्द सामान्य अर्थ में ही संकेतित हैं। आकार और प्रकार के भेद से अग्नि असंख्य प्रकार की हो सकती परन्तु उसका सामान्य नाम अग्नि होता है। सत्ता पदार्थ सर्व-वस्तु-साधारण होने से सामान्य है। प्रत्यक्ष में ऐसा सामान्य ज्ञान भी अप्रधान-भाव से रहता है। किन्तु अनुमान और आगम प्रमाण के (जिनको आगे बतायेंगे) विषय सामान्य मात्र होते हैं, क्योंकि वे शब्द का या अन्य आकारादि के

संकेत से सिद्ध होते हैं। यदि कहो कि 'चैत्र है' ऐसा ज्ञान यदि अनुमान या आगम के द्वारा सिद्ध हो तो चैत्र नाम से विशेष पदार्थ का ज्ञान भी होता है यह शंका छोड़नी पड़ेगी, कारण, कि अगर चैत्र पूर्वदृष्ट हो तो चैत्र शब्द के द्वारा केवल स्मरण-ज्ञान ही होगा, और 'अमुक स्थान पर है' केवल इतना अंश ही प्रमाण होगा। चैत्र पहले अदृष्ट होने से तो कोई बात ही नहीं है। ऐसा होने से चैत्र संबन्धी कोई विशेष ज्ञान नहीं होगा, केवल सामान्य एक अंश का ज्ञान अनुमान या आगम के द्वारा हो सकेगा।

७—(४) फल—प्रत्यक्ष व्यापार का फल। विज्ञानभिक्षु ने कहा है "वृत्तिरूप करण का फल।" "पौरुषेय चित्त वृत्ति-बोध" के उदाहरण में विज्ञान भिक्षु कहते हैं "मैं घड़ा जान रहा हूँ" ऐसा बोध। किन्तु ऐसा बोध दो प्रकार हो सकता है। प्रत्यक्ष प्रमाण में 'यह घड़ा' या 'घड़ा है' ऐसा बोध होता है। किन्तु उसमें भी ज्ञातृ भाव रहने के कारण 'मैं घड़ा देख रहा हूँ' ऐसा वाक्य विश्लेषण करके उसे व्यक्त किया जा सकता है, और घट देखते-देखते, मन में "मैं घट देख रहा हूँ" यह चिन्ता होती है। पहला (घट है) व्यवसाय प्रधान है, दूसरा (मैं घट जान रहा हूँ) अनुव्यवसाय प्रधान है। पहला अर्थात् 'यह घट' अथवा 'घट है' यही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

इस प्रत्यक्ष में 'मैं' 'घट' 'देख रहा हूँ' ये तीन भाव रहते हैं। किन्तु घट के प्रत्यक्ष काल में केवल 'घट है' यह बोध होता है अर्थात् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य की पृथक् उपलब्धि नहीं होती। "मैं द्रष्टा हूँ" यह ज्ञान न रहने के कारण तथा केवल 'घट है' ऐसा बोध होने के कारण मैं-पन के अन्तर्गत दृष्ट पुरुष और ग्राह्य घट अविशिष्ट या अविभागापन्न सा अर्थात् अभिन्नवत् होते हैं। चौथे सूत्र में यह कहा भी है। कोई एक प्रत्यक्ष वृत्ति क्षणमात्र में उदित होती, और पीछे शायद उसका प्रवाह चलता रहता है, किन्तु जिस क्षण में एक 'घट-प्रत्यक्ष वृत्ति' उदित होती है उसी में 'मैं घट देख रहा हूँ' ऐसा विभागपन्न भाव नहीं होता है, एक मात्र 'घट' इसी प्रकार का भाव होता है। घट बोध में उस बोध का द्रष्टा मूल में है। अतः वह द्रष्टा घट बोध के साथ अविशिष्ट-भाव से (पृथक् होने पर भी अपृथक् रूप से) रहता है, ऐसा कहना होगा।

हम इस विषय को दूसरे ढंग से भी समझ सकते हैं। समस्त ज्ञान ही कारणात्मक अभिमान का विकार मात्र है। उसमें प्रत्यक्ष ज्ञान वाह्य-क्रिया-जनित अभिमान विकार है। अतएव घट बोध, वस्तुतः अभिमान या अहम्त्व (मैंपन) का विकार-विशेष होता है। किन्तु 'मैं' इसके अन्तर्गत द्रष्टा भी है। घट-प्रत्यक्ष में घट-ज्ञान-रूप अहम्त्व का विकार और द्रष्टा अभिन्न से होते हैं। अनुव्यवसाय के द्वारा विचारपूर्वक द्रष्टा और घट की अभिन्नता का बोध हो सकता है। परन्तु घट प्रत्यक्षरूप व्यवसाय-प्रधान-वृत्ति में ऐसा नहीं हो सकता है।

पौरुषेय चित्तवृत्ति बोध का अर्थ है पुरुष द्वारा साक्षीकृत चित्तवृत्ति अथवा पुरुष द्वारा उपदृष्ट चित्तवृत्ति या ज्ञान का प्रकाश। यह शंका कि पुरुष यदि नाना वृत्तियों का प्रकाशक है तो वह भी नानात्व से युक्त अथवा परिणामी होगा, निर्मूल है; कारण, नानात्व पुरुष में नहीं प्रत्युत इन्द्रिय और अन्तःकरण में ही रहता है। समस्त विषयों का यदि विश्लेषण किया जाय तो क्षण-क्षण में उदित और विलीन होने वाली केवल एक ही सूक्ष्म क्रिया का बोध होता है। इसी के अहम्त्वरूप बुद्धि नानात्व-रूप क्षणिक परिणाम होता है। इस एक रूप किन्तु क्षणिक विकारशील अहम्त्व का प्रकाशक ही पुरुष है। विकार शान्त होने पर केवल

पुरुष और विकारोदय होने पर बुद्धि रहते हैं। अतः ये विकार पुरुष तक नहीं पहुँचते। योगी इसी प्रकार ही पुरुषतत्त्व के निकटस्थ होते हैं। वे पहले नील, पीत, अम्ल, मधुर आदि नानात्व में रूपमात्र, रसमात्र इत्यादि तन्मात्र का साक्षात्कार करते हैं। तदनु तन्मात्रतत्त्व का अस्मिता में (क्रमेण सूक्ष्मतर ध्यान के द्वारा) विलीन होना अनुभव करते हैं। यह अति-सूक्ष्म तन्मात्रतत्त्व कैसे अस्मिता का विकार है इसकी उपलब्धि करके अस्मिता-मात्र में स्थित होते हैं और इसके बाद वि`क ख्याति के द्वारा पुरुषतत्त्व में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार स क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विकार को निरोध करके पुरुषतत्त्व में स्थिति होती है।

७—(५) "पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है," पुरुष के इस लक्षण का बहुत गंभीर अर्थ है। जैसे प्रतिफलन का अर्थ है किसी दर्पणादि-फलक में लगकर दूसरी ओर जाना वैसे ही प्रति-संवेदन का अर्थ है किसी संवेदक में जाकर दूसरा संवेदन उत्पादन करना अथवा दूसरे संवेदन रूप से प्रतीत होना। रूपादि प्रतिफलन का जैस दर्पणादि प्रतिफलक रहता है, वैसे ही बुद्धि वा व्यवहारिक अहम्त्व (मैंपन) का वर्त्तमान क्षण में जो संवेदन होता है वही संवेदन अन्य क्षण में पुनः मैंपन रूप में प्रतिसंविदित होता है। इस प्रतिसंवेदन का जो केन्द्र है वही बुद्धि का प्रतिसंवेदी है। "मैं हूँ" ऐसा चिन्तन कर सकना भी प्रतिसंवेदन का फल होता है। ('पुरुष वा आत्मा' १९ द्रष्टव्य)।

समस्त निम्न शारीर-बोध या वैषयिक बोध के प्रतिसंवेदन का केन्द्र बुद्धि या उसकी नीचेवाली करण शक्तियाँ हैं। किन्तु बुद्धिरूप सर्वोच्च व्यावहारिक आत्मभाव का जो प्रतिसंवेदी है वह बुद्धि से अतीत है; वही निर्विकार चिद्रूप पुरुष होता है। इस प्रकार प्रति-संवेदन भाव के द्वारा ही पुरुषतत्व प्राप्त करना पड़ता है। समाधि के बल से बुद्धि तत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है। विचारानुगत ध्यान के द्वारा प्रतिसंवेदन भाव अवलम्बन कर के प्रतिसंवेदी पुरुष की उपलब्धि होती है। यही वस्तुतः विवेक ख्याति है।

७—(६) अर्थात् सहभाव और असहभाव ये द्विविध संबन्ध हैं। सहभाव = तत्सत्त्व म सत्त्व एवं तदसत्त्व में असत्त्व। असहभाव = तत्सत्त्व में असत्त्व एवं तदसत्त्व में सत्त्व। स्थूलतः इस प्रकार के संबन्धों को जान करके सम्बध्यमान वस्तु का एकांश जानकर अन्यांश के ज्ञान का नाम अनुमान है। जिस स्थल पर अनुमेय वस्तु के असत्त्व का निश्चय होता है उसका अर्थ है उससे अतिरिक्त अन्य भाव का निश्चय। यह पहिले ही कहा जा चुका है। निर्विषयक वा अभावविषयक प्रमाण ज्ञान इस शास्त्र में निषिद्ध माना गया है।

७—(७) सिर्फ शब्द अर्थात् शब्दमय क्रियाकारकयुक्त वाक्य से शब्दार्थ का बोध होता है, किन्तु उस अर्थ का अबाधित यथार्थ निश्चय सब स्थानों पर नहीं होता है। किसी स्थल में तद्विषयक संशय होता है तो कहीं पर अनुमान के द्वारा संशय हटकर निश्चय होता है जैसे 'अमुक मनुष्य विश्वासपात्र है; वह बोल रहा है तो सत्य है।' पठन से भी इसी प्रकार से निश्चय होता है। यह अनुमान प्रमाण हुआ। इसमें बहुत लोग विचारते हैं कि आगम एक स्वतन्त्र प्रमा का करण वा प्रमाण नहीं है। यह ठीक नहीं। आगम नाम से एक प्रकार का स्वतन्त्र प्रमाण है। कितनों की स्वभावतः ऐसी शक्ति देखी जाती है कि वे दूसरे के मन की बात जान सकते हैं, और दूसरे के मन में अपनी चिन्ता धारा डाल सकते हैं वे अंग्रेजी म Thought reader या परचित्तज्ञ कहलाते हैं। उनमें चिन्ताक्षेपक (Thought transference) शक्ति भी रहती है। Telepathy भी इसी प्रकार स है।

उनके पास जाकर आप मन में सोचें कि 'अमुक स्थान में पुस्तक है' उसी समय उनके मन में वह जागेगा अर्थात् उनमें उस स्थान पर पुस्तक का सत्त्वज्ञान वा प्रमाण होगा। ऐसे परचित्तज्ञ व्यक्ति का प्रमाण कैसे होता है ? साधारण प्रत्यक्ष से नहीं। किसी के मन ही मन उच्चारित शब्द तथा उनके अर्थ का निश्चय ज्ञान अन्य के मन में संक्रान्त हुए, उसी से उस व्यक्ति को भी निश्चय ज्ञान हुआ। यह प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त दूसरे ही प्रकार का प्रमाण है यह मानना पड़ेगा। साधारण मनुष्य की परचित्तज्ञता कम रहने के कारण स्फुट रूप से शब्द उच्चारित न हों तो उनको निश्चयज्ञान नहीं होता। प्रायः हम लोग समस्त मनोभाव शब्दों के द्वारा ही प्रकाशित करते हैं, अतएव एक का मनोभाव दूसरे में संक्रान्त करना शब्द या वाक्य द्वारा ही सम्भव होता है। ऐसे बहुत आदमी हैं जिनके द्वारा प्रत्यक्ष वा अनुमित निश्चय ज्ञान आपसे कहने पर भी आपका प्रत्यय वा उनके समान ही निश्चय नहीं होता है। ऐसे भी बहुत लोग हैं जो आपसे निश्चय के लिये कुछ कहें तो तत्काल आपका वैसा ही निश्चय हो जाता है। उनमें ऐसी शक्ति रहती है जिससे उनके मनोभाव वाक्य से वाहित हो कर आपके मन में भली भांति बैठ जाते हैं। प्रसिद्ध वक्ता लोग इसी प्रकार हैं। जिनके वाक्य से इस प्रकार अविचारसिद्ध निश्चय होता है वे ही आपके लिए आप्तपुरुष हैं। आप्तों का वाक्य सुनकर उनका निश्चय ज्ञान एक साथ आपके मन में भी जाकर स्वसदृश निश्चय ज्ञान उत्पादन करता है, यही आगम प्रमाण होता है। सब शास्त्र सर्व प्रथम तत्त्व-साक्षात्कारी आप्त पुरुषों के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण आगम नाम से विज्ञात हैं। किन्तु वे वास्तव में आगम प्रमाण नहीं हैं। आगम प्रमाण में वक्ता और श्रोता की आवश्यकता है। अनुमान और प्रत्यक्ष जैसे कभी कभी दोषयुक्त होते हैं वैसे आप्त दोष रहने से आगम भी दुष्ट होता है। केवल शब्दार्थ का ज्ञान ही आगम नहीं होता। आप्तोक्त शब्दार्थ के सहारे किसी अनिश्चित विषय को निश्चित करना ही आगम प्रमाण होता है। अभिनव गुप्त ने इस को पौत्रिकी (सस्नेह) शक्तिपात कहा है। Plato का अभिमत—

No philosophical truth *could* be communicated in writing at all; it *was* only by some sort of *immediate* contact that one soul *could* kindle the flame in another—*Burnet.*

७—(८) संबन्धज्ञान इत्यादि के दोष से जैसे अनुमान दुष्ट होता है, तथा इन्द्रिय वैकल्पादि रहने से जैसे प्रत्यक्ष का दोष होता है, वसे उनके सजातीय आगम प्रमाण का भी दोष होता है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

भाष्यम्— स कस्मान्न प्रमाणम् ? यतः प्रमाणनबाध्यते, भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य, तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्, तद्यथा द्विचंद्रदर्शनं सद् विषयेणैकचंद्रदर्शनेन बाध्यत इति। सेयं पंचपर्वा भवत्यविद्या, अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति, एत एव

स्वसंज्ञाभिस्तमोमोहो महामोहस्तामिस्रः अन्धतामिस्र इति एते चित्तमलप्रसंगेनाभिधास्यते ॥ ८ ॥

८—विपर्यय अतद्रूपप्रतिष्ठ (१) मिथ्याज्ञान है। सू

भाष्यानुवाद—विपर्यय क्यों नहीं प्रमाण होता है?—कारण, वह प्रमाण के द्वारा बाधित (निराकृत) होता है क्योंकि प्रमाण भूतार्थ विषयक होता है (अर्थात् प्रमाण का विषय यथाभूत, किन्तु विपर्यय का विषय उसके विपरीत होता है)। प्रमाण से अप्रमाण की बाधाप्राप्ति देखी जाती है, जैसे-द्विचन्द्रदर्शन (--रूप विपर्यय) सद्विषय एक चन्द्रदर्शन (--रूप प्रमाण) के द्वारा बाधित होता है इत्यादि। यह विपर्ययाख्या अविद्या पंच-पर्वा है अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पाँच क्लेशों युक्त है। ये तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहलाते हैं। चितमलप्रसंग म इनकी व्याख्या की जायगी।

टीका ८--(१) अतद्रूपप्रतिष्ठ अर्थात् वास्तव ज्ञेय से भिन्न एक ज्ञेय विषयक। प्रमाण यथारूप विषयप्रतिष्ठ; विपर्यय अयथारूपविषयप्रतिष्ठ; विकल्प अवास्तवविषयवाची शब्दप्रतिष्ठ; निद्रा तम वा जड़ता प्रतिष्ठ; स्मृति अनुभूतविषयमात्र प्रतिष्ठ है। प्रतिष्ठा के अनुसार वृत्तियों में भी भेद होता है। प्रमा चित्त के यथार्थ विषय की प्रकाश-शीला शक्ति होती है। समाधिजात प्रज्ञा ही प्रमा का चरम उत्कर्ष होती है। प्रमा से जो अज्ञान (या वस्तु का अन्य प्रकार का ज्ञान)--समूह निरुद्ध होता है, उसका साधारण नाम विपर्यय होता है। अविद्या आदि पाँच विपर्यय हैं (२।३-९ सूत्र देखिये) इन सभी का साधारण लक्षण—अयथाभूतज्ञान होता है और ये सब यथार्थ ज्ञान से निरुद्ध हो सकते हैं। भ्रान्तिज्ञानमात्र का नाम विपर्यय है। अविद्यादि क्लेश विपर्यय होने पर भी केवल परमार्थ (दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के-साधन) संबन्ध में परिभाषित विपर्यय ज्ञान होते हैं। भ्रान्त-ज्ञान विपर्यय वृत्ति कही जाती है। योगी लोग जिन सब विपर्ययों को दुःख की जड़ जान करके निरोध करने के लिये ग्रहण करते हैं उनका नाम क्लेश-रूप विपर्यय है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययापारोही च, वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्य निबन्धनो व्यवहारो दृश्यते, तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति, यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्रकेन व्यपदिश्यते, भवति च व्यपदेशे वृत्तिर्यथा चैत्रस्य गौरिति। तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति वाणः स्थास्यति स्थित इति गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथा अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति, उत्पत्ति धर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः, तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥ ९ ॥

९—विकल्पवृत्ति शब्दज्ञान के अनुपाती और वस्तुशून्य अर्थात् अवास्तव पदार्थ-(पदका अर्थमात्र) विषयक अथच व्यवहार्य एक प्रकार ज्ञान है (१)। सू

भाष्यानुवाद---विकल्प न तो प्रमाणान्तर्गत है और न विपर्ययान्तर्गत। कारण,

वस्तुशून्य होने पर भी शब्द-ज्ञान-माहात्म्य-जन्य-व्यवहार विकल्प से होता है। विकल्प जैसे- "पुरुष का स्वरूप चैतन्य है"; अब चितिशक्ति ही पुरुष है तब यहाँ कौन विशेष्य किसी से व्यपदिष्ट वा विशेषित हो रहा है? व्यपदेश वा विशेष्य विशेषण भाव रहने से वाक्यवृत्ति होती है जैसे "चैत्र की गाय" (२)। पुरुष इस प्रकार प्रतिषिद्ध—(पृथिव्यादि) वस्तु धर्म, और निष्क्रिय होता (लौकिक उदाहरण यथा—) बाण चलता नहीं है; चलेगा नहीं, चला नहीं इस प्रकार गति निवृत्त होने पर "स्था" धातु के अर्थ मात्र का ज्ञान होता है। (और दृष्टान्त दिया जाता है यथा—) "**अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष**" यहाँ पुरुषान्वयी किसी धर्म का ज्ञान नहीं होता, केवल उत्पत्तिधर्म का अभावमात्र जाना जाता है, इसीलिये यह धर्म विकल्पित होता है। उसके (विकल्प के) द्वारा (उक्त वाक्य का) व्यवहार होता है।

टीका—९—(१) ऐसे अनेक पद और वाक्य जिनका वास्तविक अर्थ नहीं है। ऐसे पद और वाक्य सुनकर एक प्रकार की अस्फुट ज्ञानवृत्ति हमारे चित्त में उठती है। वही विकल्प वृत्ति कहाती है। जो जीव भाषा से बातचीत करते हैं उनको बहुधा विकल्पवृत्ति की सहायता लेनी पड़ती है। "अनन्त" एक वैकल्पिक पद है। इसका व्यवहार हम बहुत करते हैं और एक प्रकार का अर्थ भी समझ लेते हैं। अनन्त पद का वास्तविक अर्थ हमारी धारणा में नहीं आता। अन्त पद का अर्थ धारण कर सकते हैं, उसे लेकर अनन्त पद के अर्थ के विषय में एक प्रकार की अलीक, अस्फुट धारणा हमारे चित्तमें जागती है। किन्तु 'अनन्त' 'असंख्य' आदि शब्द अन्य अर्थ में भी व्यवहृत होते हैं। जैसे—जिसका परिमाण अथवा संख्या करते हुए अन्त नहीं पाते उसे 'अनन्त' और 'असंख्य' कहते हैं। इस अर्थ में 'अनन्त' आदि शब्द वैकल्पिक नहीं होता। किन्तु 'अनन्त' को एक समग्र पदार्थ समझ कर व्यवहार करने से वह वैकल्पिक होगा; कारण यह है कि 'समग्र' समझते ही वह सान्त हो जायगा। योगी लोग जब समाधि-साधन-पूर्वक प्रज्ञा के द्वारा बाह्य और आभ्यंतर पदार्थ का यथा-भूत-ज्ञान पाने के लिये चलते हैं तब उनको विकल्पवृत्ति त्याग देनी पड़ती है, कारण, विकल्प एक प्रकार की अयथार्थ चिन्ता है। ऋतम्भरा नामक प्रज्ञा (१।४२ सूत्र) सब विकल्पों के विरुद्ध है। वस्तुतः चिन्तन से यदि समस्त विकल्प न हट जायँ तो ऋत का (साक्षात् अधिगत सत्य का) चिन्तन होता है। विकल्प को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। वस्तुविकल्प, क्रियाविकल्प और अभावविकल्प। पहले का उदाहरण "पुरुष का स्वरूप चैतन्य है", "राहु के शिर है।" इस स्थल पर दोनों वस्तुओं की एकता रहने पर भी व्यवहार-सिद्धि के लिये उनको भिन्न कहना वैकल्पिक है। जहाँ अकर्ता व्यवहार-सिद्धि के लिये कर्ता के समान प्रयुक्त होता है वहाँ क्रियाविकल्प होता है। जैसे, "बाण-स्तिष्ठति", स्था धातु का अर्थ है गतिनिवृत्ति, बाण उस गतिनिवृत्ति क्रिया का कर्तृ रूप से व्यवहृत होता है। वस्तुतः बाण में गतिनिवृत्ति के अनुकूल कोई कर्तृ रूप नहीं रहता। जो सब पद और वाक्य अभावार्थक हैं उन पर आश्रित चित्तवृत्ति अभावविकल्प है। जैसे, "पुरुष उत्पत्तिधर्म शून्य है।" शून्यता अवास्तविक पदार्थ है, उसके द्वारा किसी भावपदार्थ की स्वरूपोपलब्धि नहीं होती, इसीलिये इस वाक्य पर आश्रित चित्तवृत्ति की वास्तव-विषयता नहीं रहती। जब तक भाषा से चिंतन किया जाता है तब तक विकल्पवृत्ति की सहायता लेनी पड़ती है।

विकल्प के अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं, जैसे (१) उपरिलिखित विकल्पवृत्ति;

(२) "वा" अर्थ में प्रयुक्त (Alternative) जैसे—"ईश्वर प्रणिधानाद् वा", (३) प्रपंच, जैसे—वैदान्तिक निर्विकल्प समाधि; (४) काल्पनिक आरोपित होना, जैसे—अस्मिता का वैकल्पिक रूप।

९—(२) "चैत्र की गाय" इस अविकल्पित उदाहरण में विशेष्य—विशेषण-भाव से युक्त वाक्य की जिस प्रकार वृत्ति होती है, "पुरुष का स्वरूप चैतन्य है" इस विकल्प-उदाहरण का वास्तव अर्थ न रहने पर भी शब्द-ज्ञान-माहात्म्य के कारण ऐसी वाक्य वृत्ति या वाक्य जनित चित्त का एक प्रकार का बुद्ध-भाव होता है। इस विकल्प वृत्ति को समझना कुछ कठिन है, अतएव भाष्यकार ने बहुत उदाहरण दिए हैं। वस्तुतः इसको नहीं समझने से निर्वितर्क और निर्विचार समाधि समझना संभव नहीं है। विपर्यय की व्यवहार सिद्धि नहीं रहती, परन्तु विकल्प से व्यवहार सिद्धि सदा चलती है। ❀

अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

भाष्यम्—सा च संप्रबोधे प्रत्ययवमर्शात् प्रत्ययविशेषः। कथं, सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति, दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितं, गाढ़ं मूढ़ोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तमलसं (अलमिति पाठान्तरम्) मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्ययवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे, तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥१०॥

१०—(जागृत् तथा स्वप्न के =) अभाव के प्रत्ययस्वरूप अथवा हेतुभूत तमस् (जड़ता विशेष) को अवलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा कहलाती है।

भाष्यानुवाद—जागने के बाद उसका स्मरण होने के कारण निद्रा प्रत्यय या वृत्ति-विशेष होती है। किस प्रकार? यथा "मैं सुख की नींद सोया था, मेरा मन प्रसन्न हो रहा है, मेरी प्रज्ञा को स्वच्छ कर रहा है।" अथवा "मैं दुःख से सोया था, मेरा मन चंचलता से

❀ 'शश-शृङ्ग' 'आकाशकुसुम' प्रभृति पद वैकल्पिक होते हैं या नहीं ऐसी शंका उठ सकती है। उसका उत्तर यह है कि विकल्प का विषय अवस्तु है। वह वस्तु रूप से धारणा या मानसिक रचना करने योग्य नहीं है, जैसे—'राहु के शिर है' जब, जो राहु है वही शिर है, तब दोनों को अलग करके मानस अथवा वाह्य प्रत्यक्ष करने की संभावना नहीं होती, और यहाँ संबन्ध भी मिथ्या है। वैसे ही—'वाण नहीं चल रहा है' इस वाक्य में 'वाण' और 'नहीं चल रहा है', उसकी यह क्रिया पृथक नहीं होती। अतः कारक की क्रिया विकल्प है। किन्तु 'शशशृंग' ऐसा नहीं है। शशक तथा उसके मस्तक पर शृंग-योजना करके हम मानस-प्रत्यक्ष या कल्पना कर सकते हैं, अतः यह कल्पना है। और, 'शशक का शृंग' यह जो सम्बन्ध कहा जाता है वह दो वस्तुओं का है; इसीलिये विकल्प भी नहीं होता। यह सम्बन्ध मिथ्या तो है ही, और हम भी उस अलीकता को दिखाने के लिये ऐसा कहते हैं, व्यवहार सिद्धि के लिये नहीं। जो स्वयं मिथ्या है उसे मिथ्या कहना विकल्प नहीं होता। अतः 'शशशृंग' या 'आकाश कुसुम' अर्थ में 'कुछ असंभव' नहीं जान पड़ते।

अस्थिर और अकर्मण्य हो रहा है और इधर उधर भटक रहा है" अथवा "मुग्ध भाव से मैं प्रगाढ़ निद्रा में था, मेरी देह भारी और चित्त सुस्त और थका है मानों दूसरे से अपहृत होकर स्तब्ध-सा हो गया है।" यदि निद्रा-काल में प्रत्यय का अनुभव (तामस भाव का अनुभव) नहीं रहता तो अवश्य ही जागृत व्यक्ति को ऐसा प्रत्यवमर्श वा अनुस्मरण नहीं होता और चित्ताश्रित स्मृतियाँ भी प्रत्ययाश्रित (निद्रा-विषय के अधीन) न होतीं। अतः निद्रा प्रत्ययविशेष है और समाधि काल में अन्य प्रत्ययों के साथ उसका भी निरोध करना चाहिये (१)।

टीका—१०—जागृत काल में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा चिन्ताधिष्ठान (मस्तिष्क का विचारक भाग-विशेष) चेतन भाव से चेष्टा करते हैं; स्वप्नकाल में कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय जड़ रहते हैं, केवल चिन्ताधिष्ठान चेष्टा करता है। किन्तु सुषुप्ति में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा चिन्तास्थान सभी जड़ हो जाते हैं किन्तु प्राणों की क्रिया चलती रहती है। निद्रा के पहले शरीर में आच्छन्नभाव मालूम होता है वही जड़ता वा तमस् होता है। उत्स्वप्न वा Nightmare नामक अस्वाभाविक निद्रा में कभी कभी ज्ञानेन्द्रिय जागरूक होता है, किन्तु कर्मेन्द्रिय जड़ रहता है। वह व्यक्ति उस समय कुछ-कुछ सुन और देख सकता है, किन्तु हाथ-पैर नहीं चला सकता, ऐसा अनुभव होता है कि वे जम गये हैं। इस प्रकार का जम जाना अथवा जड़ भाव ही सूत्रोक्त तमस् है। यह तमस् जिस वृत्ति का विषयीभूत होता है वही निद्रा है। निद्रा में तमसाच्छन्न होने के कारण क्रियाशीलता रुक जाती, इस कारण वह भी एक प्रकार की स्थिरता होती परन्तु वह समाधि काल की स्थिरता से कुछ विपरीत है। निद्रा अवश तथा अस्वच्छ स्थिरता है, समाधि स्ववश तथा स्वच्छ स्थिरता है। स्थिर किन्तु अति कीचमय जल निद्रा है तथा स्थिर और अत्यन्त निर्मल जल समाधि है।

भाष्यकार ने क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस निद्रा का उदाहरण देकर निद्रा के त्रिगुणत्व तथा वृत्तित्व प्रमाणित किये हैं। निद्रा में भी एक प्रकार का अस्फुट अनुभव होता है अतः निद्रा का भी स्मरण-ज्ञान होता। वस्तुतः निद्रा आते समय हम पूर्वानुभूत निद्रा-भाव का ही स्मरण करते हैं। जाग्रति और स्वप्न की तुलना में निद्रा तामस वृत्ति होती है, यथा—**सत्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्। प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु सन्ततम्॥**" इत्यादि शास्त्र से निद्रा का तामसत्व ही प्रमाणित होता है। पहले ही कहा जा चुका है कि चित्तवृत्ति का अर्थ ज्ञान विशेष है। सुषुप्ति काल में जो जड़, आच्छन्न-करण भाव होता है, निद्रावृत्ति उसी का विज्ञान है। जाग्रत् और स्वप्न में प्रमाणादि वृत्तियाँ होती हैं, सुषुप्ति में नहीं।

निद्रा वृत्ति का निरोध करने के लिये सर्वप्रथम शरीर की स्थिरता पहला अभ्यास है। इसके द्वारा शरीर की क्षयजनित प्रतिक्रिया, निद्रा की आवश्यकता नहीं होती। शरीर स्थिर रहने पर भी मस्तिष्क की शांति के लिये एकाग्रता अथवा ध्रुवा स्मृति आवश्यक हैं। निद्रारोध के लिये यही प्रधान साधन है। इसको 'सत्त्वसंसेवन' (**सत्वसंसेवनान्निद्रां—महाभा०**) कहते हैं। निरंतर जिज्ञासा या ज्ञानेच्छा अथवा 'अपने को भूलूँगा नहीं' ऐसा संप्रजन्यरूप ज्ञानाभ्यास भी इसका साधन है (**ज्ञानाभ्यासाज्जागरणं जिज्ञासार्थमनन्तरम्'—महाभा०**) दिन-रात इस साधन में स्थित होने की शक्ति होने पर निद्रावश में आती है और ऐसी एकाग्रभूमि

होने पर संप्रज्ञात योग होता है। संप्रज्ञात के बाद संप्रज्ञान को त्याग कर के असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

साधारण अवस्था में जैसे किसी भी असाधारण शक्ति का विकास हो जाता है वैसे ही निद्रा हीनता भी (अनिद्रा रूप बीमारी नहीं) आ सकती है। अन्य अवस्थाओं म भी ऐसा हो सकता है; किन्तु अन्य वृत्तियों के निरोध न होने के कारण ये सब योग नहीं हैं। स्मृति साधन करते करते प्रतिक्रिया वश किसी का चित्त स्तब्ध या सुषुप्त होता है, इसके उदाहरण बहुत मिलते हैं। इस समय किसी का शिर झुक जाता है, किसी के शरीर और शिर ठीक सीधे रहते हुए भी निद्रित व्यक्ति के समान साँस चलती है, प्रायः निरायास-जनित अस्फुट आनन्द बोध रहता है और दूसरे किसी का स्मरण नहीं रहता। यह सब भी पूर्वोक्त सत्त्वसंसेवन द्वारा हट जाता है।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

भाष्यम्—किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति, आहोस्विद् विषयस्यति। ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथा जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धि ग्रीह्याकारपूर्वा स्मृतिः सा च द्वयी भावितस्मर्तव्या चाऽभावितस्मर्तव्या च स्वप्ने भावितस्मर्तव्या जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति। सर्वाः स्मृतयः प्रमाण विपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। सुखानुशयीरागः दुःखानुशयी द्वेषः मोहः पुनरविद्यति। एताः सर्वाः वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवति असंप्रज्ञातो वेति ॥११॥

११—अनुभूत विषय का असंप्रमोष (१) अर्थात तदनुरूप आकार युक्त वृत्ति स्मृति है।

भाष्यानुवाद—चित्त पूर्वानुभव रूप प्रत्यय को स्मरण करता है अथवा विषय को (२) ? प्रत्यय ग्राह्योपरक्त होने पर भी ग्राह्य तथा ग्रहण इन दोनों के स्वरूप को निर्भासित वा प्रकाशित करता है और उसी प्रकार के संस्कार भी पैदा करता है। यह संस्कार अपने व्यंजक के द्वारा (उपलक्षण आदि के द्वारा) उद्बुद्ध होता है (३) और स्वकारणाकार (अर्थात् अपने अनुरूप) ग्राह्य तथा ग्रहणात्मक स्मृति ही उत्पन्न करता है। (यहाँ स्मृति का अर्थ है मानस शक्ति का विकास। अधिगत विषय का विकास है स्मृति और ग्रहणशक्ति का विकास है **प्रमाणरूप** बुद्धि) । उनम बुद्धि ग्रहणाकार पूर्वा और स्मृति ग्राह्याकार पूर्वा होती है। यह स्मृति दो प्रकार की है—भावितस्मर्तव्या तथा अभावितस्मर्तव्या। स्वप्न म भावितस्मर्तव्या (४) और जाग्रत काल में अभावितस्मर्तव्या होती हैं। सम्पूर्ण स्मृति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति के अनुभव से होती है। (प्रागुक्त) सब वृत्तियाँ सुख दुख और मोहात्मिका हैं। सुख, दुख और मोह (५) क्लेशों की विवेचना के साथ कहे

जायेंगे। राग सुखानुशयी, द्वेष दुःखानुशयी और मोह अविद्या है। ये सब वृत्तियाँ निरोध-योग्य हैं। इनका निरोध होने पर सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात समाधि उत्पन्न होती है।

टीका—११—(१) असंप्रमोष = अस्तेय अथवा निजस्व-मात्र का ग्रहण, परस्व का अग्रहण। अर्थात् स्मृति काल में पूर्वानुभूत विषयों का ही पुनरनुभव होता है, और किसी अननुभूत भाव की स्मृति नहीं होती है।

११—(२) क्या घट रूप ग्राह्य मात्र की स्मृति होती है अथवा केवल प्रत्यय की (अनुभव मात्र अथवा घट-ज्ञान की)? उत्तर में भाष्यकार ने यह सिद्धान्त दिखाया है कि उन दोनों का ही स्मरण होता है। यद्यपि प्रत्यय ग्राह्योपरक्त अर्थात् ग्राह्याकार है तथापि उसमें ग्रहणभाव अनुस्यूत रहता है। अर्थात् केवल घट का ज्ञान नहीं होता परन्तु 'घट मैंने जाना' ऐसे ग्रहण भाव-युक्त घटाकार प्रत्यय होता है। अनुभूत विषय का असम्प्रमोष ही स्मृति अर्थात् पूर्वानुभूत ग्राह्य विषयमात्र का अनुभव कहलाता है। किन्तु उस तरह की ग्राह्य-स्मृति में ग्रहण वा 'जान रहा हूँ' या 'जाना' ऐसा एक नवीन ज्ञान भी रहता है। नवीन का अर्थ है जो पूर्वानुभूत न हो, किन्तु स्मृति रूप में जो घटना नये रूप में घटती है वह भी नूतन ही मानी जाती है। स्मरण ज्ञान में जब उस प्रकार का ज्ञान भी रहता है तब स्मरण-ज्ञान में दोनों ही हैं यही कहना होगा (१) पूर्वानुभूत विषय का ज्ञान, और (२) 'जाना' ऐसी नयी मानसिक घटना इनमें पहला अधिगत विषय का ज्ञान है और दूसरा अनधिगत विषय का ज्ञान। इनमें पहला स्मृति लक्षण में आयगा और दूसरा प्रमाण में—यही प्रमाण रूप बुद्धि है।

समस्त अनुभव के भीतर ग्राह्य भी रहता है ग्रहण भी तथा उन दोनों का ही संस्कार होता है। सुतरां उन दोनों से ही प्रत्यय होता है। इनम ग्राह्य संस्कार जनित प्रत्यय स्मृति है। ग्रहण संस्कार जनित प्रत्यय क्रिया अर्थात् मानस क्रिया जानन की शक्ति है अतः वही संस्कार जानने की शक्ति है। ज्ञानशक्ति से जो मानस क्रिया होती वह पूर्णतया पूर्ववत् नहीं होती वह नवीन ज्ञान रूप एक प्रत्यय है अतः यही प्रमाण है।

वाचस्पति मिश्र ने कहा है—ग्रहणाकारपूर्वा का अर्थ है प्रधानतः अनधिगत विषय का ग्रहण या आदान करानेवाली बुद्धि (वस्तुतः बुद्धि और ग्रहण एकार्थक हैं, यहाँ विकल्पित भेद कर के बुद्धि का कार्य समझा दिया गया है)। स्मृति प्रधानतः ग्राह्याकारा है अर्थात् अन्य वृत्ति द्वारा ज्ञात विषय को अवलंबन करतो है अर्थात् अधिगत विषयाकारा है।

११—(३) स्वव्यंजकांजन—स्वव्यंजक = स्वकारण, अंजन = आकार वाली अथवा व्यंजक = उद्बोधक, अंजन = फलाभिमुखीकरण कला (वाचस्पति मिश्र)।

११—(४) भावितस्मर्त्तव्या अर्थात् उद्भावित या कल्पित तथा विपर्यस्त प्रत्यय के अनुगत विषयों का स्मरण करनेवाली, जैसे—'मैं राजा हुआ हूँ' इस कल्पित प्रत्यय के सहभावी प्रासाद, सिंहासन आदि स्वप्नगत स्मृति के विषय हैं। जाग्रत् काल में इसके विपरीत होता है, अर्थात् प्रधानतः उस समय अनुद्भावित प्रत्यय और ग्राह्य इनका समष्टि रूप विषय ही स्मरणीय होता है।

११—(५) वस्तुतः जिस बोध में सुख तथा दुःख के स्पष्ट ज्ञान की शक्ति नहीं रहती वही मोह है, जैसे अत्यन्त पीड़ा-बोध के बाद दुःख-ज्ञान स शून्य मोह होता है। मोह तम प्रधान होने के कारण अविद्या अत्यन्त समीप है। चित्त के सब बोध ही सुख, दुःख वा मोह

के साथ होते हैं; अतः इन्हें चित्त की बोधगत अवस्था-वृत्तियाँ कहा जा सकता है। चित्त की समस्त चेष्टायें राग, द्वेष वा अभिनिवेश के साथ होती हैं। इस कारण इनको चेष्टागत अवस्था-वृत्ति भी कहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति धार्यगत अवस्था वृत्ति हैं (सांख्य-तत्त्वालोक ३८।३९ प्रकरण देखिये)।

भाष्यम्—अथास्य निरोधे क उपाय इति—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भारा अविवेकविषय-निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते। इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्ति-निरोधः ॥ १२ ॥

भाष्यानुवाद—इनके निरोध का क्या उपाय है?

१२—अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उनका निरोध होता है।

चित्त नामक नदी दोनों दिशाओं में बहती है। वह कल्याण की ओर भी बहती है और पाप की ओर भी। जो विवेक-विषयरूप निम्न मार्ग से जाती है और कैवल्य-रूप उच्च-भूमि तक बहती है वह कल्याण-वहा है; और जो अविवेक विषय रूप निम्नमार्ग से जाती है और संसारप्राग्भार तक बहती है वह पापवहा है। इनमें वैराग्य द्वारा विषयस्रोत मन्द या कम हो जाता है और विवेक-दर्शन के अभ्यास द्वारा विवेक स्रोत फूट पड़ता है। इस प्रकार चित्त-निरोध इन दोनों के अधीन है (१)।

टीका—१२। (१) अभ्यास और वैराग्य मोक्षसाधन के साधारणतम उपाय हैं। अन्य सब उपाय इनके अंतर्गत हैं। योग के ये दो तत्त्व गीता में भी प्रतिपादित हैं यथा—"अभ्यासेन हि कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" इस कथन को मुख्य समझकर भाष्यकार ने विवेक-दर्शन के अभ्यास का ही उल्लेख किया है। परन्तु साधन से युक्त समाधि ही अभ्यास का विषय होती है। जितना अभ्यास करोगे उतना ही फल पाओगे, मार्ग की दुर्गमता देखकर पतवार न छोड़ो यथासाध्य यत्न करते जाओ। अनेक व्यक्ति साधन की कठिनाई देखकर और दुर्दम प्रकृति को आधीन न कर सकने के कारण "ईश्वर के द्वारा नियोजित होकर प्रवृत्ति मार्ग पर चल रहे हैं" ऐसा तत्त्व स्थिर करके मन को आश्वासन देने की चेष्टा करते हैं। किन्तु ईश्वर के द्वारा हो या किसी भी प्रकार से हो, पापाभ्यास करने पर उसका फल भोगना ही पड़ेगा। और कल्याण करने पर सुखमय फल होगा यह ध्यान रखना चाहिए। प्रत्युत 'ईश्वर द्वारा नियुक्त होकर समस्त कार्य कर रहा हूँ' यह भाव भी अभ्यसनीय है। प्रत्येक कर्म में इस प्रकार सोचने से यह उक्ति यथार्थ और कल्याण कर होती है। किन्तु

उद्दाम प्रवृत्तिमार्ग में विचरण करने के लिये इस उक्ति को तर्क या प्रमाण बनाने से सिवाय दुख के और क्या फल मिलेगा ? विना प्रयत्न के यदि मोक्ष लाभ हुआ करता को एकदिन में ही सब को मोक्षलाभ होजाता ।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

भाष्यम्—चित्तस्य अवृत्तिकस्य प्रशांतवाहिता स्थितिः, तदर्थः प्रयत्नः वीर्यमुत्साहः तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥१३॥

१३—उनके अन्तर्गत (अभ्यास और वैराग्य में) स्थिति-विषयक 'यत्न' का नाम अभ्यास है ।

भाष्यानुवाद—अवृत्तिक (वृत्तिशून्य) चित्त की 'प्रशांतवाहिता' (१) अर्थात् निरोध के प्रवाह का नाम स्थिति है । उसी स्थिति के लिए जो प्रयत्न या वीर्य्य या उत्साह अर्थात् उसी स्थिति के सम्पादन करने की इच्छा से उसके साधन द्वारा बार-बार अनुष्ठान करने का नाम अभ्यास है ।

टीका—१३—(१) निरुद्ध अवस्था अथवा सर्ववृत्तिनिरोध के प्रवाह का नाम 'प्रशांत वाहिता' है । वही चित्त की चरम स्थिति है, अन्य स्थैर्य गौण स्थिति है । साधन के उत्कर्ष से स्थिति का भी उत्कर्ष अवश्य होता है । प्रशांत वाहिता पर ध्यान रख कर जो साधक जैसी स्थिति को प्राप्त हुए हैं उसी को जाग्रत् रखने के यत्न का नाम अभ्यास है । जितने उत्साह और वीर्य से वह यत्न करेगा उतनी ही जल्दी अभ्यास में दृढ़ता प्राप्त करेगा । श्रुति भी कहती है **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् । एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशतेब्रह्मधाम' (मुण्डक ३।२।४)**

सतु दीर्घकालनैरंतर्यसत्कार सेवितो दृढ़भूमिः ॥१४॥

भाष्यम्—दीर्घकालासेवितो निरंतरासेवितस्तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढ़भूमिर्भवति, व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येव अनभिभूतविषय इत्यर्थः ॥१४॥

१४—वही अभ्यास बहुत समय तक निरंतर तथा अत्यंत आदर के साथ आसेवित होने से दृढ़ भूमि होता है ।

भाष्यानुवाद—दीर्घकाल तक आसेवित, निरंतर आसेवित तथा (सत्कार युक्त अर्थात्) तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धापूर्वक संपादित होने से उसे सत्कारवान् कहा

जाता है एवं वह अभ्यास दृढ़ भूमि होता है अर्थात् स्थैर्यरूप अभ्यास का विषय व्युत्थान संस्कार के द्वारा शीघ्र अभिभूत नहीं होता (१)।

टीका—१४—(१) निरंतर अर्थात् प्रात्यहिक अथवा साध्य हो तो प्रत्येक क्षण का जो स्थैर्याभ्यास है, जो उसके विपरीत अस्थैर्याभ्यास के द्वारा अंतरित वा भग्न नहीं होता, वही 'निरंतर अभ्यास' है।

तपस्या = विषय-सुख त्याग। शास्त्र में कहा है। **'सुख-त्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापनम्'** अर्थात् सुखत्याग तप और सर्वत्याग रूप निःशेष-त्याग ही योग होता है। विद्या = तत्त्वज्ञान। तपस्यादि पूर्वक अभ्यास करते रहने पर यह अभ्यास प्रकृत-संस्कार-पूर्वक ही किया जा रहा है यह सुनिश्चित हैं। इस प्रकार अभ्यास करते रहने से यह दृढ़ और अपराजेय होता है। श्रुति में कहा गया है—**'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरम्भवति'** (छान्दोग्य १।१।१०) अर्थात् जो युक्तियुक्त ज्ञान, श्रद्धा तथा सारयुक्त शास्त्रज्ञान के साथ अर्थात् वास्तविक प्रणाली से किया जाता है वही अधिकतर वीर्यवान् होता है।

दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्—**स्त्रियः अन्नपानम् ऐश्वर्यम् इति दृष्ट विषयवितृष्णस्य, स्वर्ग-वैदेह्यप्रकृतिलयत्व प्राप्तावानुश्रविकविषयेवितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषय संप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलाद् अनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥**

१५—दृष्ट और आनुश्रविक विषय में वितृष्ण चित्तका वशीकार नामक वैराग्य होता है।

भाष्यानुवाद—स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय है। स्वर्ग, विदेह-लयत्व (१) और प्रकृतिलयत्व आदि आनुश्रविक विषय हैं। इन सबमें वितृष्ण और दिव्यादिव्य विषयों की उपस्थिति होने पर भी विषय दोषदर्शी चित्त की प्रसंख्यान की सहायता से जो अनाभोगात्मक (२) तथा हेयोपादेय शून्य वृत्ति या संज्ञारूप निर्विकल्पकबुद्धि विशेष है, वही वशीकार नामक वैराग्य है।

टीका १५—(१) विदेहलय और प्रकृतिलय के विषय आगे १९वें सूत्र की टिप्पणी में देखिये।

१५—(२) प्रसंख्यान = विवेक साक्षात्कार। अनाभोग = चित्त के पूर्णभाव-विषय में वर्तमान रहने का नाम आभोग है। समाधि के समय ध्येय का विषय चित्त जिस भाव में रहता है वह आभोग का उदाहरण है। अनाभोग इसका विपरीत-भाव है। विक्षेपकाल में चित्त को साधारण क्लेशजनक विषय में आभोग रहता है। जिस विषय में अधिक राग रहता है या इच्छा के कारण जिस विषय पर चित्त को लगाया जाता है उसी में आभोग होता है। राग हट जाने से चित्त का अनाभोग होता है अर्थात् उस विषय से चित्त का

व्यापार निरसित होता है। उस समय उस विषय का स्मरण या उसमें प्रवृत्ति का अभाव रहता है।

जब विषय का त्रिताप-जननता-दोष प्रसंख्यान की सहायता से सविशष जान पड़ता है तब अग्नि से जले हुए शरीर में जलन के समान उसका साक्षात् अनुभव होता है। 'अग्नि जलन पैदा करती है' यह जानना और जलन अनुभव करना इन दोनों में जो भेद है वही श्रवण-मनन द्वारा विषय-दोष-ज्ञान और प्रसंख्यान द्वारा उसके साक्षात् अनुभव करने में हैं। प्रसंख्यान के द्वारा समस्त विषयों के दोषों का साक्षात् अनुभव करने पर विषयों में चित्त का जो सम्यक् अनाभोग होता है वही वशीकार नामक वैराग्य है। वशीकार एक बार में ही सिद्ध नहीं हो जाता है। उससे पहले वैराग्य की तीन अवस्थाएँ हैं (१) यतमान (२) व्यतिरेक (३) एकेन्द्रिय इन तीन अवस्थाओं के बाद वशीकार सिद्ध होता है। "विषयों की ओर इन्द्रिय प्रवृत्त नहीं करगे" इस प्रकार की चेष्टा करते रहना यतमान वैराग्य है। यतमान वैराग्य स्वल्पाधिक सिद्ध हो जाने पर जब किसी-किसी विषय से राग हट जाता है और किसी-किसी में क्षीण होता रहता है तब व्यतिरेक के साथ अथवा पृथक् करके कहीं-कहीं वैराग्यावस्था दृढ़ करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाने से, उसे व्यतिरेक-वैराग्य कहते हैं। अभ्यास के द्वारा इसको आधीन करने पर जब सब इन्द्रियाँ बाह्यविषयों से भली भाँति निवृत्त हो जाती हैं किन्तु उत्सुकता के रूप में मन में कुछ अनुराग अवशिष्ट रहता है तब उसे एकेन्द्रिय कहा जाता है क्योंकि वह केवल मनोरूप एक ही इन्द्रिय में रहता है। इसके बाद जब जितेन्द्रिय योगी इच्छापूर्वक राग को और अधिक निवृत्त करने के लिए बाध्य नहीं होते और चित्त और अन्य इन्द्रिय लौकिक तथा पारलौकिक सभी विषयों से अपने आप ही निवृत्त हो जाते हैं तब वशीकार नामक वैराग्य होता है। इसमें विषयों की ओर परम उपेक्षा रहती है।

तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—दृष्टानुश्रविक विषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात् तच्छुद्धि-प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति, तद्द्वयं वैराग्यं, तत्रयदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते "प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नःश्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्य अविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायते, इति।" ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एतस्यैव हिनान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

१६—पुरुषख्याति होने के पश्चात् गुणवैतृष्ण्य रूप वैराग्य ही परवैराग्य कहलाता है।

भाष्यानुवाद—दृष्टादृष्ट-विषय-दोष-दर्शी, विरक्त-चित्त योगी द्वारा पुरुष का दर्शनाभ्यास करते करते तद्विषयक दर्शन की शुद्धि या सत्त्वैकतानता पैदा होती है। इस शुद्ध दर्शन से उत्पन्न प्रकृष्ट विवेक के द्वारा आप्यायित या उत्कृष्ट-बुद्धि या तृप्त-बुद्धि

योगी व्यक्ताव्यक्त धर्मक गुण-समूह म (२) विरक्त (३) होते हैं। अतएव वैराग्य दो प्रकार का है जिनमें अन्तिम अर्थात् पर वैराग्य ज्ञानप्रसाद-मात्र होता है। यह वैराग्य होने पर प्रत्युदित-ख्याति (आत्मज्ञानी) योगी इस प्रकार सोचते हैं: —प्राप्य को प्राप्त हो चुका हूँ, क्षेतव्य (क्षीण करने योग्य) सभी विषय क्षीण हो चुके हैं, श्लिष्टपर्व या अविरल भव-संक्रम (जन्ममरण प्रवाह) छिन्न भिन्न हो चुके हैं (जिसके छिन्न भिन्न न होने से जीवगण आवागमन में फँसे रहते हैं) ज्ञान की पराकाष्ठा वैराग्य है और कैवल्य वैराग्य का अविनाभावी है। अर्थात् विना वैराग्य के मोक्ष होना असंभव है।

टीका—१६। (१) (२) प्रविवेक का अर्थ ज्ञानकी पराकाष्ठा है। केवल चित्त के निरुद्ध होने से हीं कैवल्य सिद्धि नहीं होती। पारवश्य या अपनी इच्छा की अनधीनता के कारण निरोध का (प्राकृतिक नियम से) जो भंग होता है वह जब और नहीं होता तब उसको कैवल्य कहा जाता है। अभंगनीय निरोध के लिए वैराग्य आवश्यक होता है। और वैराग्य के लिए तत्त्वज्ञान (पुरुष भी एक तत्त्व है)। वशीकार वैराग्य के द्वारा चित्त को विषय से निवृत्त कर पुरुषख्याति की सहायता से निरोधसमाधि का अभ्यास करना पड़ता है। पुरुषख्याति के समय में चित्त, वाह्य विषयशून्य ,केवल विवेक विषय से सम्बन्धित रहता है। जो वशीकार-वैराग्य पूर्वक वाह्य-विषय से चित्त-निरोध करके बुद्धि और पुरुष की भेदख्याति (विवेक ख्याति) नहीं साधते हैं, केवल अव्यक्त या शून्य को चरम तत्त्व जानकर उसी में समाहित होते हैं (जैसे कि कुछ बौद्ध संप्रदाय), उनका वैराग्य पूर्ण नहीं होता इसलिए चित्त का निरोध भी शाश्वतिक-सार्वकालिक नहीं होता है, क्योंकि उनका वैराग्य वस्तुतः व्यक्त विषय पर (इहामुत्र विषय पर) सिद्ध हो जाता है किन्तु अव्यक्त विषय में सिद्ध नहीं होना। अतः वे प्रकृति में लीन रहकर पुनः उठते हैं। इसके अतिरिक्त अव्यक्त तथा पुरुष की भेदख्याति न होने के कारण उनका सम्यक्‌दर्शन भी सिद्ध नहीं होता। उसी सूक्ष्म अज्ञान बीज से ही उनका पुनरुत्थान होता है। इस कारण योगी लोग वशीकार वैराग्य-संपन्न होकर पुरुषदर्शन के अभ्यास के साथ चेतन-सी बुद्धि से चिद्रूप पुरुष का पृथकत्व साक्षात् कर सब विकारों के मूलस्वरूप अव्यक्त में भी वितृष्ण होते हैं अर्थात् वे तीनों गुणों की व्यक्त वा अव्यक्त (शून्यवत्) सभी अवस्थाओं में विरक्त होते हैं।

१६—(३) राग बुद्धि (अंतःकरण) का धर्म है। अतः वैराग्य भी उसीका धर्म है। राग से प्रवृत्ति होती है और वैराग्य से निवृत्ति। जिस बुद्धि के द्वारा पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार होता है उसे अग्र्या बुद्धि कहते हैं। श्रुति कहती है, "**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**" (कठ १।३।१२)। पुरुषख्याति होने से उसके द्वारा आप्यायित बुद्धि फिर अव्यक्त में वा शून्य में समाहित होने के लिये अनुरक्त नहीं होती किन्तु द्रष्टा के स्वरूप में सम्यक् स्थिति के लिये प्रवृत्त होकर शाश्वती शांति को पाती या उसमें प्रलीन होती है। गुण और गुण विकार से उस समय सम्यक् वियोग हो जाता है। पर-वैराग्य एवं निर्विप्लवा पुरुषख्याति अविनाभावी होते हैं। उसी के द्वारा ही चित्तप्रलयरूप कैवल्य सिद्ध होता है।

१७—(४) ज्ञान का प्रसाद—इसका अर्थ, ज्ञान की चरम शुद्धि है। मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान ही दुःख निवृत्ति का प्रमुख अथवा गौण कारण होता है। जिस ज्ञान से दुःख की एकांत तथा अत्यंत निवृत्ति होती है वही चरम ज्ञान होता है। उससे अधिक और कुछ

ज्ञातव्य नहीं रह जाता। पर-वैराग्य स दुःख की एकांत तथा अत्यंत निवृत्ति होती है। अतः परवैराग्य ही ज्ञान की चरम अवस्था या चरम शुद्धि है, और वह ज्ञान स्वरूप होती है। क्योंकि उसम अन्य कुछ भी प्रवृत्ति नहीं रहती। प्रवृत्ति के अभाव में चित्त समाहित रहता है और केवल पुरुषख्याति ही अवशिष्ट रहती है। अतः प्रवृत्तिशून्य ज्ञान प्रासाद मात्र होता है। प्रवृत्ति-हीन अथवा जाड्य हीन चित्तस्थिति होने से प्रकाश या ज्ञान होता है। 'प्राप्य को प्राप्त कर चुका हूँ।' इत्यादि भाष्य के द्वारा भाष्यकार ने प्रवृत्तिशून्यता तथा ज्ञान-प्रासाद-मात्रता दिखाई हैं। पर-वैराग्य के विषय में श्रुति का कथन है **'अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।'** (कठोपनिषद्)

भाष्यम्—अथ उपायद्वयेन निरुद्ध चित्तवृत्तेः कथमुच्यते संप्रज्ञात समाधिरिति ?—

वितर्कविचारानन्दास्मिता रूपानुगम त् संप्रज्ञातः ॥१७॥

वितर्कः चितस्य आलम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः, आनंदो 'ह्लादः, एकात्मिका संविद् अस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचार विकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलः अस्मितामात्र इति। सर्वे एते सालम्बनाः समाधयः ॥१७॥

भाष्यानुवाद—उपायद्वय के (अभ्यास तथा वैराग्य के) द्वारा निरुद्ध चित्त की वृत्ति को संप्रज्ञात समाधि (१) क्यों कहा जाता है ?—

१७—वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता इन चार भावों के अनुसार (अर्थात् इन चार पदार्थों के ग्रहण या अतिक्रमण के साथ होनां ही अनुगत भाव से होना है) समाधि संप्रज्ञात होती है।

प्रथम है वितर्क अर्थात् किसी आलम्बन म समाहित (२) चित्त के आलम्बन का स्थूल रूप-विषयक आभोग अर्थात् स्थूल रूप की साक्षातकारिणी प्रज्ञा। द्वितीय है विचार-सूक्ष्म आभोग (३)। तृतीय है आनन्द-ह्लादयुक्त आभोग (४) चतुर्थ है अस्मिता = एकात्मिका संविद् (५)। इनमें प्रथम सवितर्क समाधि चतुष्टयानुगत है। द्वितीय सविचार समाधि वितर्क-विकल (६) है। तृतीय सानन्दसमाधि विचार-विकल (७) है। चतुर्थ आनन्दविकल अस्मितामात्र (८) है। ये सब समाधियाँ सालम्बन (९) हैं।

टीका—१७—(१) प्रथम सूत्र के भाष्य तथा टिप्पणी में संप्रज्ञात योग का जो विवरण है पाठक उसे स्मरण रखें। एकाग्रभूमिक चित्त में समाधिसिद्धि होने पर जो क्लेशों के मूल की नाशकारिणी प्रज्ञा होती है वही सम्प्रज्ञात योग है। जिस समाधि से साक्षात्कार-वती प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसके वितर्क आदि चार प्रकार के भेद हैं। विषयगत भेदों के अनुसार वितर्क आदि भेद होते हैं। सवितर्क और निर्वितर्क वा सविचार और निर्वि-चार-रूप से जो समापत्ति भेद हैं वे समाधि के विषयगत प्रकृतिगत भदों से होते हैं। (१।४१-४४ सूत्र देखिये)।

१७—(२) शब्द, अर्थ, ज्ञान और विकल्प से युक्त चित्तवृत्ति यदि स्थूलविषयक हो तो उसे वितर्कान्वयी वृत्ति कहते हैं। साधारण इन्द्रियों के द्वारा जो गौ, घट, नील-पीतादि विषय गृहीत होते हैं वे ही स्थूल विषय हैं। वास्तव म कहने का तात्पर्य यह है कि स्थूल ग्राहक इन्द्रियों के द्वारा जब शब्द-रूपादि नाना इन्द्रिय-ग्राह्य धर्म संकीर्ण-भाव से गृहीत होकर एकमात्र द्रव्य रूप में ज्ञात होते हैं। यही स्थूलता का साधारण लक्षण है। उदाहरणार्थ गौ को ही लीजिए, गौ का स्थूल-ज्ञान इन्द्रिय-ग्राह्य बहुविध धर्म समष्टि के संकीर्ण ग्रहण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार स्थूल विषय शब्दादि पूर्वक शब्द वाच्यरूप में समाधि प्रज्ञा का विषय होता है तब उसको सवितर्क कहते हैं और वितर्कहीन समाधि को निर्वितर्क कहते हैं। ये दोनों ही वितर्कानुगत संप्रज्ञात हैं (१।४२ सूत्र देखिये)।

१७—(३) स्थूलविषयक समाधि वशीकृत होने पर उस समाधि के अनुभव के साथ विचार विशेष से सूक्ष्मतत्व का संप्रज्ञान होता है। यही सविचार 'सम्प्रज्ञात' है। शब्द की सहायता के बिना विचार नहीं होता, अतः यह भी शब्दार्थ के ज्ञान की विशेष विधि से सम्बद्ध है किन्तु यह (विचार) सूक्ष्म विषय से सम्बन्धित होता है। चित्त (अर्थात् ध्यानकालीन) विचार विशेष इसका विशेष लक्षण होता है। अतः यह वितर्क-विकल अर्थात् वितर्करूप अंग से हीन होता है। सूक्ष्म, ग्राह्य और ग्रहण इस समाधि के विषय हैं। पुनः, इसमें विचारपूर्वक सूक्ष्म ध्येय के प्राप्त होने के कारण इसका नाम सविचार है। यह और 'निर्विचार' दोनों ही 'विचार'-पदार्थ ग्रहण करके सिद्ध होने के कारण दोनों ही विचारानुगत समाधि हैं। विकृति से प्रकृति में जिस विचार के द्वारा जाते हैं वह यही विचार है; तथा हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय इन विषयों का ज्ञान जिस समाधि के द्वारा सूक्ष्मतर या स्फुटतर होता है, वह भी 'विचार' है। तत्त्व और योग विषयक सूक्ष्मभाव इस प्रकार विचार के द्वारा उपलब्ध होते हैं, अतः सूक्ष्म विषयक समाधि का नाम विचारानुगत-समाधि है।

१७—(४) आनन्दानुगत समाधि वितर्क तथा विचार से हीन होती है। वह स्थूल और सूक्ष्म भूतविषयक नही हैं। विशेष-स्थिरता से उत्पन्न चित्तादिकरण में व्याप्त सात्त्विक सुखमय भावविशेष इस समाधि का आलम्बन होता है। शरीर, चित्त, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं प्राणों का यह अधिष्ठानस्वरूप होता है। अतः वह आनन्द सम्पूर्ण शरीर का, सात्त्विक स्थैर्य या स्थैर्य का स्वाभाविक बोधस्वरूप है फलतः सानन्द समाधि वस्तुतः करण या ग्रहण विषयक है। करणसमूह के विषय व्यापार की अपेक्षा उनकी शांति ही परम आनन्द दायक है, ऐसा संप्रज्ञान आनन्दानुगत समाधि का फल होता है। इस सम्प्रज्ञान से आनन्दित योगी करणसमूह को सदा के लिये शांत करने में प्रयत्नशील होते हैं। विशेष प्राणायाम के द्वारा अथवा नाड़ी चक्ररूप शारीरिक मर्मस्थान के ध्यान से शरीर के सुस्थिर होने पर शरीर में व्याप्त जिस सुख का अनुभव होता है। केवल उसी के सहारे ध्यान करते करते आनन्दमय करण प्रसाद-रूप भाव की प्राप्ति होती है। यही सानन्द समाधि का साधन है। वाचस्पति मिश्र सास्मित समाधि की तुलना में सानन्द अस्मिता को स्थूलभाव कहते हैं, कारण, चित्तादि सब करण अस्मिता के विकार या स्थूल अवस्था हैं।

वितर्क में जैसे वाचक शब्द की सहायता से चित्त में प्रज्ञा होती है, इसमें वाचक शब्द की उतनी अपेक्षा नहीं होती। कारण, यह अनुभूयमान आनन्द विषयक है। किसी शब्द की यदि अपेक्षा होती भी तो आनन्द-शब्द की ही अपेक्षा रहेगी; किन्तु वह निरर्थक है।

भूत से तन्मात्र म जान के लिए जिस विचारपूर्वक ध्यान की आवश्यकता होती है, इसम उसकी भी नहीं होती। विचारानुगत संप्रज्ञात का विषय जो सूक्ष्मभूत है उसकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिये यह वितर्क-विचार-विकल होता है। समापत्ति की दृष्टि से यह निर्विचारा समापत्ति का विषय है।

इसी विषय पर मोक्षधर्म में कहा है—"इन्द्रयाणि मनश्चैव यथा पिण्डीकरोत्ययम्। **एष ध्यानपथः पूर्वो मया समनुवर्णितः॥ एवमेवेन्द्रियग्रामं शनैः सम्परिभावयेत्। संहरेत् क्रमशश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति॥ स्वयमेव मनश्चैवं पञ्चवर्गं च भारत। पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्योगेन शाम्यति॥ न तत् पुरुष कारेण न च दैवेन केनचित्। सुखमेष्यति तत्तस्य यदेवं संयतात्मनः॥ सुखेन तेन संयुक्तोरंस्यते** ध्यानकर्मणि।" (मोक्षधर्म—१९५ अ०) **अर्थात्** अभ्यास के द्वारा इन्द्रिय समूह को विषयहीन करके मन में पिण्डीभूत करने से (ग्रहणतत्त्वमात्र का अवलंबन करने से) जो उत्तम सुखलाभ होता है वह दैव अथवा लौकिक दूसरे किसी पौरुष से प्राप्त विषय के लाभ से नहीं हो सकता है। इस सुख से संयुक्त होकर ही योगी ध्यान और कर्म म रमण करता है।

१७—(५-८) बाह्यावलम्बी तथा वितर्क एवं विचार की अनुगत समाधि, विषय से सम्बन्धित होती है। आनन्दानुगत समाधि ग्रहण विषय से और अस्मितानुगत समाधि ग्रहीतृ विषय से संबधित होती हैं। ग्रहीतृ-विषयक, अर्थात् 'मैं आनन्द का ग्रहीता हूँ' इस प्रकार केवल अहं विषयक होने के कारण यह आनन्द विकल है। आनन्द विकल का अर्थ है आनन्द से अतीत, किन्तु निरानन्द नहीं; यह आनन्द की अपेक्षा अभीष्ट शान्ति स्वरूप है। सानन्द के ध्यान में समस्त साधन से संपन्न आनन्द उसका विषय होता है। आनन्दविकल सास्मित ध्यान में वह आनन्द का विषय नहीं होता, किन्तु आनन्द का ग्रहीता ही विषय होता है। यही सानंद और सास्मित का भेद है। पुरुष वस्तुतः इस समाधि के विषय नहीं होते, प्रत्युत् अस्मितामात्र या "अहं" ऐसा बोधमात्र ही इस समाधि का विषय होता है। इस आत्मभाव का नाम ग्रहीतृ पुरुष है। पुरुष के आश्रय से यह व्यक्त होता है। ग्रहीतृ-पुरुष इस समाधि का विषय होने के कारण सास्मित समाधि को ग्रहीता से संबंधित कहा जाता है। सास्मित समाधि का आलंबन-स्वरूप-द्रष्टा नहीं है, परन्तु विरूप द्रष्टा, व्यवहारिक ग्रहीता अथवा महान् आत्मा ही उसका आलंबन होता है। सांख्य शास्त्र म इसे महत्तत्त्व कहा गया है। यह पुरुषाकारा बुद्धि या 'मैं अपना ज्ञाता हूँ' ऐसी पुरुष के साथ एकात्मिका संविद् (चेतना) होती है। संविद का अर्थ चित्तभाव या बद्धि का बोध है।

इस विषय में व्याख्याकारों में मतभेद हैं। विज्ञानभिक्षु का मत सार पूर्ण नहीं है। भोजराज कहते हैं—"जिस दशा में अंतर्मुखता के कारण प्रतिलोम परिणाम के द्वारा चित्त प्रकृतिलीन होने से सत्तामात्र अवभात होता है, वही शुद्ध अस्मिता होती है।" यह कथन गंभीर होने से भी लक्ष्य-भ्रष्ट है, क्योंकि प्रकृतिलीन चित का विषय नहीं रह सकता, व्यक्त चित्त का ही विषय होता है। सास्मित समाधि सालंबन है इसलिए अव्यक्तता प्राप्त चित्त का वह धर्म नहीं हो सकती है। * सास्मित समाधि प्राप्त व्यक्ति अंतर्मुख होकर

* अव्यक्त प्रकृति को छोड़ कर अन्य प्रकृति में लीन रहने से चित्त का आलम्बन रह सकता है। इस अर्थ में भोजराज की उक्ति ठीक है।

जब विषयग्रहण नहीं करते तब उनका चित्त प्रकृतिलीन हो जाता है; किन्तु उस समय सास्मित समाधि नहीं रहती, तब भवप्रत्यय निर्वीज समाधि हो जाता है और योगी 'कैवल्य-पद' के सदृश पद का अनुभव करते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने यथार्थ व्याख्या की है—**"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीति एवं तावत्संप्रजानीते"** (१—३६) भाष्योद्धृत इस पंचशिखाचार्य के वचन से सास्मित समाधि, और बुद्धि तत्त्व का स्वरूप प्रस्फुटित होता है। वस्तुतः "मैं" इस प्रकार का प्रत्यय मात्र अथवा अन्तर्भाव ही बुद्धितत्त्व होता है। "मैं ज्ञाता हूँ" "मैं कर्त्ता हूँ" इत्यादि प्रत्ययों से यह सिद्ध होता है कि अहम्भाव समस्त करण-व्यापारों का मूल या शीर्ष स्थानीय है। बुद्धितत्त्व भी व्यक्त तत्वों में सर्व प्रथम है। ज्ञान कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो ज्ञान रहने से ज्ञाता अवश्य रहेगा, ज्ञान का सम्यक् निरोध होने से ज्ञेय-ज्ञातृत्व अथवा व्यावहारिक अहम्भाव का निरोध होगा। तत्पश्चात् द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति होगी। श्रुति में भी कहा है, **"ज्ञानमात्मेनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ कठ ॥** अतएव यह महान् आत्मा या महत्तत्व या बुद्धितत्व एवं अमित्व-मात्र बोध एक ही हुए। बुद्धि का विकार अहंकार है अतएव अहम्प्रत्यय को जो "मैं अमुक वस्तु का ज्ञाता या कर्ता हूँ" इत्यादि जो अन्यथा-भाव है वही अहंकार है। शास्त्र भी कहते हैं—**'अभिमानोऽहंकारः।'** भोजराज का कथन है—**"अहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहंकारः।"** यह **'अहम्'** अस्मिता मात्र नहीं किन्तु अभिमानरूप होता है। सूत्रकार ने दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति की एकता को अस्मिता कहा है। बुद्धि के साथ ही पुरुष की सूक्ष्मतम एकता है। विवेकख्याति के द्वारा उसका अपगम होने से बुद्धि लीन होती है। अतः सास्मित समाधि चरम अस्मिता-स्वरूप बुद्धितत्त्व का साक्षात्कार है। वही अस्मि-प्रत्ययरूप व्यवहारिक ग्रहीता है।

१७—(९) संप्रज्ञात समाधियों में चित्त व्यक्तधर्मक (-अर्थात् असम्यक् निरुद्ध) रहता है। इसलिए उसका आलम्बन अविनाभावी है। फलतः ये सालम्बन समाधियां हैं। वक्ष्यमाण (आगे कथनीय) असम्प्रज्ञात निरालंब होती है। सालंवन समाधि भली भांति न समझने से निरालंब समाधि का समझना कठिन हो जाता है, पाठकों को यह ध्यान रखना चाहिए।

भाष्यम्—अथासंप्रज्ञात समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति ?—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिः असंप्रज्ञातः, तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो हि अभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पते इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलंबनीक्रियते, स च अर्थशून्यः, तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालंबनमभाव प्राप्तमिव भवतीति एष निर्वीजः समाधिरसंप्रज्ञातः ॥ १८ ॥

भाष्यानुवाद—असंप्रज्ञात समाधि किस उपाय द्वारा साध्य है और उसका स्वरूप क्या है ?—

१८—विराम (सब प्रकार की सालम्बन वृत्ति का निरोध) के कारण भूत पर-वैराग्य के अभ्यास द्वारा साध्य संस्कार-शेष-रूप समाधि असम्प्रज्ञात है।

सब वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार-शेष-रूप समाधि असम्प्रज्ञात कही जाती है। इसका साधन पर-वैराग्य है, क्योंकि, सालम्बन अभ्यास इसका साधन नहीं हो सकता। विराम का कारण परवैराग्य वस्तुहीन आलम्बन के सहारे प्रवृत्त होता है, उसमें कुछ भी चिन्त्य पदार्थ नहीं रहता है। वह अर्थ-शून्य है और उसका अभ्यासी चित्त निरालम्ब और अभावापन्न-सा होता है। इस प्रकार की निर्वीज समाधि ही असम्प्रज्ञात कही जाती है।

टीका—१८। (१) संस्कार शेष = संस्कारमात्र जिसका स्वरूप हो। निरोध प्रत्ययात्मक अर्थात् नील-पीतादि की भाँति ज्ञान वृत्ति नहीं होता, किन्तु प्रत्यय-विच्छेद का संस्कार मात्र होता है इसलिये वह संस्कार शेष है। चित्त के दो धर्म हैं—प्रत्यय और संस्कार। निरोध काल में प्रत्यय नहीं रहता किन्तु प्रत्यय पुनः उठ सकता है। इस कारण प्रत्यय होने का या व्युत्थान का संस्कार उस समय चित्त में रहता है, यह स्वीकार्य्य है। अतएव संस्कार शेष का अर्थ व्युत्थान और निरोध इन दोनों का संस्कार-शेष है। निरोध संस्कार व्युत्थानसंस्कार का विच्छेद होता है, अतः 'संस्कार-शेष' पद का "विच्छिन्न-व्युत्थान संस्कार शेष" ऐसा अर्थ भी हो सकता है। कोई व्यक्ति यदि एक घंटा तक निरोध कर सके तो वस्तुतः उनका व्युत्थान संस्कार (प्रत्यय के साथ) एक घंटा के लिये दबा रहता है। अतएव निरोध विच्छिन्न-व्युत्थान है। निरोध को अव्यक्त अवस्था मानने से संस्कार शेष का अर्थ विच्छिन्न-व्युत्थान-संस्कार शेष होगा और निरोध को व्यक्त अवस्था स्वरूप मानने से 'निरोध संस्कार शेष' और 'व्युत्थान-संस्कार-शेष', यह अर्थ होगा। यहाँ संस्कार शेष का अर्थ है, जिस अवस्था में **व्युत्थान संस्कार निरोध संस्कार के द्वारा** प्रत्यय उत्पन्न नहीं करता। वही संस्कार-शेष या संस्कार-मात्र रूप में रहता है।

१८—(२) इस समाधि का उपाय है "विराम प्रत्ययाभ्यास" अर्थात् विराम के प्रत्यय * या कारण परवैराग्य का अभ्यास या बारंबार भावना। परवैराग्य द्वारा किस प्रकार विराम होता है यह प्रदर्शित किया जाता है। संप्रज्ञात योग में स्थूलतत्त्व को भली भाँति जान कर क्रमशः महत्तत्वरूप अस्मिभाव में निश्चल स्थिति होती है। अस्मिभाव में स्थूल इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं रहता है किन्तु वह सुसूक्ष्म विज्ञान का ज्ञापक होता है (बौद्धों की भाषा में, **'नैव संज्ञा ना संज्ञायतनम्'**)। वह सत्त्वगुणमय सर्व-शीर्षभाव है। 'ऐसे अस्मिभाव को भी नहीं चाहता' ऐसा विचार कर निरोध वेग ले आने से फिर दूसरी कोई भी चित्तवृत्ति नहीं उठ सकती। तब चित्त लीन अभावापन्न सा होता है या अव्यक्तावस्था में आ जाता है। इसे निरोधक्षण भी कहते हैं। यह अवस्था ही द्रष्टा की स्वरूप स्थिति है। उस समय ज्ञ-मात्र का निरोध नहीं होता, अनात्म ज्ञान निरुद्ध होता है। अतएव अनात्मभाव का ज्ञापक

---

* भोजराज ने "विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति" ऐसा अर्थ किया है। यहाँ भी प्रत्यय का अर्थ कारण ही माना जायगा। प्रत्यय का अर्थ साधारणतः ज्ञानवृत्ति है। किन्तु भाष्यकर ने सब वृत्तियों के अभाव को विराम कहा है। अतएव यहाँ प्रत्यय का अर्थ है साक्षात् कारण। यही अर्थ स्पष्ट होता है।

अस्मिभाव भी रुद्ध हो जाता; किन्तु उसमें भी परवैराग्य का कर्त्ता या निरोध का कर्ता निष्पन्नकृत्य ज्ञापकमात्र होकर रहेगा। विषयविश्लिष्ट करके हम विज्ञान को रुद्ध कर सकते हैं पर उसमें विज्ञाता का अभाव नहीं हो सकता। ज्ञान का कारण विषयसंयोग है; संयोग होने में दो पदार्थों की आवश्यकता रहती है। एक तो विषय है, किन्तु दूसरा कौन है ? बौद्ध लाग कहेंगें वह विज्ञान धातु है। किन्तु विज्ञानधातु क्या है ? बौद्ध इसका ठीक उत्तर नहीं दे पाते हैं। वे धातु का अर्थ करते हैं, निःसत्त्व-निर्जीव। निःसत्त्व-निर्जीव का अर्थ यदि चेतयिता-शून्य वा imperso al हो, तो "चेतयिता-शून्य विज्ञानावस्था" अर्थात् अन्य विज्ञाताहीन विज्ञान अवस्था या जो विज्ञान वही विज्ञाता—विज्ञान धातु का अर्थ ऐसा होगा। वह हमारे दर्शन की चितिशक्ति का निकट पदार्थ होता है। निःसत्त्व-निर्जीव का अर्थ यदि "शून्य" हो तथा शून्य का अर्थ यदि असत्ता हो, तो बौद्ध लोगों का विज्ञानधातु प्रलाप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

१८—(३) निर्बीज समाधि होने से ही वह असंप्रज्ञात नहीं हो जाती। जैसे सालंबन समाधिमात्र ही संप्रज्ञात नहीं है, किन्तु एकाग्रभूमिक चित्त की समाधि-प्रज्ञा चिरस्थायी होने पर उसको संप्रज्ञात कहा जाता है और उसी प्रकार संप्रज्ञान पूर्वक निरोधभूमिक चित्त की समाधि को असंप्रज्ञात कहते हैं। तब निरोध ही चित्त का स्वभाव हो जाता है। यह भेद विशेषरूप से समझ लेना चाहिए। असप्रंज्ञात कैवल्य का साधक होता है, पर निर्वीज कैवल्य का साधक नहीं भी हो सकता है; यह दूसरे सूत्र में कहा है। विज्ञानभिक्षु ने असंप्रज्ञात और निर्वीज का भेद न समझ कर कुछ गड़बड़ की है।

निरोध का स्वरूप भली भाँति समझना चाहिए। प्रत्ययहीनता ही निरोध होती है। प्रथमतः निरोध दो प्रकार का है, सभंग या संस्कार शेष और जो शाश्वत या संस्कार-हीनता से होता है। पुनः सभंग निरोध भी द्विविध है यथा, (क) एक प्रत्यय का भंग होकर निरुद्ध होना वा संस्कार में जाना। यह नियत क्षण-क्षण में होता रहता है एवं व्युत्थान अवस्था का यही स्वरूप है, यह निरोध लक्ष्य नहीं होता। (ख) समाधि के द्वारा जो कुछ काल तक सम्यक् प्रत्ययहीनता होती ह, यही निरोध समाधि नाम से प्रसिद्ध होती है।

सभंग निरोध केवल प्रत्यय का निरोध है, उसमें प्रत्यय संस्काररूप में जाता है। शाश्वत निरोध या कैवल्य है संस्कारक्षय में सम्यक् प्रत्ययनिरोध तथा समग्र चित्त का (प्रत्यय तथा संस्कार का) स्वकारण त्रिगुण म प्रलय या प्रतिप्रसव। व्युत्थान दशा में नियत संस्कार से प्रत्यय उठता है, अतः प्रत्ययहीनता अलक्ष्य होती है ऐसा जान पड़ता है मानों अविरल प्रत्यय-प्रवाह चल रहा है। समाधि की कुशलता से जब संस्कार की उदय-शीलता क्षीण होती है तथा प्रत्यय को लीयमानता का प्रवाह चलता है, तब उसी को निरोधसमाधि कहा जाता है। इस अवस्था में व्युत्थान का विपरीत भाव होता है अर्थात् व्युत्थान में प्रत्यय की अविरलता प्रतीत होती है और निरोध में संस्कार की अविरलता रहती है। प्रत्यय की अविरलता को प्रतीति रहने से संस्कार की अविरलता के प्रतीत होने की संभावना स्वाभाविक है। समस्त संस्कार सूक्ष्म मानस-क्रिया-स्वरूप होने पर भी उस समय वे विराम-प्रत्यय के अभ्यास बल से अभिभूत या भक्तिहीन होकर कुछ काल तक प्रत्ययता प्राप्त नहीं हो सकते हैं। सभंग निरोध में प्रत्यय का अभिभव होने पर भी संस्कार भली भाँति बलहीन होने के कारण पुनरुत्थान की

संभावना जाती नहीं अतः वह संस्कार शष है। और, संस्कार प्रतिभूमि प्रज्ञा के द्वारा विनष्ट होने पर प्रत्यय तथा संस्कार-आत्मक समग्र चित्त ही अव्यक्तता या गुणसाम्य प्राप्त करता है। जब प्रत्यय तथा संस्कार ये दोनों धर्म ही भंगुर हैं तब समग्र चित्त भी भंगुर होता है। समग्र चित्त की भंग अवस्था प्रति शरीर में गुण साम्य प्राप्ति है। पहिले अन्य वृत्तियों का निरोध करके एक ही वृत्ति में स्थिति, वह सम्पूर्ण होने पर सर्व वृत्ति का निरोध। पहले सर्व वृत्ति का निरोध तो भंगुर होगा ही, क्योंकि व्युत्थान संस्कार एकाएक नष्ट नहीं होता। निरोध अभ्यास या निरोध संस्कार के द्वारा क्रमशः उसके नष्ट होने पर दुबारा प्रत्ययोत्पत्ति की सामर्थ्य नहीं रहती, अतएव उस समय संस्कार-प्रत्यय-हीन शाश्वत निरोध या प्रति-प्रसव होता है। चित्त-भूत उस गुण वैषम्य का केवल साम्य होता है, किसी का अत्यंत नाश नहीं होता।

संस्कार रूप में रहना अपरिदृष्ट अवस्था है, वह गुणसाम्यरूप अव्यक्त अवस्था नहीं है। तरंग के साथ उपमा देनेपर समतल जल गुणसाम्य है, उस समतल रेखा का ऊपरी भाग प्रत्यय और निम्न-भाग संस्कार है। प्रत्यय से संस्कार में तथा संस्कार से प्रत्यय में जाने के लिये उस 'समतल रेखा' को लाँघना होगा। यही समग्र चित्त का भंग या गुणसाम्य है। जैसे कोई दोलनशील वस्तु इधर उधर हिलती डोलती हुई एक ऐसी जगह पर ठहरेगी जहाँ इधर उधर जाना सम्भव नहीं, अतः स्थित हो जाती है, वैसे ही चित्त की भी उसी प्रकार की धर्मान्तरता का मध्यस्थल सम्यक भंग होता है। वृत्ति की अभिव्यक्ति क्षणभर होती है और दूसरे क्षण ही उसका भंग हो जाता है अतः उसके अनुरूप संस्कार भी क्षण क्षण में नष्ट होते रहते हैं। अतः संपिण्डित संस्कारसमूह का तथा उनके फलरूप प्रत्ययों का उक्त प्रकार से प्रतिक्षण भंग होता रहता है। जिसके द्वारा तरंग होती है उस क्रिया को बहुत अधिक बार करने से जैसे तरंगप्रवाह अविरल सा प्रतीत होता है और भंग होने पर भी वह दिखाई नहीं देता, वैसे ही चित्त के व्युत्थान-काल में भी प्रत्यय अभंग सा प्रतीत होता है। निरोध जनक क्रिया घनीभूत होने से निरोध तरंग का प्रवाह (प्रशांतवाहिता) एक रूप सा प्रतीत होता है। वही निरोधक्षण होता है। (यहाँ पर संस्कारात्मक निरोध को समतल जल के निम्नस्तर के साथ एवं प्रत्ययात्मक व्युत्थान को समतल जल के ऊपर की तरंगों के साथ उपमित किया गया है, ऐसा समझना चाहिये)। तरंगजनक क्रिया न करने से जैसे जल समतल रहता है वैसे ही व्युत्थानजनक क्रिया न करने से अर्थात् उस निष्क्रियता के द्वारा व्युत्थान संस्कार का नाश होने से चित्त में तरंगे नहीं रहतीं, गुण-साम्य-रूप समतलता ही रहती है वही कैवल्य होता है।

व्यापी कालज्ञान प्रत्यय का संख्यामात्र होता है। अनेक वृत्तियाँ उठने पर दीर्घकाल मालूम होता है। अतः निरुद्ध चित्त का स्थिति-काल उसके लिये एक क्षणमात्र है अर्थात् साधारण प्रत्यय अथवा भंग के समान केवल एक क्षण व्यापी होता है, यद्यपि वही समय अनेक वृत्तियों के अनुभवकर्त्ता के पास दीर्घकाल-सा प्रतीत हो सकता है। अतएव प्रतिक्षणिक भंग जैसे क्षणमात्र होता है, वैसे ही दीर्घकाल व्यापी निरोध भी निरुद्ध चित्त के लिये क्षणमात्र अर्थात् कालज्ञान-हीन होता है। केवल संस्कार की उदयशीलता का ही क्षय अथवा विनाश होता है।

संस्कार शक्तिरूप होने से भी व्यक्तशक्ति है, क्योंकि वह हेतुमान् और अव्यापी है। गुणत्रय अहेतुमान् और सर्वव्यापी शक्ति होने के कारण अव्यक्त शक्ति है। वर्तमान काल

क्षणमात्र होने के कारण जो वर्तमान है सो क्षणमात्र व्यापी है, वही भंगुर होने पर क्षण-भंगुर होता है ।

क्षण-भंग-वादी बौद्धों के मत में प्रतिक्षण समग्र चित्त (प्रत्यय तथा संस्कार) निरुद्ध हो रहा है । यह सांख्य के मत में भी है । किन्तु उनका यह कहना कि निरुद्ध होकर 'शून्य' हो जाता है तथा 'शून्य' से पुनः 'भाव' उठता है, युक्तिहीन है, क्योंकि चित्त का कारण शून्य नहीं होता । त्रिगुण तथा पुरुष ही चित्त के कारण होते हैं ।

सभंग निरोध में संस्कार रहता है अतएव ऐसे निरोध में भंगुरता की अनुभूति के बाद ही निरोध होता है और निरोध भंग की भी अनुभूति होती है । इसी से 'मेरा चित्त निरुद्ध था' ऐसी अनुभूति होती है । 'मैंने निरोध प्रयत्न के द्वारा प्रत्यय रुद्ध किया था, वह फिर जाग गया है' ऐसा स्मरण ही निरोध की अनुस्मृति है । प्रत्येक क्रिया ही (मानस क्रिया भी) सभंग है । उसकी भंग अवस्था में वह स्वकारण में लीन होकर व्यक्तित्व खो बैठती है । व्यक्तित्व खो बैठने का अर्थ है तुल्यबल जड़ता के द्वारा क्रिया का अभिभव होना अर्थात् प्रकाशित या ज्ञानगोचर न होना । अतः वह उस वस्तुगत प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति का साम्य है । जब समग्र अंतःकरण ऐसी स्थिति पाता है तब उसके मूल कारण त्रिगुण की साम्यावस्था हो जाती है ।

प्रत्यय प्रख्या और प्रवृत्ति स्वरूप है, अतः प्रत्यय संस्कार का अर्थ है ज्ञान और चेष्टा का संस्कार । अतः व्युत्थान का अर्थ, कोई ज्ञान और उसकी उत्थान रूप चेष्टा । प्रत्यय के रहते जैसे चित्त प्रत्यय वा परिदृष्टि धर्म के रूप में रहता है वैसे ही प्रत्यय का निरोध होने पर चित्त संस्कारगत होकर रहता है । प्रत्यय तथा संस्कार दोनों ही त्रैगुणिक चित्तभाव हैं । उनमें परिदृष्ट को प्रत्यय और अपरिदृष्ट को संस्कार कहते हैं ।

क्या बिना प्रत्यय के संस्कार रह सकता है—ऐसे प्रश्न का यथार्थ अर्थ है परिदृष्ट भाव के बिना केवल अपरिदृष्ट भाव से क्या चित्त रह सकता है ? इसका उत्तर है हाँ, निरोध की कुशलता से वह हो सकता है । 'मैं कुछ नहीं जानूँगा'—समाधि के बल से ऐसे निरोध प्रयत्न के द्वारा यदि विषय न जाना जाय तो विषय ग्रहीतृत्व भी (मैं विषय का ग्रहीता हूँ इस प्रकार का भाव भी) रुद्ध हो जायगा । ऐसे निरोध का यदि भंग हो जाय तो प्रत्ययो-त्थान का चेष्टारूप संस्कार था, इसके द्वारा भंग हुआ, ऐसा कहना होगा । अतएव उस समय चित्त संस्कारगत रहता है ऐसा कहा जाता है । प्रत्यय तथा संस्कार एक ही वस्तु के दो पहलू हैं । एक पहलू देखने से इसका अपरिदृष्ट होता है, आँखें मूँदने पर अर्थात् निरोधावस्था में दोनों ही अपरिदृष्ट होते हैं । (चित्त केवल संस्कार वा संस्कार शेष रहता है) तब परिदृष्ट (प्रत्यय) कुछ नहीं रहता है ।

निरोध के समय सम्यक् चित्तकार्य-रोध होने पर शरीर मन और इन्द्रियों के कार्य भी सम्यक् अवरुद्ध हो जायेंगे । शरीर रुद्ध हो जाने पर भी अनेक समय इन्द्रिय कार्य (अलौकिक दृष्टि आदि) रह सकते हैं, और मन स्तब्ध होने पर भी शरीर के कार्य श्वास-प्रश्वास, रक्त का आवागमन तथा परिपाक आदि हो सकते हैं । निरोध होने पर इन कार्यों का अस्तित्व-भान नहीं रहेगा । जो आदमी प्रकृति विशेष का है उसका मन स्तब्ध होने पर कुछ ही ज्ञान नहीं रहता, उसमें उस आदमी की अनुभूति की भाषा निरोध लक्षण के समान हो सकती है किन्तु वह प्रबल तामस भाव है । क्योंकि शरीर चलते रहने से वह चित्त

से ही परि-चालित होता है, निरुद्ध चित्त से शरीर परिचालित नहीं हो सकता है। निरोधकाल में समस्त यांत्रिक क्रिया—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और हृत्पिंडादि प्राणेन्द्रियों की क्रिया—रुद्ध होगी, कारण, मैंपन ही उन यंत्रों की संहत्यकारिता का मूल केन्द्र तथा प्रयोक्ता होता है। अतः निरोध के बाह्य लक्षण हैं, सर्व प्रथम शरीरिक क्रिया-समूह का अवरोध। स्वेच्छा से स्वच्छा-पूर्वक शरीर-निरोध न कर सकने पर कोई भी योग की निरोध-अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता। दूसरा, आभ्यंतर लक्षण है शब्दादि इन्द्रिय विषयों का रोध। ग्रहण और ग्रहीता की उपलब्धि न होने पर इनका सम्यक् रोध नहीं होता है। शारीर-क्रिया तथा इन्द्रिय-क्रिया को रुद्ध करके ग्रहीतृभाव में स्थिति करने से और उसमें समाहित होने से ही निरोध-वेग वा सर्वक्रियाशून्यता के वेग के द्वारा चित्त को निरुद्ध या अव्यक्तता प्राप्त कराई जा सकती है। अतएव समाधिसिद्धि के बिना निरोध नहीं हो सकता है। समाधिसिद्धि होने से योगी किसी भी विषय पर समाहित हो सकते हैं कारण, समाधि मन का स्वेच्छायत्त बल विशेष होता है, एक विषय में समाधि हो सकती है अन्य विषय में नहीं—ऐसा नहीं कहा जा सकता। रूप में समाहित हो सकने पर रस में भी समाहित हुआ जा सकता है।

यथार्थ निरोधकाल में मन के साथ शरीर के समस्त यंत्र अवश्य ही क्रियाहीन होंगे। यदि ऐसा न हो और केवल मन का स्तब्धीभाव ही हो तो सुषुप्ति वा मोहविशेष होगा। शरीर के यंत्रसमूह की क्रिया जब अस्मितामूलक है तब निरोध में उसकी समस्त क्रिया का अवरोध आवश्यक है। निरोधकाल में जो संस्कार रहता है उस संस्कार के आधाररूप सब शारीरिक धातु यांत्रिक क्रिया के अभाव से स्तम्भित प्राण (Suspended animation) अवस्था में रहते हैं। सात्त्विकभाव पूर्वक या सम्पूर्ण शरीर में आनन्द बोध पूर्वक आयासहीनता या निष्क्रियता (Restfulness) ले करके रुद्ध होने के कारण सब धातुएँ चिरकाल अविकृत भाव से रहती हैं। हठयोगी इसका उदाहरण होते हैं। निरोध भंग होने पर शरीर में यांत्रिक क्रिया लौट आने से धातु समूह भी पूर्ववत् हो जाता है।

इस प्रकार से स्वेच्छापूर्वक समाधि-बल के सहारे से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का ('मैंपन' का भी) रोध ही निरोध समाधि होती है। इस निर्वीज समाधि के असंप्रज्ञात और भव-प्रत्यय-रूप जो भेद हैं उनकी व्याख्या अगले सूत्र में देखिए।

प्रकृति विशेष के व्यक्तियों के चित्त सहज ही स्तब्ध हो जाते हैं। उस समय उन्हें कोई भी परिदृष्ट ज्ञान नहीं रहता। किन्तु श्वास प्रश्वास आदि शारीर क्रिया चलती रहती है सुतरां निद्रा-वस्था के समान तामस प्रत्यय रहता है। वे योगशास्त्र में सुशिक्षित न होने से भ्रांति वश यह सोचते हैं कि हमारी 'निर्विकल्प' निरोध आदि समाधि हो जा चुकी है। (१—३०(१) देखिए)।

भाष्यम्—स खल्वयं द्विविधः, उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च, तत्र उपायप्रत्ययो योगिनाम्भवति—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः, तेहि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन (मात्रोपभोगेन इति-

पाठन्तरम्) चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति, तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवंति यावन्न पुनरावर्तते अधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ १९ ॥

भाष्यानुवाद—वह निर्वीज समाधि द्विविध है—उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय (१) उनमें योगियों का उपाय प्रत्यय, तथा—

१९—विदेहलीन एवं प्रकृतिलीनों का भवप्रत्यय होता है ॥

विदेह—(२)देवताओं का (पद) भवप्रत्यय होता है; वे स्वकीय जाति के धर्मभूत (निरुद्ध वा अवृत्तिक) संस्कारगत चित्त द्वारा कैवल्य जैसी अवस्था अनुभव करके उसी प्रकार के सब संस्कार का विपाक या फल भोते हैं। वैसे ही प्रकृतिलीन पुरुष (३) अपनी साधिकार-चित्त (४) प्रकृति में लीन होने के बाद कैवल्य की भाँति पद अनुभव करते हैं, जब तक कि अधिकार वश उनके चित्त पुनरावर्तित न हों।

टीका—१९। (१) उपाय प्रत्यय =(१।२० सूत्र में देखिए) विवेक के साधक श्रद्धादि उपाय जिस के प्रत्यय वा कारण हैं। भवप्रत्यय शब्द का भव शब्द बहुत अर्थों में व्याख्यात हुआ है। मिश्र के मत में भव अविद्या है; भोजराज के मत में भव संसार है; भिक्षु के मत में भव जन्म है। प्राचीन बौद्ध शास्त्र में है **'भव पच्चया जाति'** अर्थात् जन्म का निर्वर्तक (साधक) कारण भव है। वास्तव में ये सब अर्थ आंशिक सत्य हैं। अविद्या के स्थान में भवशब्द प्रयोग करने का अवश्य ही कुछ कारण है; अतः भव केवल अविद्या नहीं है। सम्यक् रूप से जो नष्ट न हुआ हो अथवा जो सूक्ष्म अविद्या मूलक संस्कार हो—जिससे विदेहादियों का जन्म वा अभिव्यक्ति सिद्ध होती है—वही भव होता है। पूर्व संस्कारवश आत्म भाव की जो उत्पत्ति और अवच्छिन्न काल तक स्थिति और तदनु विनाश है, वही जन्म है। विदेहों का तथा प्रकृतिलीनों का पद भी इसलिये जन्म होता है। भाष्यकार कहते हैं कि स्वसंस्कार के उपयोग से उनके उसी उसी पद को प्राप्ति घटती है। सांख्य सूत्र में है प्रकृतिलीनों का पुनरावर्तन डूबे हुए के पुनरुत्थान के समान होता है। अतएव **जन्म का हेतुभूत अविद्यामूलक संस्कार ही भव है।** उस विदेहादि जन्म का कारण क्या है? प्रकृति और विकृति से आत्मा की पृथक् उपलब्धि न करना ही अर्थात् अविद्या ही उसका कारण है। समाधिसंस्कार के बल से वे इन अवस्थाओं को पाते हैं। अतएव सूक्ष्म अविद्यामूलक, जन्म का हेतु जो संस्कार है वह विदेहादियों का भव हुआ। सूक्ष्म अविद्या का अर्थ है जो असमाहितों की अविद्या जैसी स्थूल नहीं है और जो विवेक साक्षात्कार द्वारा सम्यक् नष्ट नहीं हुई है। साधारण जीव का भव होता है क्लिष्ट कर्माशयरूप अक्षीणीभूत अविद्यामूलक संस्कार।

१९—(२) विदेह-देव या विदेहलीनदेव। इस विषय में भी व्याख्याकारों का मत-भेद देखा जाता है। भोजराज कहते हैं "सानंद समाधि में (ग्रहण समापत्ति में) जो धृति के साथ प्रधान तथा पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया करते वे देहाहंकार से शून्य होने के कारण विदेह पद वाच्य होते हैं।" मिश्र कहते हैं "भूत तथा इन्द्रियों में से किसी एक को आत्मस्वरूप जानकर उसकी उपासना के संस्कार द्वारा देहांत के पश्चात् जो उपास्य में लीन होते हैं वे विदेह हैं।" यह स्पष्ट नहीं, क्योंकि भूत की आत्मभाव से उपासना करके भूत में लीन होने से उन्हें निर्बीज समाधि कैसे हो सकती है?

विज्ञानभिक्षु विभूतिपाद के ४३ वें सूत्र के अनुसार "शरीर-निरपेक्ष जो बुद्धिवृत्ति है उससे युक्त महादादि देवताएँ विदेह हैं।" यह कल्पित अर्थ है।

फलतः व्याख्याकारों ने एक विषय पर ध्यान नहीं दिया है। सूत्रकार और भाष्यकार कहते हैं कि विदेहों की निर्वीज समाधि होती है। सानन्द समाधिमात्र ही निर्वीज नहीं होती। सानन्दसिद्ध शरीरपात के बाद लोक विशेष में उत्पन्न हो कर ध्यानसुख भोग कर सकते हैं। विदेह और प्रकृतिलीन किसी लोक के अंतर्गत नहीं होते हैं। (३—२६ सूत्र-का भाष्य देखिये)

और भूतों में समापन्नचित कभी निर्वीज नहीं हो सकता है। इस विषय का प्रकृत सिद्धांत यही है:—स्थूल ग्रहण में समापन्न योगी विषय त्याग से आनन्द पा कर यदि विषय त्याग को ही परम पद मानें ❀ तथा शब्दादि-ग्राह्य-विषय में विरागयुक्त हो कर उनका (शब्दादि ज्ञान का) अत्यंत निरोध करें तो उस समय विषयसंयोग का अभाव होने के कारण करणवर्ग लीन हो जायगा, क्योंकि विषयों के बिना करणगण एक मुहूर्त भी व्यक्त नहीं रह सकते। वे ऐसा विषय ग्रहण-रोध या क्लेशहीन संस्कार-संचय करके देहांत में विलीन-करण होकर निर्बीज समाधि को प्राप्त करते हैं और संस्कार बल के अनुसार अवच्छिन्न काल तक कैवल्य जैसी अवस्था अनुभव करते हैं। वे ही विदेह-देव होते हैं। पुनः जो योगी लोग सम्यक् विषयनिरोध का प्रयत्न न कर आनन्दमय सालंवन ग्रहणतत्त्वध्यान में ही तृप्त रहते हैं, वे देहान्त होने पर यथायोग्य लोकों में उत्पन्न होकर दिव्य आयुष्काल तक इस ध्यान सुख को भोगते हैं। (३—२६ द्रष्टव्य)।

परमपुरुषतत्त्व का साक्षात्कार न होने के कारण विदेह देवताओं का "अदर्शन" बीज रह जाता है। उसी से वे फिर लौटते हैं और शाश्वती शांति नहीं पाते।

१९—(३) प्रकृतिलय। 'वैराग्यात्प्रकृतिलयः' इत्यादि सांख्यकारिका के (४५संख्यक) भाष्य में आचार्य गौड़पाद जी कहते हैं "जिनको वैराग्य है, किन्तु तत्त्वज्ञान नहीं है वे

❀ हठयोग प्रणाली से जो अवस्था होती है वह भी विदेह के समान है। हठयोग प्रक्रिया में उड्डान, जालन्धर तथा मूल इन तीन बन्ध और खेचरी मुद्रा के द्वारा प्राणों का रोध करना पड़ता है। दीर्घकाल [२।३ महीने] तक रोध करना हो तो नेति, धौति, कपालभाति आदि के द्वारा शरीर शोधन पूर्वक 'हलचल' से अन्त्र परिष्कार करना पड़ता है। अधिक जल पीकर अन्त्र के भीतर चला करके अन्त्र को धोना ही 'हलचल' कहाता है। पश्चात् भावना विशेष के साथ कुन्डली को दशवें द्वार पर या मस्तिष्क के ऊपर उठाकर रोकना पड़ता है। उस से शरीर काष्ठवत् हो जाता है और चिंता-यन्त्र-मस्तिष्क प्रकार विशेष से रुद्ध हो जाने से चिंता या चित्तवृत्ति रुक जाती है और निरोध के समान विदेह [शरीर के सम्यक् रोध का कारण]-अवस्था की प्राप्ति होती है। चित्तरोध होने पर दुःख नहीं रहता अतः यह मोक्ष जैसी अवस्था होती है। किन्तु स्मति प्रज्ञादि पूर्वक संस्कार क्षय तथा तत्वसाक्षात् न होने के कारण यह प्रकृत कैवल्य नहीं है। यह देखा भी जाता है कि समाधि सिद्धिजनित ज्ञानशक्ति तथा निवृत्ति का जो उत्कर्ष होता है वह इनको नहीं होता। हरिदास योगी तीन मास तक ऐसी "समाधि" के [यह प्रकृत समाधि है] पश्चात् माथे में गरम रोटी की सेंक से वाह्य ज्ञान पाकर पहिले ही रणजित्सिंह जी से बोले, "क्या अब आप मेरा विश्वास करते हैं ?" खेचरी आदि सिद्ध करने पर स्मृति के द्वारा एकाग्रभूमि साधन का उपदेश है। जैसे योगतारावली में कहा है—"पश्यन्नुदासीन दशा प्रपंच संकल्पमुन्मूलय सावधानः" [आगामी सूत्र देखिए]। वही स्मृति साधन और समाधि एकाग्रभूमि संस्कारक्षय और संप्रज्ञान का उपाय है जिसके द्वारा प्रकृत योगियों का उपाय-प्रत्यय निरोध सिद्ध होता है।

अज्ञान के कारण मृत्यु के बाद प्रधान, बुद्धि, अहंकार तथा पंचतन्मात्र इन अष्टप्रकृतियो से किसी एक में लीन होते हैं।" इस सूत्र में कहे हुए प्रकृतिलय, प्रधान या मूला प्रकृति में लय ऐसा समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि इसी में चित्त लय पाता है या निर्वीज समाधि होती है। अन्य प्रकृति में लीन होने से वैसे चित्त-लय होने की संभावना नहीं है। कारण के साथ अविभाग-प्राप्ति लय कहाती है। कार्य ही कारण में लय पाता है; कारण कार्य में लय नहीं पाता। 'तन्मात्र तत्त्व में कोई योगी लीन हुआ' ऐसा कहने से क्या समझा जायगा? यही कि योगी का चित्त तन्मात्र में लीन हुआ। पर योगी के चित्त का कारण तन्मात्र तत्त्व नहीं है। अतः योगी का चित्त कभी तन्मात्र में लीन नहीं हो सकता है। इसलिये योगी तन्मात्र में लीन होता है यह कहना यथार्थ नहीं परन्तु उसमें तन्मय होते हैं, यही कहना ठीक होगा।

परन्तु भूततत्त्व में वैराग्य होने का अर्थ है भूततत्त्वज्ञान का तन्मात्रतत्वज्ञान में परिणत होना। तब योगी की अवस्था स्वरूपशून्य सी आत्म-विस्मृत-सी होकर तन्मात्रतत्त्व ही ध्यान गोचर रहता है। अतः यह सालंबन समाधि हुई। अतएव केवल प्रधान में लय ही सूत्र तथा भाष्य में उक्त प्रकृतिलय होता है यह समझना होगा। जब तत्त्वज्ञानहीन शून्यवत् समाधि अधिगत होती है, परन्तु परम पुरुष तत्त्व का साक्षात्कार न करने पर उसे ही चरम गति जान कर और अंतर्मुख हो कर वशीकार वैराग्य द्वारा विषय वियोग का कारण अतः करण लीन हो जाय, तब प्रकृतिलय सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रकृतिलयादि-पद पर वायुपुराण में ऐसी उक्ति है :—"**दशमन्वन्ताणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिंतकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्त्रान्त्वाभिमानिकाः॥ बौद्धा दशसहस्त्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः। पूर्णंशतसहस्त्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिंतकाः। पुरुषं निर्गुणं प्राप्य काल संख्या न विद्यते॥**"

१६—(४) विवेकख्याति होने पर चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। अर्थात् उसी से चित्त की विषय प्रवृत्ति या व्यक्तावस्था का बीज सम्यक् दग्ध हो जाता है। अधिकारसमाप्ति का दूसरा नाम चरितार्थता है। भोग और अपवर्ग-रूप पुरुषार्थ इससे सम्यक् चरित या निर्वर्तित या निष्पन्न या समाप्त होता है। विवेक ख्याति न होने से अधिकार नहीं समाप्त होता, अतएव चित्त प्राकृतिक नियम से आवर्तित होता है।

श्रद्धा वीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

भाष्यम्—**उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः संप्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनः वीर्यमुपजायते, समुपजात वीर्यस्य स्मृतिरूपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचितस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथावद् वस्तु जानाति, तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्याद् असंप्रज्ञातः समाधिर्भवति॥ २०॥**

२०— (जिनको उपाय प्रत्यय है उनको) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन सब उपायों के द्वारा असंप्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

भाष्यानुवाद—योगियों को उपाय प्रत्यय (असंप्रज्ञात समाधि) होता है। श्रद्धा चित्त का संप्रसाद है (१), वह योगी को कल्याणी माँ के समान पालती है। इस प्रकार श्रद्धायुक्त विवेकार्थी के वीर्य (२) होता है। वीर्यवान् की स्मृति उपस्थित होती है (३)। स्मृति की उपस्थिति से चित्त अनाकुल होकर समाहित होता है (४)। समाहित चित्त में प्रज्ञा विवेक या विशिष्टता उत्पन्न होती है। विवेक से (योगी) वस्तु का यथार्थज्ञान करते हैं। विवेक के अभ्यास से तथा उसके (उस चित्त के) विषय वैराग्य से असंप्रज्ञात समाधि (५) उत्पन्न होती है।

टीका—२०—(१) **श्रद्धा** = चित्त की संप्रसाद या अभिरुचिमती निश्चय वृत्ति। **"श्रत् सत्यं धीयते अस्याम् इति श्रद्धा"** (**यास्क-निरुक्त**)। गीता में कहा है **"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः**। श्रुति में कहा है " **तपः श्रद्धे ये ह्यु पवसंत्यरण्ये**" (मुण्डक) इत्यादि। शास्त्र और गुरु से लब्ध ज्ञान बहुत व्यक्तियों की औत्सुक्य-निवृत्ति करता है। ऐसे औत्सुक्य-वश होकर जो जाना जाता है वह श्रद्धा नहीं होती। जिस जानने के साथ चित्त का संप्रसाद रहता है वही श्रद्धा होती है। श्रद्धा भाव रहने से लगातार श्रद्धेय विषयों के गुणसमूह के आविष्कार द्वारा प्रीति और आसक्ति बढ़ती रहती है।

२०—(२) उत्साह या बल का नाम वीर्य है। चित्त के क्लांत होने पर या विषयान्तर में दौड़ने पर, जिस बल के द्वारा उसे पुनः साधन की ओर लौटाया जाता है वही वीर्य होता है। श्रद्धा रहने पर भी वीर्य होता है। जैसे कष्टपूर्वक भारी बोझ उठाते-उठाते कसरती उसमें कुशल हो जाता है, वैसे ही जी-जान से आलस्य-त्याग और मन की स्थिरता का अभ्यास करते करते वीर्य उन्मुक्त हो जाता है। 'विवेकार्थी का' इस शब्द से विवेक विषय में श्रद्धा वीर्य आदि ही कैवल्य के उपाय स्वरूप कहे गए हैं। दूसरे विषयों में श्रद्धादि रह सकते हैं किन्तु ऐसा होने पर भी योग या कैवल्य सिद्धि नहीं होती।

२०—(३) स्मृति। यही प्रधान साधन है। अनुभूत ध्येय भाव का बारम्बार यथावत् अनुभव करते रहना तथा उसका 'जो मैं अनुभव कर रहा हूँ और करूँगा' इसका भी अनुभव करते रहना स्मृति साधन होता है। स्मृति साधित होने से स्मृति का उपस्थान होता है। स्मृति एकाग्रभूमि का एकमात्र साधन है। सर्वदा के लिए स्मृति उपस्थित होने से ही एकाग्रभूमि सिद्ध होती है।

ईश्वर और तत्वसमूह ध्येय विषय होते हैं। स्मृति भी उसका अवलम्बन कर साधन योग्य होती है। ईश्वर विषयक स्मृति साधन इस प्रकार होता है—प्रणव तथा ईश्वर के वाचक-वाच्य सम्बन्ध का स्मृत्यभ्यास कर चुकने पर जब प्रणव उच्चारित (मन ही मन वा व्यक्तभाव से) होने से क्लेशादि-शून्य ईश्वरभाव मन में आता है, तब वाच्य-वाचक की स्मृति सुस्थिर होती है। इसकी सिद्धि होने पर ईश्वर को हृदयाकाश में अथवा आत्मा में स्थित जानकर वाचक शब्द जपपूर्वक स्मरण करते रहना एवं उसको जो स्मरण कर रहे हो और करते रहोगे, इसको स्मरण में रखना। पहले पहल एक पद के द्वारा स्मरण अभ्यास न करके वाक्यमय मंत्र के द्वारा स्मरण अभ्यास करना उचित है।

इस प्रकार भूततत्त्व, तन्मात्रतत्त्व, इन्द्रियतत्त्व, अहंकारतत्त्व तथा बुद्धितत्त्व इन तत्त्व-

समूह के स्वरूप लक्षणों के अनुसार तद्गत भावों को चित्त में उदित करके स्मृति साधन करना पड़ता है। विवेक-स्मृति ही मुख्य साधन है। चित्त मानों प्रहरी बनकर उसमें किसी प्रकार संकल्प नहीं घुसने दूँगा तथा केवल ग्रह्यमाण विषय का द्रष्टस्वरूप होकर रहूँगा, इस प्रकार का स्मृति साधन आनुव्यवसायिक होता है। यह चित्तप्रसाद या सत्वशुद्धि-प्राप्ति का मुख्य उपाय है। योगतारावली में कहा है—**'पश्यन्नुदासीनदृशा प्रपंचं संकल्पमुन्मूलय सावधानः।'** यही श्रेष्ठ स्मृति साधन है।

स्मृति साधन के सिवा बोधपदार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती। स्मृति सभी चेष्टाओं द्वारा सदा साध्य होती है। गमन, उपवेशन, शयन सब अवस्थाओं में स्मृति-साधन हो सकता है। कोई भी काम करते समय पारमार्थिक ध्येय-विषय मन में भली भाँति जागरूक रखना चाहिए जिससे वह मन से न हट जाय। इस प्रकार सावधान होकर काम करना ही "योगयुक्त कर्म" कहा जाता है। तैल पूर्ण वर्त्तन लेकर के सीढ़ी पर चढ़ने जैसा यह योगयुक्त कर्म होता।

ऐसे भी व्यक्ति हैं जो मानसिक चिंता म इतने लीन रहते हैं कि बाह्य विषय को लक्ष्य नहीं बनाते। इनके सामने कुछ भी घटना घटे, ये अपनी चिंताओं में इतने मग्न रहते हैं कि उसपर ध्यान ही नहीं दे पाते हैं। पागल और नशेबाज लोग भी प्रायः इसी प्रकार "एकाग्र" होते हैं। यह यथार्थ एकाग्रता नहीं है और समाधि की भी सम्यक् विरोधी अवस्था है। इनको समाधि-साधक स्मृति कभी नहीं होती। ये मूढ़ या आत्म विस्मृत होकर चिंता की धारा पर चलते रहते हैं। अपने चित्त-विक्षेप को समझ नहीं पाते हैं।

स्मृतिसाधन काल में, चित्त में जो भाव उठते हैं वे सर्वदा अनुभूत होने चाहिये एवं विक्षिप्त-भाव को त्याग कर अविक्षिप्त या संकल्पहीन भाव को स्मृतिगोचर रखना चाहिये। यही वास्तविक सत्त्वशुद्धि का या ज्ञान प्रसाद का उपाय है। यह स्मृति प्रबल होने पर अर्थात् जब आत्म विस्मृति और नहीं होती तब उस आत्मस्मृतिमात्र में डूब कर जो समाधि होती है वही प्रकृत संप्रज्ञान योग होता है।

स्मृतिरक्षा के लिये संप्रजन्य की आवश्यकता है। संप्रजन्य का साधन करते हुए जब सतर्कता सहज हो जाती है तब ही स्मृति उपस्थित रहती है। 'योगकारिका' का स्मृति लक्षण में **"वर्त्ता अहं स्मरिष्यश्चं स्मराणि ध्येयमित्यपि'** इसमें—

"वर्त्ता अहं स्मरिष्यन् = संप्रजन्य है तथा **'स्मराणि ध्येयम्'** = स्मृति।

बौद्ध शास्त्र में भी इसी स्मृति की प्रधानता ली गयी है। वे भी कहते हैं कि स्मृति और संप्रजन्य (योगशास्त्र के सम्प्रज्ञान के साथ सादृश्य है) के बिना चित्त का ज्ञानपूर्वक रोध नहीं होता है। संप्रजन्य का लक्षण है—

"एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणम्।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः॥" बोधिचर्यावतार ५।१०८

अर्थात् शरीर की तथा चित्त की जब जैसी अवस्था होती है उसकी प्रतिक्षण प्रत्यवेक्षा का नाम ही संप्रजन्य होता है। इससे आत्मविस्मृति नष्ट होती एवं चित्त का अति सूक्ष्म विक्षेप भी मालूम पड़ता और उसे रोकने की शक्ति होती है। और भी तत्वज्ञान में विशेष करके आध्यात्मिक तत्वज्ञान में समापन्न होने की सामर्थ्य होती है। शंका हो सकती है

कि चित्तेन्द्रिय म पहुँचे हुए विषय को देखते जाना एकाग्रता नहीं; किन्तु अनेकाग्रता है— वास्तव में ग्राह्य विषय में अनेकाग्रता होने पर भी वह ग्रहण विषय पर एकाग्र होती है। कारण 'मैं आत्मस्मृतिमान् हूँ तथा रहूँगा' ऐसी ग्रहणाकारा बुद्धि उसमें एक ही रहती है। यही एकाग्रता ही मुख्य एकाग्रता है, इसकी सिद्धि होने पर ग्राह्य की एकाग्रता सहज हो जाती है। केवल ग्राह्य की एकाग्रता से प्रतिसंवेतृ संबन्ध की एकाग्रता नहीं भी आ सकती है।

जो अपने मन से हँसते हैं, रोते हैं, बरबराते हैं, अंगभंगी करते हैं ऐसे 'एकाग्र' वा वाह्य-ज्ञान से छूटे हुए मूढ़ व्यक्तियों के लिए स्मृति और संप्रज्ञानसाधन असाध्य है। यह भली भाँति स्मरण रखना है। सदा सप्रतिभ रहना ही स्मृति का साधन होता है।

इस प्रकार के साधन के समय योगी लोग वाह्यज्ञान हीन नहीं होते हैं, किन्तु संकल्पहीन चित्त के द्वारा उपस्थित विषयों को देखते जाते हैं। चित्त इत्यादि में जो विषय उपस्थित होते हैं वे उनके द्वारा अलक्षित नहीं होते (कारण, इनका अलक्षित होना और मोह वश अपने को भूलना एक ही बात है)। इस प्रकार साधन के समय वाह्य शब्दादि प्रतिकूल नहीं होते हैं। इन्द्रियादि के द्वारा जो सब प्रभाव आत्मभाव के ऊपर पड़ते हैं वे उन सबको देखते जाते हैं। उनको द्रष्टा के समान न देख सकना ही आत्मविस्मृति या मोह है।

इस प्रकार चित्त सत्व शुद्ध होने पर इन्द्रियादि जब स्थिर या पिंडीभूत होते हैं तब वाह्य-विषय आत्मभाव को प्रभावित नहीं कर सकते हैं। इस अवस्था में विषय ध्यान का अभाव आत्मविस्मृति नहीं विषयहीन आत्मस्मृति वा प्रकृत संप्रज्ञात योग तथा प्रकृत समाधि होती है। वह आत्मस्मृति जितनी सूक्ष्म और शुद्ध होगी उतना ही सूक्ष्मतत्व का अधिगम होगा। विवेक ही इस आत्मज्ञान की सीमा है।

प्रबल विक्षिप्त चिंता में पड़कर वाह्य विषय पर ध्यान न देना और इस प्रकार इन्द्रियों को पिंडीभूत करके ज्ञान तथा इच्छा से विषय-ग्रहण का रोध करना, इन दो अवस्थाओं के भेद साधकों को भली भाँति समझ लेना चाहिये। (स्मृतिसाधन की व्याख्या 'ज्ञान योग' प्रकरण में देखिए)

स्वेच्छापूर्वक केवल वाह्येन्द्रिय रुद्ध करके विषयग्रहण-रोध करने से ही चित्तरोध नहीं होता। उस समय भी चित्त विषय धारा में तैर सकता है। आत्मस्मृति के द्वारा तब भी चित्त की प्रत्यवेक्षा करके उसे अमल और संकलपशून्य करना पड़ता है। तदनु चित्त को भी पिंडीभूत करके रोध करने पर सम्यक् चित्तरोध होता है।

परन्तु इस प्रकार सम्यक् चित्तरोध वा निरोध समाधि होने पर भी सफलता नहीं मिल सकती। पूर्वोक्त भवप्रत्यय-निरोध ही वास्तविक निरोध है। चित्त आत्मभाव के प्रति-संवेत्ता दृष्ट पुरुष की स्मृति (अर्थात् विवेक ज्ञान) प्राप्त कर जो सम्यक् निरोध होता है वही कैवल्य मोक्ष का निरोध है।

२०—(४) श्रद्धा से वीरत्व होता है। जिनकी जिस विषय में अच्छी श्रद्धा नहीं रहती, वे उस विषय में वीरत्व नहीं कर सकते हैं। वीरत्व अथवा बार-बार कष्ट सहन पूर्वक चित्त को एकाग्र करते करते चित्त में स्मृति होती है। स्मृति ध्रुवा या अचला होने से समाधि होती है। समाधि से प्रज्ञालाभ और प्रज्ञा के द्वारा हेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान

(अर्थात् वियोग) होकर निर्विकार दृष्ट पुरुष में स्थिति या कैवल्यसिद्धि होती है। ये मोक्ष के उपाय हैं। कोई किसी भी मार्ग पर चले, इस साधारण उपाय को छोड़ने की शक्ति किसी को भी नहीं है। श्रुति भी कहती है, **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥'** अर्थात् बल (वीरत्व) अप्रमाद (स्मृति) तथा संन्यास युक्त ज्ञान (वैराग्ययुक्त प्रज्ञा) इन सब उपायों के द्वारा जो प्रयत्न वा अभ्यास करते हैं उनकी आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट होती है। (मुण्डक)।

बृद्धदेव भी कहते हैं—(धम्मपद में) शील, श्रद्धा, वीरत्व, स्मृति, समाधि और धर्म विनिश्चय (प्रज्ञा) इन सब उपायों द्वारा समस्त दुःख का उपशम होता है।

२०—(५) अनात्मविषय का कर्ता, ज्ञाता तथा धर्ता ये तीन भाव, अर्थात् ज्ञाता, कर्ता वा धर्ता कहने से साधारणतः हृदय में जो उपलब्धि होती है वही महान् आत्मा है। बुद्धिरूप आत्मभाव भी पुरुष नहीं होता है यह अति-स्थिर, समाधि-निर्मल चित्त द्वारा जानकर अन्य-ज्ञान-रोध करके पौरुष प्रत्यय में स्थिर होने का सामर्थ्य ही विवेक या विवेक-ख्याति है। विवेक द्वारा बुद्धि निरुद्ध होती है या निरोध-समाधि होती है। विवेकज ज्ञान नामक सार्वज्ञ भी होता है। इस विवेकज ऐश्वर्य में भी विराग करके उक्त विवेकमूलक निरोध का अभ्यास करते करते जब यह निरोध संस्कार बल से चित्तस्वभाव हो जाता है तब उसे असंप्रज्ञात कहा जाता है। उसमें विवेकरूप एवं दूसरे दूसरे संप्रज्ञान भी निरुद्ध होते हैं इस कारण उसका नाम असंप्रज्ञात होता है।

भाष्यम्—**ते खलु नव योगिनः मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति, तद्यथा मृदूपायः, मध्योपायः, अधिमात्रोपाय इति। तत्र मृदूपायोऽपि त्रिविधः मृदुसंवेगः, मध्यसंवेगः, तीव्रसंवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति। तत्राधिमात्रोपायानाम्—**

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २१ ॥

भाष्यानुवाद—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र भेद से वे (श्रद्धा वीरत्वादि साधन शील) योगी नौ प्रकार के हैं, जैसे—मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय। उनमें मृदूपाय भी तीन प्रकार के हैं—मृदुसंवेग, मध्यसंवेग और अधिमात्रसंवेग (१) मध्योपाय तथा अधिमात्रोपाय भी ऐसे हैं। इनमें अधिमात्रोपाय—

२१—तीव्रसंवेग वाले योगियों की समाधि तथा समाधि-फल आसन्न होते हैं।

अर्थात् समाधिलाभ और समाधिफल (कैवल्य) लाभ आसन्न होते हैं।

टीका—२१। (१) व्याख्याकारों ने संवेग शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार की है। मिश्र जी कहते हैं संवेग = वैराग्य। भिक्षु जी कहते हैं—उपाय के अनुष्ठान में शीघ्रता। भोज-

देव बोलते हैं, क्रिया का हेतुभूत दृढ़तर संस्कार। बौद्ध शास्त्रों में भी संवेग शब्द का प्रयोग (श्रद्धादि उपाय के साथ) है, यथा—"जैसे अश्व कशाघात द्वारा भद्र होता है, वैसे तुम भी आतापी (वीर्यवान्) और संवेगी होओ एवं श्रद्धादि के द्वारा भूरि दुःख नाश करो' (धर्मपद १०। १५)। वस्तुत संवेग योगविद्या का एक प्राचीन पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ केवल वैराग्य नहीं, किन्तु वैराग्य मूलक साधनकार्य में कुशलता तथा तत्कृत अग्रसर भाव है। भोजदेव ने इसका यथार्थ लक्षण दिया है। गतिसंस्कार वा (Momentum) भी संवेग होता है। बलवान् और क्षिप्रगति अश्व जैसे दौड़ते समय गतिसंस्कार-युक्त होकर शीघ्र ही अभीष्ट स्थान पर जा पहुँचता है वैसे ही वैराग्यादि-संस्कारयुक्त साधक उन्मुक्तवीर्य हो कर साधनकार्य में सदा उन्नति की ओर संवेग से चलता रहे तो उसे तीव्रसंवेगी कहा जाता है। विषय से विरक्त होकर 'मैं जल्द साधन करके कृतकृत्य होऊँगा' – इस भाव के साथ साधन में अग्रसर होना ही संवेग है। हिंस्र-पशु-संङ्कीर्ण कानन में चलते चलते सन्ध्या होने पर रास्ता तय करने के लिये कोई भयभीत पथिक जैसी शीघ्रता करता है, संसार-कानन से उद्धार पाने के लिए वैसी शीघ्रता ही योगियों का संवेग है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

भाष्यम्—मृदुतीव्रः मध्यतीव्रःअधिमात्रतीव्र इति, ततोऽपिविशेषः, तद् विशेषान्मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नः, ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरस्तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति ॥ २२ ॥

२२—मृदुत्व, मध्यत्व और अधिमात्रत्व के हेतु से (तीव्रसंवेग सम्पन्न व्यक्तियों में भी) विशेष होता है।

भाष्यानुवाद—उनमें मृदुतीव्र, मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र, ये विशेष हैं। इस विशेष के कारण मृदुतीव्रसंवेगयुक्त को समाधि और उसका फललाभ आसन्न, मध्यतीव्रसंवेगयुक्त को आसन्नतर और अधिमात्र-उपाय शील व्यक्ति (१) आसन्नतम होते हैं।

टीका—२२। (१) अधिमात्रोपाय = अधिक प्रमाणक उपाय, यह विज्ञानभिक्षु का मत है। अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा या जो श्रद्धा केवल समाधि साधन के मुख्य उपाय पर प्रतिष्ठित है वह समाधि साधन का अधिमात्रोपाय है। वीरत्व भी वैसा होता है। अन्य विषयों से त्यागकर जो केवल चित्तस्थैर्य करने में लगा रहता है वह अधिमात्रोपाय रूप वीरत्व है। तत्त्व और ईश्वर स्मृति अधिमात्र स्मृति हैं। सबीजों के अंदर संप्रज्ञात तथा निर्बीजों के अंदर असंप्रज्ञात अधिमात्र होते हैं। समाधि का मुख्य फल कैवल्य के लाभ के लिये ये अधिमात्रोपाय हैं।

भाष्यम्—**किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवति, अथास्य लाभे भवति अन्योऽपि कश्चि-दुपायो न वेति—**

ईश्वर-प्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण, तदभि-ध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलंच भवति इति ॥२३॥

भाष्यानुवाद—इसी से ही (ग्रहीतृ-ग्रहणादि विषय में समापन्न होने के लिए तीव्र संवेगसंपन्न होने से ही) क्या समाधि आसन्न होती है अथवा इसकी प्राप्ति के लिए कोई दूसरा उपाय भी है या नहीं ?—

२३—ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि आसन्न होती है। सू

प्रणिधान के द्वारा अर्थात् भक्तिविशेष के द्वारा (१) आवर्जित वा अभिमुखीकृत होकर ईश्वर अभिध्यान के द्वारा उस योगी को अनुग्रह करते हैं। उनके अभिध्यान से भी (२) योगी को समाधि तथा उसका फल कैवल्यलाभ आसन्न होते हैं।

टीका—२३ (१) पहिले ग्रहीता, ग्रहण, ग्राह्य इन तीन पदार्थों के ध्यान से चित्त को एकाग्र करके एकाग्रभूमिक संप्रज्ञात योग के साधन के लिए उपदेश किया गया है। इसके अतिरिक्त चित्त की एकाग्रभूमिक स्थिति प्राप्त करने के लिए जो अन्य उपाय हैं उन्हें अब बतलाया जा रहा है। प्रणिधान = भक्तिविशेष। आत्मा के अंदर अर्थात् हृदय के अन्तरतम प्रदेश में अग्रिमलक्षणोक्त ईश्वर-सत्ता का अनुभव करके आत्मनिवेदनपूर्वक उसी पर निश्चिन्त रहना भक्ति का स्वरूप है। समस्त कार्य हृदयस्थ ईश्वर के द्वारा मानों (वास्तव में नहीं) प्रेरित होकर कर रहा हूँ ऐसा दिनरात प्रतिक्षण अनुभव करना ईश्वरार्थ सर्वकर्मार्पण होता है। इससे यह भक्ति साधित होती है। शास्त्रों में कहा है—"**कामतोऽकामतो वापि यत् करोमि शुभाशुभम्। तत्सर्वन्त्वपि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥**" अर्थात् इच्छा से और अनिच्छा से मैं जो भी कर्म कर रहा हूँ उनका फल सुख तथा दुःख आप ही को समर्पित करता हूँ अर्थात् मैं सुख-दुःख नहीं चाहता हूँ और उनसे विचलित भी नहीं होऊँगा। समस्त कर्म मानों आपके ही द्वारा साधित हो रहे हैं। इस प्रकार से अपने को निष्काम करके ईश्वर-स्मरण पूर्वक कर्म करना ही सूत्रोक्त साधन है। इसके द्वारा कर्तृत्वाभिमानशून्यता तथा ईश्वर संस्था सिद्ध होती है।

२३—(२) अभिध्यान। सम्यक् शरणागत भक्त की भक्ति-द्वारा अभिमुख होकर ईश्वर जो "इसका अभिमत विषय सिद्ध हो", ऐसी इच्छा करते हैं यही अभिध्यान है। ईश्वर जीवों के परम कल्याण—मोक्ष—के लिये ही अभिध्यान करगे, नहीं तो मायामय सांसारिक सुख की सिद्धि के लिये उनका अभिध्यान होना ठीक नहीं लगता और उनके निकट उसकी याचना भी उनके स्वरूप तथा परमार्थ-विषय में अज्ञान ही प्रकट करती हैं। विशेषतः सांसारिक सुख प्रायः कुछ-न-कुछ पर-पीड़ा से उत्पन्न होते हैं। सांसारिक सुख-दुःख कर्म से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर-प्रणिधानरूप कर्म से ईश्वर की अभिमुखता लाभ कर उनके अनुग्रह से पारमार्थिक विशेष ज्ञान पाया जाता है, यही भाष्यकार को अभिमत है। मुक्त-पुरुष-ध्यान के समान ईश्वर ध्यान

करने पर भी साधारणतया चित्त समाधि-लाभ कर सकता है। समाधि-द्वारा प्रज्ञाप्राप्त योगी को परमार्थ सिद्ध होता है। इसमें ईश्वर के अभिध्यान की अपेक्षा नहीं होती। और जो योगी लोग ईश्वर पर सब समर्पण करके उनसे ही प्रज्ञालाभार्थ निश्चितबुद्धि हैं वे ही ईश्वर के अभिध्यान-बल से उपकृत होते हैं, यही विवेच्य है।

अभिध्यान का अर्थ अभिमुख में ध्यान भी होता है। ऐसे ध्यान के द्वारा अभिमुख होकर ईश्वर अनुग्रह करते हैं और इस प्रकार के ध्यान से भी (तदभिध्यानात्) समाधि-सिद्धि होती है। उपनिषद् में अभिध्यान शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

भाष्यम्—अथ प्रधानपुरुषव्यत्तिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ?—

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेन अपरामृष्टः स पुरुष-विशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि संति च वहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः, ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैवमुक्तः सदैवेश्वर इति। योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्तः ? आहोस्विन्निर्निमित्त इति। तस्यशास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किन्निमित्तं ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वर सत्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः। एतस्मात् एतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति।

तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावद् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्, तस्माद्पत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति, कस्माद् द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् व्याभितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्तु इत्येकस्य सिद्धौ इतरस्य प्राकाम्यविधाताद्नत्वं प्रसक्तं, द्वयोश्च तुल्ययो-र्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वाद्। तस्मात् यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमै-श्वर्यं स ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति ॥ २४ ॥

भाष्यानुवाद—प्रधान और पुरुष से व्यतिरिक्त वे ईश्वर कौन हैं (१) ?
२४—क्लेश कर्म विपाक और आशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर हैं। सू

क्लेश अविद्या इत्यादि; पुण्य और पाप-कर्म अर्थात् कर्म का संस्कार; कर्म का फल ही विपाक है; तथा उस विपाक के अनुरूप (अर्थात् किसी एक विपाक के अनुभूत होने पर उस अनुभूति से उत्पन्न अतः उस विपाक के अनुरूप) समस्त वासनाएँ आशय हैं। ये सब मन में वर्तमान रहकर पुरुष में व्यपदिष्ट वा आरोपित जान पड़ते हैं। इसी से पुरुष

इस फल के भोक्ता स्वरूप होते हैं, जैसे जय तथा पराजय समस्त योद्धा सैनिकों में वर्तमान रहकर भी सेनापति में व्यपदिष्ट होती हैं। जो इस भोग के (भोक्तृभाव के) व्यपदेश के द्वारा भी (अनादिमुक्तता के कारण) अपरामृष्ट (अस्पृष्ट वा असंयुक्त) हैं वे पुरुष विशेष ही ईश्वर हैं। कैवल्य प्राप्त बहुत-से केवली पुरुष हैं। वे तीनों बंधन को (२) काटकर कैवल्य पा चुके हैं। ईश्वर का यह संबन्ध न भूतकाल में था न भविष्य में होगा। मुक्त पुरुष की पूर्वबन्धकोटि (३) जानी जाती है, ईश्वर की नहीं। प्रकृति-लीनों की उत्तरबन्धकोटि की संभावना है; ईश्वर की नहीं। वे सदा मुक्त और सदा ही ईश्वर हैं। ईश्वर का यह प्रकृष्ट-बुद्धि-सत्त्वोपादान-हेतु (४) शाश्वतिक उत्कर्ष सनिमित्त (सप्रमाणक) है या निर्निमित्तक (निष्प्रमाणक) ? उनका निमित्त या प्रमाण शास्त्र ही है। शास्त्र का क्या प्रमाण है ? प्रकृष्ट सत्त्व। ईश्वर-सत्त्व में वर्तमान इस शास्त्र तथा उत्कर्ष में अनादि सम्बन्ध है (५) अतः (उक्त युक्तियों के अनुसार) यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सदा ही ईश्वर और सदा ही मुक्त है। उनका ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से शून्य है। (कैसे ? उसे स्पष्ट कर रहे हैं) जो अन्य किसी के ऐश्वर्य-द्वारा अतिक्रांत नहीं होता है, जो सबसे बड़ा है और जो ऐश्वर्य निरतिशय है वही ईश्वरगत है। इस कारण जिस पुरुष में ऐश्वर्य की पराकाष्ठा हो चुकी है वह भी ईश्वर है। ईश्वर के ऐश्वर्य के समान दूसरा ऐश्वर्य नहीं है, क्योंकि (समान ऐश्वर्यशाली दो पुरुषों के रहते) दोनों पुरुष एक ही वस्तु के विषय में एक ही काल में यदि "यह नूतन हो" तथा "यह पुरानी हो" ऐसी विपरीत कामना करें तो एक की कामना सिद्ध होने पर दूसरे की प्राकाम्य-हानि-द्वारा न्यूनता होगी। इसी प्रकार दोनों पुरुषों के तुल्य ऐश्वर्यवान् होने से परस्पर-विरोधी किसी भी अभिलषित अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी। अतः (६) जिनका ऐश्वर्य साम्यातिशय शून्य है वे ही ईश्वर हैं; और वे पुरुष-विशेष हैं।

टीका—२४। (१) ईश्वर प्रधानतत्त्व तथा पुरुषतत्त्व नहीं हैं, इसको भली भाँति जानना उचित है। ईश्वर भी प्रधान-पुरुष-द्वारा निर्मित होते हैं। वे पुरुष-विशेष हैं और उनकी ऐश्वरिक उपाधि प्राकृत है। वस्तुतः पुरुष से उपदृष्ट जो प्राकृत उपाधि अनादिकाल से निरतिशय उत्कर्षयुक्त (सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तियुक्त) है, वही ऐश्वरिक उपाधि होती है। परमार्थक साधक योगी लोग केवल उस निर्मल, न्याय-सिद्ध, ऐश्वरिक आदर्श में स्थिरबुद्धि होकर उसके प्रणिधान में तत्पर होते हैं। (२४ वें सूत्र में ईश्वर का न्यायसिद्ध लक्षण और २५ वें सूत्र में प्रमाण तथा २६ वें में विवरण दिया गया है)।

२४—(२) प्राकृतिक, वैकारिक और दाक्षिण ये तीन बंधन हैं। प्रकृतिलीनों को प्राकृतिक बंधन होता है। विदेहलीनों को वैकारिक बंधन, क्योंकि वे मूला प्रकृति तक नहीं जा सकते; उनके चित्त उत्थित होने पर प्रकृति-विकार में ही रह जाता है। दक्षिणादि से निष्पाद्य यज्ञादि-द्वारा लौकिक तथा पारलौकिक विषय भोगियों को दाक्षिण बंधन होता है।

२४—(३) जैसे कपिलादि ऋषि पहले बद्ध थे पीछे मुक्त हुए अथवा कई प्रकृति-लीन अब मुक्तवत् हैं किन्तु पीछे व्यक्त उपाधि लेकर ऐश्वर्य-संयोग से बद्ध होंगे, यह जाना जाता है, वैसे ईश्वर का न बंधन है न होगा। हम भूत और भविष्यदि जितने भी समय की कल्पना करते हैं उतने समय में जिस पुरुष का भूत और भावी बंधन नहीं जाना जा सकता वही ईश्वर है।

२४—(४) प्रकृष्ट या सबकी अपेक्षा उत्तम अर्थात् निरतिशय उत्कर्षयुक्त। अनादि विवेकख्याति के हेतु अनादि सर्वज्ञतायुक्त और सर्वभावाधिष्ठातृत्वयुक्त सत्त्वोपादान या उपाधियोग। अनुमान द्वारा ईश्वर की सत्तामात्र का निश्चय होता है, किन्तु कल्प के आदिकाल से जो ज्ञान-धर्म, प्रकाश हैं उनका विशेषज्ञान शास्त्र से होता है। कपिलादि ऋषिगण मोक्षधर्म के आदिम उपदेष्टा हैं। श्रुति है—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्त्ति'' इत्यादि अर्थात् कपिल ऋषि ने भी ईश्वर से ज्ञान की प्राप्ति की है। ऋषियों से ही शास्त्र है (अवश्य यहाँ मुख्यतः मोक्ष शास्त्र ही लेना चाहिये), अतः शास्त्र भी मूलतः ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है। यह सर्गपरम्परा अनादि होने के कारण "ईश्वर से शास्त्र (मोक्षविद्या) और शास्त्र से ईश्वर ज्ञान' यह निमित्तपरंपरा भी अनादि है।

२४—(५) ईश्वरचित्त में वर्तमान जो उत्कर्ष अनादि मुक्तता या सर्वज्ञता आदि है वे ही मोक्ष शास्त्र के मूल में भी हैं। इनका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी अनादि है, अर्थात् अनादि-मुक्त ईश्वर जैसे हैं वैसा ही मोक्षशास्त्र भी है। यह कहना ठीक है कि ऐसे बहुत शास्त्र हैं जिनका सर्वज्ञ-ईश्वर-कृत होना तो दूर रहा, उनके निर्माता बुद्धिमान् और चरित्रवान् व्यक्ति भी नहीं हैं। अतः केवल मोक्षविद्या को ही शास्त्रशब्दवाच्य करना संगत है। प्रचलित समस्त शास्त्र इस मोक्ष-विद्या का अवलंबन करके ही रचे गये हैं।

२४—(६) अर्थात् अनेक ऐश्वर्यसंपन्न पुरुष हैं; ईश्वर भी वैसे ही हैं; किन्तु ईश्वर के तुल्य या उनसे अधिक ऐश्वर्यशाली पुरुष रहने से ईश्वरत्व सिद्ध नहीं होता अतः जिनका ऐश्वर्य निरातिशयताहेतु साम्यातिशयशून्य है वे ही ईश्वर पदवाच्य हैं।

———

भाष्यम्—किंच—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बहु इति सर्वज्ञबीजम्, एतद्धि वर्द्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाण वदिति, यत्र काष्ठाप्राप्तिः ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति। सामान्य-मात्रोपसंहारे कृतोपक्षममनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्ति-रागमतः पर्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय-महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम् 'आदिविद्वान् निर्माणचित्त-मधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तंत्रम् प्रोवाच'। इति ॥ २५ ॥

भाषानुवाद—और भी

२५—उनमें सर्वज्ञ-बीज निरतिशयता है। सू

अतीत, अनागत और वर्तमान इनमें से प्रत्येक में तथा समष्टिरूप वर्तमान (अर्थात् अतीत आदि किसी एक विषय अथवा एकत्र बहुत विषयों का) जो (किसी जीव में) अल्प (या किसी जीव में) बहुत अतीन्द्रियज्ञान देखा जाता है वही (१) सर्वज्ञबीज अर्थात् सार्वज्ञ्य का अनुमापक है।

यह ज्ञान (अल्प, अधिक और भी अधिक इस प्रकार से) बढ़कर जिस पुरुष में निरतिशयता प्राप्त कर चुका है, वही सर्वज्ञ है। (इस विषय का न्याय इस प्रकार है)—

सर्वज्ञबीज काष्ठा प्राप्त (या निरतिशय) हुआ है।

सातिशयत्व हेतु; (अर्थात् क्रमशः वर्द्धमानत्व हेतु)।

परिमाण के समान (अर्थात् परिमाण जैसे क्रमशः बढ़ते हुए निरतिशय हो जाता है)।

जिन पुरुषों में इसकी काष्ठाप्राप्ति हुई है, वे ही सर्वज्ञ और पुरुष विशेष हैं।

(सर्वज्ञ पुरुष हैं, इस प्रकार) सामान्य का निश्चय करने पर अनुमान का कार्य समाप्त हो जाता है, यह विशेष ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता। अतएव ईश्वर का संज्ञादि-विशेष-ज्ञान आगम से जान लेना चाहिये। उनके अपने उपकार का प्रयोजन रहने पर भी 'कल्पप्रलय-महाप्रलयों में ज्ञानधर्म के उपदेश के द्वारा संसारी पुरुषों का उद्धार करूँगा' ऐसा जीवानुग्रह ही उनकी प्रवृत्ति का प्रयोजन (२) है। इस पर पंचशिखाचार्य कहते हैं—"आदि विद्वान् भगवान परमर्षि कपिल ने करुणावश निर्माणचित्त में अधिष्ठान करके पूछते हुए आसुरि से तंत्र या सांख्यशास्त्र कहा था।"

टीका—२५—(१) इसमें ईश्वर सिद्धि की अनुमान-प्रणाली कही गयी है। उसे विशद करके कहा जाता है।

(क) यदि किसी अमेय पदार्थ को अंशतः या खण्डशः लिया जाय तो वे हिस्से असंख्य ही होंगे। अर्थात् अमेय ÷ मेय = असंख्य।

जैसे अमेय काल को मेय घंटा से भाग किया जाय तो भजन-फल भी असंख्य घंटे होंगे।

(ख) अगर किसी अमेय पदार्थ के हिस्सों को सातिशयी वा क्रमशः वर्द्धमान रूप में लिया जाय तो अंत में वह एक निरतिशय वृहत् पदार्थ हो जायगा। अर्थात् उसकी उपेक्षा और अधिक की धारणा ही नहीं हो सकती। यही निरतिशय महत्व है। अतएव—

मेय भाग × असंख्य = निरतिशय। अर्थात् असंख्य सांत पदार्थ = निरतिशय बृहत्।

जैसे कि परिमाण के भागों को एक हाथ, एक कोस, ८००० कोस इत्यादि के समान यदि बढ़ा कर लिया जाय तो अंत में ऐसे बृहत् परिमाण पर जाना होगा जिससे और भी अधिक बड़ा परिमाण धारणा योग्य नहीं है; वही निरतिशय वृहत् परिमाण है।

(ग) हमारी ज्ञानशक्ति का मूल उपादान जो प्रकृति है वह अमेय पदार्थ है। बहुतेरे जीवों में अल्प, अधिक, उससे भी अधिक इत्यादि की भाँति जो ज्ञानशक्ति देखी जाती वे उस अमेय प्रधान का खंडरूप हैं। (क) में उक्तरीति के अनुसार अमेय पदार्थ के खंडरूप-समूह असंख्य होंगे। अतः ज्ञानशक्तियाँ अर्थात् समस्त जीव असंख्य हैं।

(घ) कीड़े से मनुष्य तक जो ज्ञान शक्ति है, वह क्रमशः उत्कर्षता प्राप्त है * अतएव सातिशय है। किन्तु (ख)—के अनुसार जिन सब सातिशय पदार्थों का उपादान अमाय है वे अंत में निरतिशय होते हैं।

---

* सभी ज्ञान शक्तियां त्रिगुणात्मक हैं। सत्त्व की अधिकता उनके उत्कर्ष का कारण है। गुणसंयोग के असंख्य भेद हो सकते हैं। सत्त्व का क्रमिक आधिक्य ही ज्ञानशक्ति-समूह के क्रमिक उत्कर्षरूप सातिशयत्व का मूल कारण होता है।

सातिशय समस्त ज्ञान शक्ति का कारण अमेय है। (जिससे बड़ा रहता है वह सातिशय होता है)।

अतः वे अन्त में निरतिशयत्व पा जायगें। (जिससे बड़ा नहीं रहता वह निरतिशय होता है)।

(ङ) जिनको निरतिशय ज्ञान शक्ति है वे ही ईश्वर हैं।

सूत्रकार और भाष्यकार-द्वारा सम्मत इस अनुमान के द्वारा ईश्वर का सामान्य ज्ञान अर्थात् वे ऐसे पुरुष हैं इतना ही निश्चय होता है। आगम से अर्थात् जो व्यक्ति उनके प्रणिधान से उनके विषय में विशेषरूप से उपलब्धि कर चुके हैं उन व्यक्तियों के वाक्य से ईश्वर का संज्ञादिविशेष ज्ञातव्य है।

२५—(२) साधारण मनुष्य का चित्त पूर्वसंस्कारवश अवशीभूतभाव से निरंतर प्रवर्त्तित होता रहता है। उसकी निवृत्ति की इच्छा करने पर भी वह निवृत्त नहीं होता। विवेकसिद्ध योगी सब संस्कारों का नाश करके चित्त को सम्यक् निरुद्ध कर लेते हैं। यदि वे किसी प्रयोजन से 'इतने काल निरुद्ध रहूँ' ऐसा संकल्प कर चित्तनिरोध करते हैं तो ठीक उतने समय बाद उनका निरोध-क्षीण चित्त व्यक्त होगा *। उस समय जो चित्त उठेगा उसकी प्रवृत्ति का हेतुभूत अन्य कोई अविद्यामूलक संस्कार न रहने के कारण साधारण व्यक्ति के समान वह अवश भाव में नहीं होगा, परन्तु वह योगी के इष्ट भाव से विद्यामूलक होकर उठेगा। योगी उस चित्त के कार्यद्वारा वद्ध नहीं होते। इसलिये उनका चित्त जैसे इच्छा करने से उठता है वैसे ही इच्छा करने से योगी उसे विलीन कर सकते हैं। ठीक वैसे ही जैसे कि नाटकीय राम का अभिनय करने में अभिनेता को 'मैं राम हूँ' ऐसी भ्रांति नहीं होती। ऐसे चित्त को निर्माणचित्त कहा जाता है। अवश्य जो कृतकार्य योगी 'मैं अंनत काल के लिये प्रशांत होऊँगा' ऐसा संकल्प करके निरुद्ध होते हैं, उनके निर्माणचित्त होने की संभावना नहीं रहती।

मुक्त पुरुषगण ऐसे निर्माणचित्त-द्वारा कार्य कर सकते हैं, यह सांख्य शास्त्र का सिद्धांत है। भाष्यकार ने पंचशिख ऋषि का वचन उद्धृतकर इसको प्रमाणित किया है। ईश्वर भी ऐसे निर्माणचित्त के द्वारा ही जीवानुग्रह करते हैं। 'ईश्वर मुक्तपुरुष होने पर भी किस प्रकार भूतानुग्रह करते हैं' यह शंका इससे निराकृत हो जाती है। किसी प्रयोजन से योगी व्यक्ति निर्माणचित्त का विकास करते हैं। 'संसारी जीवों को संसारबंधन से ज्ञान-धर्मोपदेश के द्वारा मुक्त करूँगा' इस प्रकार जीवानुग्रह ही ऐश्वरिक निर्माणचित्त विकास का प्रयोजक होता है। कल्पप्रलय तथा महाप्रलय में भगवान् ऐसा ही निर्माणचित्त करते हैं, यह भाष्यकार का मत है। अतः जो केवल ईश्वर से ज्ञानधर्म पाने के लिए निश्चित बुद्धि हैं वे प्रलयकाल में उसे पावेंगे। किन्तु, ईश्वर प्रणिधानादि उपाय से चित्त को समाहित कर प्रचलित मोक्षविद्या के द्वारा जो पार जाने की इच्छा करते हैं उनके लिये कालनियम नहीं है। अनुग्रह का अर्थ अनिष्टनिवारणपूर्वक इष्ट साधन की इच्छा है। जिनका कुछ अनिष्ट नहीं होता उन्हें आत्मानुग्रह भी इष्ट नहीं होता।

सांख्यसूत्र में 'ईश्वरासिद्धेः' एवं योग में ईश्वर विषयक सूत्र पाठ करके **हमारे देश**

---

* जैसे 'कल अत्यन्त सवेरे उठूँगा' ऐसे दृढ़ संकल्प पूर्वक सोने पर उसी संकल्प के कारण तड़के ही नींद टूट जाती है वैसे ही (मिश्र)।

में एक भ्रांत धारणा चली आ रही है। कोई-कोई सोचते हैं योग में सेश्वर सांख्य है। यह सांख्य के विपक्षियों—द्वारा कहा जाता है।

वस्तुतः जगत् के उपादान भूत और (द्रष्टृरूप) निमित्तभूत तत्त्वसमूह में ईश्वर नहीं हैं, सांख्याचार्य इस मत का प्रतिपादन करते हैं। योगशास्त्र का भी ठीक यही मत है। उपनिषद् भी ऐसा ही कहते हैं, यथा—"**इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परम व्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥**' (कठ)। इसमें कहीं ईश्वर का उल्लेख नहीं है। महाभारत में भी इस तत्त्व को समझाते समय श्रुति की ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है; यथा, '**इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो मतः**' (शांतिपर्व)। यहाँ पर भी ईश्वर का उल्लेख नहीं। प्रधान तथा पुरुष से समस्त जगत् हुआ है यह मौलिक दृष्टि से सत्य होने पर भी एक विशेष सृष्टि-रूप रचना के लिए किसी महापुरुष का संकल्प (संकल्प का अर्थ यहाँ विश्व शरीराभिमान है, अभिमान रहने से ही संकल्प-कल्पना आदि हो सकते हैं) आवश्यक है; किन्तु निर्गुण मुक्तपुरुष में संकल्प, इच्छा आदि नहीं रह सकते। इस विषय में सांख्य तथा योग एकमत हैं। योगसूत्र और भाष्य में कहीं पर भी ऐसा नहीं कहा है कि 'मुक्त ईश्वर की इच्छा से यह जगत् बना है; पूर्वसिद्ध (३।४५) या हिरण्यगर्भ अर्धाश्वर का ही कथन है। ब्रह्माण्ड के अधिपति हिरण्यगर्भ या प्रजापति या जन्यईश्वर, सांख्यसंमत हैं, परन्तु वे प्रकृतिसंभूत इच्छा के द्वारा ब्रह्माण्ड के रचयिता हैं, मूल उपादान के स्रष्टा नहीं। यह विश्व प्रकृति और पुरुष से उत्पन्न है यह सांख्य, योग तथा उपनिषद् का सिद्धांत है। सांख्य जिन सब युक्तियों से जगतकर्ता मुक्तपुरुष ईश्वर की असिद्धि करता है, योग का ईश्वर उनके द्वारा असिद्ध नहीं होते प्रत्युत सांख्य की ओर से भी योग का ईश्वर सिद्ध होता है; यथा—

प्रधान और पुरुष अनादि हैं।

अतः प्रधान और पुरुष से जो वस्तु हो सकती हैं वे भी अनादि हैं।

अतएव जैसे बद्धपुरुष अनादिकाल से वर्तमान हैं वैसे ही मुक्तपुरुष भी अनादिकाल से वर्तमान हैं।

सदा जो मुक्तपुरुष निरतिशय उत्कर्ष-संपन्न है और जो निर्माण-चित्तरूप-विद्यायुक्त होकर भूतानुग्रह करता है वही ईश्वर हैं।

अतएव निरतिशय उत्कर्ष-सम्पन्न अनादिमुक्त-पुरुष की सत्ता सांख्य दृष्टि से न्याय्य है। तथा मुक्तपुरुषगण भी निर्माणचित्त के द्वारा जो भूतानुग्रह करते हैं वह भाष्यकार ने सांख्य से उद्धृत वचन द्वारा दिखाया है। इसलिये '**सांख्ययोगौ पृथग्वालाः प्रवंदति न पंडिताः। एकं सांख्यंच योगंच यः पश्यति स पश्यति॥**' (गीता)।

अनादिमुक्त-पुरुष नित्यकाल तक (प्रलयकाल में भी) ज्ञानधर्मोपदेश करते रहेंगे—योगसंप्रदाय में जो यह मत प्रचलित था उसमें बहुतों को संशय रहता है। यद्यपि यह संशय योग के अत्यन्त अनावश्यक विषय में है तथापि यह विचार करने योग्य है। यह संशय जितना सरल जान पड़ता है, वास्तव में यह उतना सरल नहीं। संशयकर्ता का प्रश्न ही सदोष है। कोई जिसे अनादि-अनंत-काल मानता है वह कार्यतः, उसके पास सादि-सांत होता

है और सदा वह ऐसा ही रहेगा भी । अतः संशयकर्ता का यथार्थ प्रश्न है—'इतने अवच्छिन्न काल में ही कोई मुक्तपुरुष ज्ञानधर्म-प्रकाश करके जीवानुग्रह करते हैं कि नहीं'—अवच्छिन्न काल की धारणा न कर सकने पर भी उसे धारणायोग्य समझकर संशयालु व्यक्ति ऐसी शंका वा प्रश्न किया करते हैं । अतएव असंभव को संभव मान करके प्रश्न करने से प्रश्न को ही सदोष मानकर उत्तर देना पड़ेगा ।

अवच्छिन्न काल में कोई भी मुक्तपुरुष जीवानुग्रह कर सकते हैं, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती । यह आगम का विषय है, दर्शन का नहीं । भाष्यकार ने इसकी संभाव्यता ही दिखायी है , घटनीयता नहीं । कल्पप्रलय-महाप्रलय तक अपेक्षा करनी पड़ेगी ऐसा कहने में उसकी आवश्यकता अत्यल्प ही है, भाष्यकार ने दूसरे शब्दों में यह भी कह दिया है ।

और भी एक विषय ध्यान देने योग्य है । जो त्रिकालवित् , सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं वे भविष्य को वर्त्तमान ही देखते हैं तथा वह वर्तमान उनके व्यवहार-योग्य भी होता है । इसमें अपनी इच्छा से वे ऐसे कारण का संयोग कर सकते हैं अथवा उस भविष्य कारण-कार्य-धारा को इस प्रकार नियमित कर दे सकते हैं कि पीछे उनका ईशितत्व न रहने पर भी जब वह भविष्य किसी के पास वर्तमान होगा तब वह उस नियंत्रित कारण-कार्य के फल को ही देखेगा । जैसे कि किसी गृह-निर्माता के मर जाने पर भी परवर्ती मनुष्य उसके मकान में वास कर सकते हैं—वैसे ही सर्वशक्त त्रिकालवित्, व्यक्ति के पास वर्तमानवत् जो कुछ भविष्य काल की घटनायें हैं अर्थात् वे "जीवविशेष का विवेक-ज्ञान अंतःकरण में प्रस्फुटित हो"—इस प्रकार कारण-कार्य-धारा को नियमित कर दे सकते हैं कि जिसके द्वारा उस जीव-विशेष का यथासमय कारण-कार्य-नियंत्रण के फलस्वरूप आप-ही आप विवेक प्रस्फुटित हो जायगा । तुम जिस अवच्छिन्न काल को अनादि-अनंत मानते हो और कहते हो उसी में यह संभव होने पर सब समय ही इसकी संभावना होगी ऐसा कहना होगा । योगसंप्रदाय के आगम में इसका उल्लेख रहने से इसी प्रकार से इसकी संभाव्यता समझनी चाहिये । कार्यकाल में जिनकी इसमें आस्था होगी वे इसी तरह विवेक लाभ भी करेंगे । दूसरे लोग प्रकृत दार्शनिक उपाय से ही विवेक-ज्ञान-लाभ करते हैं । स्वाभाविक नियमतः समाधि तथा विवेक—लाभ में ईश्वर प्रणिधान एक सफल उपाय है, वही दर्शन का प्रतिपाद्य है और वही सूत्रकार ने प्रतिपादित किया है ।

इस विषय पर ये सब ध्यान देने योग्य बातें हैं,यथा—१ । (सगुण या निर्गुण) ईश्वर से विवेक-ज्ञान ही लभ्य है अन्य कुछ नहीं । २ । केवल ईश्वर के अथवा पूर्वोक्त ऐश नियमन-द्वारा ही उसे प्राप्त करने की जिनकी इच्छा है वे हीं इस प्रकार पायेंगे एवं केवल उन्हीं के लिए इस प्रकार का ऐश-नियमन विहित हो सकता है । ब्रह्मांड में ऐसे अधिकारी कम ही हैं । अधिकांश में अधिकारी व्यक्ति स्वाभाविक नियमानुसार योग-द्वारा ही विवेक लाभ करते हैं । ३ । लोक-गोचर होकर ही ईश्वर को विवेकप्रकाश नहीं करना पड़ता है किन्तु योगियों के हृदय में वह अपने योग्य अलौकिक नियम—द्वारा ही प्रकटित होता है । ४ । जैसे मुक्त पुरुष सदा रहते हैं, उसी प्रकार अनादिमुक्त ईश्वर स्वीकार करना पड़ता है और जैसे मुक्त पुरुष अनेक होने पर भी उनकी भिन्नता के अवधारण के लिए कोई उपाय नहीं है इस कारण एक

अनादिमुक्त पुरुष कहा जाता है, वैसे ही सदा इस प्रकार का कोई ऐश नियमन भी हो सकता है जिससे अन्य पुरुष-द्वारा विवेक-लाभ के इच्छुक साधकों के अंतःकरण में विवेक-ज्ञान उदित हो जायगा (५) अवश्य ही उसम साधक की उपयोगिता रहनी चाहिये, नहीं तो सभीके द्वारा वह प्राप्य हो जाता, और सभी की संसृति का उच्छेद हुआ करता। अतएव केवल उपयोगी साधक के लिए ही वैसा होना संभव है। वह उपयोगिता ईश्वरसमापन्नता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसके लिये यम-नियमादि आवश्यक हैं और केवल अपेक्षित विवेक ही इस प्रकार के ऐशनियमन द्वारा प्राप्त हो सकता है पाया जायगा—यदि साधक उसी में लौ लगाये बैठा हो।

ईश्वर-संबंन्धी अन्य विवरण "सांख्य के ईश्वर" प्रकरण में देखिए।

भाष्यम्—स एषः

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पूर्वेहि गुरवः कालेनअवच्छेद्यंते, यत्रावच्छेदार्थेन कालोनोपावर्त्तते स एष पूवषामपि गुरुः। यथा अस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथा अतिक्रांतसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥२६॥

२६—भाष्यानुवाद—वे ऐसे हैं।

(कपिलादि) प्राचीन गुरुओं के भी गुरु हैं, क्योंकि उनकी ऐश्वर्य-प्राप्ति काल से अवच्छिन्न नहीं होती। सू

प्राचीन (ज्ञानधर्मोपदेष्टा, मुक्त, अतः ऐश्वर्यप्राप्त कपिलादि) गुरुगण काल के द्वारा अवच्छिन्न (१) हैं, जिनकी ईश्वरता का अवच्छेद समय नहीं आता वे पूर्वगुरुओं के भी गुरु हैं। (२) जैसे वर्तमान सर्ग के आदि से ही उत्कर्षप्राप्त होकर वे अवस्थित हैं वैसे ही अतिक्रांत सर्ग समूह के प्रारम्भ से भी वे उसी प्रकार स्थित हैं, इस प्रकार जानना चाहिए। (३)

टीका—२६—(१), (२), (३) के लिए २४ वें सूत्र की (३), (४), (५) टीकाओं को देखिये।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वम् अथ प्रदीप-प्रकाशवदवस्थितमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्तु ईश्वरस्य

स्थितमेवार्थमभिनयति, यथा अवस्थितः पितापुत्रयोः संबन्धः संकेतेनावद्योत्यते अयमस्य पिता अयमस्य पुत्रः इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचक शक्त्यपेक्षस्तथैवसंकेतः क्रियते संप्रतिपत्ति-नित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥

२७—उसका वाचक प्रणव या ओम् शब्द है । सू

भाष्यानुवाद—प्रणव का वाच्य ईश्वर है । क्या यह वाच्यवाचकत्व संकेत-कृत है अथवा प्रदीप-प्रकाश के समान यह वाच्यवाचक संबन्ध अवस्थित है । परन्तु ईश्वर का संकेत उस अवस्थित विषय का ही अभिनय या प्रकाश करता है । जैसे पिता-पुत्र का संबंध रहता है किन्तु उसको संकेत से प्रकाश किया जाता है, "ये इनके पिता हैं ये इनके पुत्र हैं" । इसी प्रकार दूसरे सर्ग समूहों में भी (इस सर्ग के समान किसी शब्द या प्रणव के द्वारा) वाच्यवाचक-शक्ति-सापेक्ष संकेत किया जाता है (१) संप्रतिपत्ति की नित्यता के कारण शब्दार्थ का संबन्ध भी नित्य (२) है ऐसा आगमवेत्तागण कहते हैं ।

टीका—२७-(१) कोई कोई पदार्थ ऐसे हैं कि जिनके नाम का संकेत किसी एक पद या शब्द के द्वारा किया जाता है किन्तु बिना उस नाम के उस पदार्थ-ज्ञान की कोई हानि नहीं होती । और दूसरे कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो केवल शब्दमय चिंतन के द्वारा अवगत होते हैं । उनके नाम का भी संकेत किया जाता है । किन्तु उस नाम का अर्थ—उस विषयसंबन्धि समस्त शब्दमय चिंतन है । पहले प्रकार का उदाहरण हैं चैत्र, मैत्र इत्यादि । चैत्रादि नाम न रहने पर भी उन व्यक्तियों के बोध में कुछ हानि नहीं होती । दूसरे प्रकार का उदाहरण पिता पुत्र इत्यादि । 'पुत्र जिनसे उत्पन्न होता है' इत्यादि प्रकार का शब्दमय चिंतन 'पिता' शब्द का अर्थ है । 'चैत्र का पिता मैत्र है" यहाँ चैत्र कहने से सिर्फ चैत्र नामक मनुष्य का ज्ञान होगा । 'चैत्र' इस नाम को न जानकर भी, उसको देखने से भी वही ज्ञान होगा । और भी पहले देखे हुए चैत्र को 'चैत्र' इस नाम से स्मरणज्ञान में रक्खा जा सकता है । अथवा उसका नाम भूलने पर भी उसे स्मरण किया जाता है तथा स्मरण में रक्खा जाता है । किन्तु चैत्र तथा मैत्र का जो संबन्ध है अर्थात् पिता शब्द का जो अर्थ है उसकी किसी शब्द के बिना भावना नही हो सकती है, क्योंकि शब्दस्पर्शादि-व्यवसाय की भावना वाचक शब्द के बिना भी हो सकती है, किन्तु प्रायः चिंतनरूप अनुव्यवसाय शब्द के बिना (या अन्य संकेत के बिना) भावना करना साध्य नहीं । पिता-शब्दार्थ उसी प्रकार की चिंता का फल होने के कारण उसकी भावना भी शब्द के बिना कठिन होती है । वस्तुतः पिता और पितृशब्दार्थ प्रदीप और प्रकाश के तुल्य हैं । प्रदीप होने से जैसे प्रकाश होता है पिता कहने से वैसे ही (संकेत को जाने हुए व्यक्ति के पास) पितृ शब्दार्थक मन में प्रकाश होता है । शब्दमय चिंतन या उसके एक शाब्दिक संकेत के अभाव में वैसा अर्थ मन में प्रकाशित नहीं होता ।

ईश्वर-पदार्थ भी इसी प्रकार की शब्दमयी भावना है । कुछ शब्दवाच्य पदार्थों की कल्पना किए बिना ईश्वर का बोध नहीं होता । ईश्वर-संबन्धी जो समस्त शब्दमय चिंतन है (वाचक शब्द के साथ जो चिंतन अविनाभावी है) उसी का ओम् शब्द के द्वारा संकेत किया गया है । इस प्रकार शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध अविनाभावी होने से भी एक ही शब्द के साथ एक ही अर्थ का सबंन्ध नित्य नहीं हो सकता है, क्योंकि मनुष्यगण

इच्छानुसार संकेत करते हैं। बहुत से नये धातुप्रत्ययों के योग से निर्मित या अन्य प्रकार के शब्दों के द्वारा नये संकेत भी किए जाते हैं। परंतु टीकाकारों के मत में ओम् शब्द केवल इसी सर्ग में ही ईश्वरवाचक रूप में संकेतित नहीं हुआ। पूर्व सर्ग में भी ऐसे संकेत में ओम् शब्द का प्रयोग था। इस सर्ग में सर्वज्ञ अथवा जातिस्मर पुरुषों के द्वारा पुनः यही संकेत प्रवर्तित हुआ है। यह भाष्यकार का भी मत हो सकता है। आर्षशास्त्र में ओम् शब्द के ऐसे आदर का विशिष्ट कारण यह है कि प्रणव के द्वारा चित्त की स्थिरता जैसी आती है वैसे और दूसरे शब्द से नहीं।

सब हल् वर्णों का उच्चारण एकतान भाव से नहीं होता, सब स्वर वर्णों का ही एकतान भाव से उच्चारण होता है। किन्तु उसमें अनेक वाक् शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। केवल ओंकार अपेक्षाकृत सहज में उच्चारित होता है, विशेष रूप से अनुनासिक मकार एकतान भाव से तथा अत्यल्प प्रयत्न से उच्चारित होता है। यह प्रश्वास के साथ एकतान भाव से ब्रह्मरंध्र (नासा का मूल वा (nasopharynx) के स्वल्प प्रयत्न से ही उच्चारित होता है। इस कारण चित्त को एकतान करने के लिये ओम् शब्द की ही अधिक उपयोगिता है। वस्तुतः यह शब्द मन-ही-मन उच्चारित होने से कंठ से मस्तिष्क की ओर एक प्रयत्न जाता है (जिसको कौशल से योगी लोग ध्यान की ओर लगते हैं) किन्तु मुँह का कुछ प्रयत्न नहीं होता। एकतान शब्द के उच्चारण के बिना पहिले चित्त की एकतानता या ध्यान आयत्त नहीं होता। इस विषय में प्रणव सर्वथा उपकारी है। सोऽहम् शब्द भी वस्तुतः ओ-कार तथा म-कार भाव में ही प्रधानतः उक्चारित होता है। अतएव वह भी उत्तम तथा परमार्थ व्यंजक मंत्र है।

योगियाज्ञवल्क्य में कहा है, '**अदृष्टविग्रहो देवो भाव ग्राह्यो मनोमयः। तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥**' श्रुति भी ओंकार के लिए कहती हैं '**एतदालंबनं श्रेष्ठमेतदालंवनं परम्**' अर्थात् परमार्थसाधन के आलंवनों से प्रणव ही श्रेष्ठ और परम आलंवन स्वरूप है।

२७—(२) संप्रतिपत्ति = सदृश-व्यवहार-परम्परा। उसकी नित्यता के कारण शब्दार्थ संबंध भी नित्य है। इसका अर्थ ऐसा नहीं होता कि 'घट' शब्द और उसका अर्थ (विषय) इन दोनों का संबंध नित्य है। कारण, पहले ही कहा जा चुका है कि एक ही अर्थ पुरुष की इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा संकेतीकृत हो सकता है। ३। १९ सू (२) (ज) टीका देखिये।

किंतु जो सब अर्थ शब्दमय चिंतन-द्वारा बोधगम्य होते हैं उनके साथ किसी-न-किसी वाचक शब्द का संबंध रहना अवश्यंभावी है। भाष्य के 'शब्द' पद का अर्थ है कोई एक शब्द। गो घट आदि किसी विशेष नाम के साथ उसका अर्थ का संबंध जो नित्य है यह मत ठीक नहीं। 'करना' तथा ' do ' इन क्रियावाचक शब्दों के वाचक का भेद है और कालक्रम से भेद हो जा सकता है किन्तु 'करना' तथा 'do' पद का जो अर्थ है, कृ धातु के समानार्थक किसी शब्द या संकेत के बिना उसके अवगत होने का अन्य उपाय नहीं है। इस प्रकार से ही संकेतभूत शब्द का एवं अर्थ का संबंन्ध अविनाभावी होता है। संप्रतिपत्ति की नित्यता के कारण अर्थात् "जब तक मन था और रहेगा तब तक उसने शब्द से वाच्य पदार्थ का बोध किया और करेगा" मन का यह एक रूप से व्यवहार करने वाला स्वभाव परंपरा-

क्रम से नित्य होने के कारण शब्दार्थ का संबंध भी नित्य होता है। यह स्पष्ट है कि यह कूटस्थ नित्यता का उदाहरण नहीं है, इसे प्रवाह-नित्य कहा जाता है।

जो लोग यह कहते हैं कि अनादिपरंपराक्रम से घटादिशब्द स्वस्व अर्थं में सिद्ध-वत् प्रयुक्त होते आ रहे हैं, इस कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य है एवं 'संप्रतिपत्ति' शब्द के द्वारा वे वैसा अर्थ प्रतिपादित करते हैं, उनका मत न्यायसंगत नहीं है।

भाष्यम्—विज्ञात वाच्यवाचककत्वस्य योगिनः—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य च ईश्वरस्य भावना। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थंच भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते। तथा चोक्तम् 'स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् (स्वाध्यायमासते)। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते' इति।।२८ ॥

भाष्यानुवाद—वाच्यवाचकत्व जानकर योगी—

२८। उसका जप तथा उसकी अर्थभावना करें।

प्रणव का जप तथा उसके अभिधेय ईश्वर की भावना करते हुए प्रणवजपनशील तथा प्रणवार्थभावनशील योगी का चित्त एकाग्र (१) होता है। इस पर कहा गया है, "स्वाध्याय से योगारूढ़ हो एवं योग से पुनः स्वाध्याय का उत्कर्ष साधन करे, स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं" (२)।

टीका—२८। (१) ईश्वरता की अर्थ-धारणा करने के लिये जो सब शब्दमय चिंतन करना पड़ता है वह सब ओम् शब्द के द्वारा संकेत किया हुआ है। सुतरां ओम् शब्द का यथार्थ संकेत याद रहने से ईश्वर-विषयक भाव मन में प्रकाशित होते हैं। जब ओम् शब्द के उच्चारण से ही मन में ईश्वर-शब्द का अर्थ भलीभाँति प्रकाशित होता है, तब प्रकृत संकेत वा वाच्य-वाचक सम्बन्ध का ज्ञान हो गया है यह समझना चाहिये। साधकों को सावधानतया पहले इस वाच्यवाचक भाव को मन में जागृत करने का अभ्यास करना पड़ता है। ओम् शब्द का जप तथा उसकी अर्थभावना करते-करते मन अभ्यस्त हो जाता है। तत्पश्चात् सहज ही प्रणव की एवं उसके अर्थ की प्रतिपत्ति (सिद्धवत् ज्ञान) चित्त में उठते रहने पर प्रकृष्ट प्रणिधान होता है।

ग्रहणतत्त्व और ग्रहीतृतत्त्व हमारे आत्मभाव के अंगभूत हैं। अतः वे अनुभूत वा साक्षात्कृत हो सकते हैं। अतएव पहले शाब्दिक चिंतन उनकी उपलब्धि का हेतु होने पर शब्द-शून्य-भाव से भी उनकी भावना हो सकती। निर्वितर्क तथा निर्विचार ध्यान ऐसा ही है। किन्तु आत्मभाव के बहिर्भूत ईश्वर की भावना शब्दों के बिना नहीं हो सकती, और वह भावना भी केवल कुछ गुणवाची वाक्यों का चिंतनमात्र है अर्थात् जो क्लेशशून्य, जो कर्मशून्य इत्यादि। किन्तु उस 'जो' की धारणा करने के लिये—उनमें चित्त स्थिर करने के लिये—उस प्रकार के नानातत्व का चिन्तन उस ध्यान के अनुकूल नहीं होता।

किन्तु हम जिसकी धारणा कर सकते हैं, जिसको एक सत्तारूप से अनुभव कर सकते हैं वह ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य इस त्रिविध तत्त्व के भीतर अवश्य होगा, अर्थात् रूप-रसादिरूप में बुद्धि-अहंकारादि रूप में (बुद्धि आदि ग्रहण-तत्त्व की धारणा करने में अवश्य ही अति-स्थिर-ध्यान विशेष आवश्यक हैं) उसकी धारणा करनी ही पड़ेगी। वाह्य भाव से धारणा करते समय रूपादियुक्त भाव लेकर एवं आत्मभाव के अंग रूप में अर्थात् अंतर्यामि-रूप में, धारणा करते समय बुद्धियादिरूप लेकर धारणा करनी होगी। इसके सिवाय अन्य उपाय नहीं है।

अतः वाह्यभाव से ईश्वर की धारणा करने के लिए रूपादियुक्त भाव में धारणा करना संगत है। योग के प्रथम स्तर के साधक वैसा ही करते रहते हैं। शास्त्र भी कहता है, **'योगारंभे मूर्त्तहरिममूर्त्तमथ चिंतयेत्'**।

बुद्धि आदि आत्मभाव स्वरूप से ही अनुभूत होते हैं अर्थात् अपनी बुद्धि आदि के बिना दूसरे की बुद्धि का हम साक्षात् अनुभव नहीं कर सकते। अतएव आत्मभाव से ईश्वर की धारणा करनी हो तो 'सोऽहं' इसी प्रकार से धारणा करनी होगी। शास्त्र में कहा है कि **'यः सर्वभूतचित्तज्ञो यश्च सर्वहृदि स्थितः। यश्च सर्वांतरेज्ञेयः सोऽहमस्मीति चिंतयेत्'**। लिंगपुराण में भी योगदर्शनोक्त ईश्वर भावना वर्णित है—**'शंभोः प्रणववाच्यस्य भावना तज्जपादपि। आशु सिद्धिः पराप्राप्या भवत्येव न संशयः॥ एकं ब्रह्ममयं ध्यायेत् सर्वं विप्र चराचरम्। चराचर विभागश्च त्यजेदहमिति स्मरन्'** श्रुति भी कहती है—**'तमात्मस्थं येऽनुपश्यंति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्'** (कठ)।

कार्यतः ईश्वर-प्रणिधान हृदय*में करना पड़ता है। नवीन साधक जो मूर्त्त-ईश्वर-प्रणिधान सहज मानते हैं उन्हें हृदय में ज्योतिर्मय ऐश्वरिक रूप की कल्पना करनी पड़ती है। मुक्त ईश्वर जैसे स्थिरचित्त और परमपद में स्थित होने के कारण से प्रसन्नवदन हैं वैसे ही अपनी ध्येय-मूर्त्ति का चिंतन करके उसमें अपने को ओत-प्रोत भाव से स्थित ध्यान करना होता है। प्रणवजप के द्वारा अपने को ईश्वर प्रतीकस्थ, स्थिर, निश्चिन्त, प्रसन्न ऐसा स्मरण करना होता है।

इसके अभ्यास से जब चित्त कुछ स्थिर, निश्चिन्त तथा ऐश्वरिक भाव में स्थिति करने में समर्थ हो जाय तब हृदय में स्वच्छ, शुभ्र असीमवत् आकाश की धारणा करना चाहिये। उस आकाश में सर्वव्यापी ईश्वर-सत्ता है ऐसा जानकर उसमें अहंता ओत-प्रोत है

---

* वक्षस्थल में जहाँ पर प्रीति वा सौमनस्य होने से सुखमय बोध होता है एवं दुःखभयादि से विषादमय बोध होता है वह प्रदेश ही हृदय कहलाता है। वस्तुत अनुभव का अनुसरण करके हृदय प्रदेश स्थिर करना चाहिये। स्नायु, रक्त, मांस इत्यादि विचार करके हृदय पुंडरीक स्थिर करने पर उतना फल नहीं होता। हृदय में रागादि मानस भाव का प्रतिफलन (reflex action) होता है। वही प्रतिफलित भाव हम हृदय में अनुभव कर सकते हैं किन्तु चित्तवृत्ति कहाँ पर होती है, इसका अनुभव नहीं कर सकते। अतः हृदय प्रदेश में ध्यान करके बोधयिता को प्राप्त करना सरल है।

परंतु हृदय प्रदेश ही दैहिक अस्मिता का केन्द्र है। मस्तिष्क चैत्तिक केन्द्र है किन्तु कुछ समय तक चित्तवृत्ति रोध करने से बोध होता है कि मानों अहंता (मैं पन) हृदय में उतरा आ रहा है। हृदय देश में ध्यान के द्वारा सूक्ष्म अस्मिता की उपलब्धि कर सूक्ष्मधारा क्रम से मस्तिष्क के अन्तरतम प्रदेश में पहुँचने पर अस्मिता का सूक्ष्मतम केन्द्र मिल जाता है। उस समय हृदय तथा मस्तिष्क एक हो जाते हैं।

इस भाव से स्थित (मैं ही उस हृदयाकाशस्थ ईश्वर में स्थित हूँ) ध्यान करना पड़ता है। हृदयाकाशस्थ ईश्वर-चित्त में अपने चित्त को मिलाकर निश्चित, संकल्पशून्य तृप्त भाव से रहने का अभ्यास करना होता है। एक श्रुति में यह प्रणाली भलीभाँति वर्णित है। यथा, **"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥"** (मुंडक) अर्थात् ब्रह्म या हृदयाकाशस्थ ईश्वर लक्ष्य है; प्रणव धंनुष के समान तथा आत्मा या अहंभाव शर के समान है। अप्रमत्त वा सदा स्मृतियुक्त होकर उस ब्रह्मरूप लक्ष्य में आत्मशर को बेधकर तन्मय करना पड़ता है, अर्थात् ओम् पद के द्वारा 'मैं ही हृदयाकाशस्थ ईश्वर में स्थित हूँ' यह भाव स्मरण करते हुए ध्यान किया जाता है।

यह ध्यान अभ्यस्त होने पर साधक ध्यान-काल में हृदय में आनंद अनुभव करते हैं। उस समय ईश्वर में स्थिति-जात आनन्दमय बोध ही 'मैं' हूँ ऐसा स्मरण करके ग्रहणतत्त्व में जाना होता है। इस प्रकार सुस्थिर तथा प्रसन्न चित्त से अपने चित्त को क्लेशशून्य (अर्थात् निरुद्ध) एवं स्वरूपस्थ भाव में अर्थात् ऐश्वरिक भाव में भावित किया जाता है। सावधानतया बहुत दिनों तक निरंतर तथा सत्कार-सहित इसका अभ्यास करने से ईश्वर प्रणिधान का प्रकृत फल प्रत्यक्चेतनाधिगम प्राप्त होता है। (अगला सूत्र देखिए)

ईश्वर-वाचक प्रणव (प्रणव का अन्य अर्थ भी है) जप करने के लिये 'ओं'-कार को थोड़े समय तक एवं 'म'-कार को प्लुत वा दीर्घ तथा एकतान भाव से उच्चारण करना चाहिए। अवश्य प्रस्फुट उच्चारण की अपेक्षा संपूर्ण का मानसिक उच्चारण ही श्रेष्ठ है। जिस जप में वागिन्द्रिय अत्यल्प मात्रा में भी नहीं काँपती वही उत्तम जप होता है। और भी एक प्रकार का उत्तम जप है जिसको अनाहतनाद के साथ करना पड़ता है। ऐसा बोध होता है मानों अनाहत नाद ही मंत्र रूप में सुनाई दे रहा है। तंत्रशास्त्र में इसे मंत्र-चैतन्य कहते हैं। तंत्र कहता है **'मंत्रार्थं मंत्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः। शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धिर्न जायते।'** सोऽहंभाव ही सबसे उत्तम योनिमुद्रा है। वही योगियों-द्वारा ग्रहणयोग्य योनिमुद्रा है।

ईश्वर प्रणिधान अवश्य ही भक्तिपूर्वक करना चाहिये। (भक्ति के तत्त्व 'परभक्ति सूत्र' में देखिए)। ईश्वर-स्मरण में सुख-बोध होने पर जो सुख बोधमय और महत्त्व बोध युक्त अनुराग होता है वही भक्ति है। प्रियजन को स्मरण करने से जिस प्रकार हृदय में सुखबोध होता है और बार बार स्मरण करने की इच्छा होती है, ईश्वर स्मरण में भी जब उसी प्रकार होगा तभी भक्तिभाव व्यक्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

प्रियजन को स्मरण करके हृदय में सुखबोध होने पर उस सुखबोध को स्थिर रखकर प्रियजन के स्थान में ईश्वर को उसी सुखबोध के साथ चिंतन करते करते भक्तिभाव शीघ्र प्रकट तथा वर्द्धित होता है। प्रणवजप का दूसरा संकेत यह है :—'औं'-कार के उच्चार काल में ध्येयभाव का स्मरण, और दीर्घ एकतान 'म'-कार के उच्चारण काल में उस स्मरण किए हुए ध्येय-भाव में स्थिति करना चाहिये। इस प्रकार अभ्याय कर, श्वास-प्रश्वास के साथ प्रणव-जप करने पर अधिकतर फल मिलेगा। प्रश्वास को सहजभाव में लेते लेते 'ओ'-कार से ध्येय का स्मरण, और दीर्घ प्रश्वास के साथ 'म'-कार के मानसिक एकतान उच्चारण से ध्येयभाव में स्थिति करनी पड़ती है। इस प्रकार द्विविध प्रयत्न से चित्त एक ही ध्यान म व्यस्त रहता है।

इस प्रकार भावना-सहित जप करने से चित्त एकाग्रभूमिक होता है। चित्त एकाग्र-भूमिक होने पर संप्रज्ञात-योग और उसके बाद असंप्रज्ञात-योग सिद्ध होता है।

२८—(२) इस गाथा का अर्थ है:—स्वाध्याय की या अर्थ की भावना कर जप के द्वारा योगारूढ़ होना या चित्त को एकतान करना। चित्त एकाग्र होने पर जप्य मंत्र के सूक्ष्मतर अर्थ का बोध होता है। उस सूक्ष्मतर भाव की भावना करके पुनः जप करते रहिए। तदनु और भी सूक्ष्म तथा निर्मल-भाव अधिगत होने से उसी की दृष्टि रख के पुनः जप करिए। इस तरह स्वाध्याय से योग तथा योग से स्वाध्याय विवर्द्धित होकर प्रकृष्ट योग निष्पादित होता है।

भाष्यम्—किंचास्य भवति—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति, स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ २९ ॥

भाष्यानुवाद—और क्या होता है?—

२९—उसी से प्रत्यक् चेतन का (१) साक्षात्कार होता है और सब विघ्न विलीन होते हैं। सू

व्याधि आदि जो सब अंतराय रहते हैं वे ईश्वर-प्रणिधान करते करते नष्ट हो जाते हैं एवं योगी को स्वरूप-दर्शन भी होता है। जिस प्रकार ईश्वर शुद्ध (धर्माधर्मरहित), प्रसन्न (अविद्यादि क्लेश शून्य), केवल (बुद्धि आदि से हीन), अतएव अनुपसर्ग (जाति, आयु तथा भोग से शून्य) पुरुष है, उसी प्रकार इस (साधक की अपनी) बुद्धि के प्रति संवेदी पुरुष भी (२) हैं; इसी रूप में प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होता है।

टीका—२९। (१) प्रत्यक् शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। हर वस्तु में संबद्ध अर्थात् ईश्वर, प्रत्यक् है। प्रत्यक् का दूसरा अर्थ पश्चिम वा पुराण है अत 'पुराण पुरुष' वा ईश्वर प्रत्यक् है। किन्तु यहाँ पर ऐसा अर्थ नहीं है। यहाँ प्रत्यक् का अर्थ विपरीत भाव का ज्ञाता है। **'प्रतीपं विपरीतम् अंचति विजानाति इति प्रत्यक्'**। (वाचस्पति) अर्थात् आत्म-विपरीत अनात्मभाव का बोद्धा। इस प्रकार चेतना या चिति-शक्ति ही प्रत्यक् चेतन या पुरुष है। केवल पुरुष कहने से मुक्त, बद्ध, ईश्वर आदि सभी बोध होता है। किन्तु प्रत्यक् चेतन शब्द अपने अर्थ से अविद्यावान् पुरुष की (अतः विद्यावान् पुरुष की भी) स्वरूप चिद्रूपावस्था का बोध कराता है; यही विशेषत्व है। विषय के प्रतिकूल या आत्मा के अभिमुख जो चैतन्य या दृक् शक्ति है वही प्रत्यक् चेतन है—प्रत्यक् शब्द का यह अर्थ भी होता है। किन्तु फलतः जो कहा गया है उसमें वही होता है। बुद्धियुक्त पुरुष या भोक्ता प्रत्येक पुरुष ही प्रत्यक् चेतन है। अतः 'अपनी' आत्मा ही प्रत्यक् चेतन है।

२६—(२) यह २८ सूत्र की (१) टिप्पणी में समझाया गया है। ईश्वर स्वरूपतः चिन्मात्रभाव में प्रतिष्ठित है। अतः स्वरूप ईश्वर में द्वैतभाव से (ग्राह्य भाव से) स्थित होने की योग्यता मन की नहीं है। कारण यह है कि चित् स्वबोध है, वह आत्म-वहिर्भूत भाव से या अनात्मभाव से ग्राह्य नहीं है। जो आत्म-वहिर्भूतभाव से गृहीत होता है वही ग्राह्य हैं। अतः चैतन्य को ऐसे भाव से ग्रहण किया जाय तो वह चैतन्य नहीं होता, रूपरसादियुक्त व्यापी पदार्थ होता है। वस्तुतः पूर्वोक्त प्रणाली से भावना करते रहने पर जो स्वस्वरूप चिन्मात्र में स्थिति होती है उसी का अर्थ ईश्वर को आत्मा म अवलोकन करना होता है। 'आत्मा को आत्मा में अवलोकन करना' इसका अर्थ भी कार्यतः ठीक वैसा है। ईश्वर 'अविद्यादिशून्य स्वरूपस्थ, चित्प्रतिष्ठ' है ऐसी भावना करते करते इन सब वाक्यार्थ का प्रकृत बोध होता है। स्वसंवेद्य पदार्थ का प्रकृत बोध होने का अर्थ है आपही वैसा हो जाना। इस प्रकार ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा स्वरूपाधिगम होता है।

निर्गुण मुक्त ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा मोक्षलाभ कैसे होता है, यह सूत्रकार ने दिखाया है। कारण, वही कर्मयोग का प्रधान साधन है तथा सगुण ईश्वर का प्रणिधान भी उसी के अंतर्गत है। सगुण ईश्वर का या हिरण्यगर्भ का प्रणिधान भी सांख्ययोग संप्रदाय में प्रचलित था। सगुण ईश्वर के माध्यम से निर्गुण-सिद्धि तथा एक साथ ही निर्गुण आदर्श को प्राप्त करना कार्यतः और फलतः एक ही है, क्योंकि सांख्ययोगियों का सगुण ईश्वर समाहित, शांत, सास्मित ध्यानस्थ महापुरुष है। अतः उसके प्रणिधान से भी समाधिसिद्धि तथा विवेकलाभ अवश्यंभावी है और कुछ अधिकारियों के यही अनुकूल भी होता है। फलतः दोनों प्रथाएँ ही एक हैं, एवं ज्ञानयोग की ये दो प्रथायें वस्तुतः समान हैं। अतएव प्राचीन काल में साधक संप्रदाय का भेद था किन्तु मत-भेद नहीं था (गीता देखिये)। हृदय में शांत, ज्ञानमय, समाहित पुरुष का चिंतन करते रहने से क्या फल होगा ?—साधक भी आत्मा में वैसी ही भावानुभूति करेंगे। ज्ञानमय आत्मस्मृति का प्रवाह चलते रहने से साधक शब्दरूपादि-ग्राह्य आलंबन का अतिक्रमण कर ग्रहणतत्त्व में आ पहुँचेंगे। किस प्रकार से यह हो सकता है और इस मार्ग से कैसे विवेक ज्ञान होता है, यह महाभारत में इसी प्रकार प्रदर्शित किया गया है। (शांति पर्व ३०१)।

सगुण ब्रह्म में प्रणिधान-तत्पर कर्मयोगिगण एवं सगुणालंबनध्यायी ज्ञानयोगिगण साधनविशेष के द्वारा रूप, रस, स्पर्श आदि विषयों को लाँघ कर आकाश के परम रूप या भूतादि के तामस-अभिमान में पहुँचते थे, यथा, **'स तान्वहति कौन्तेय नभसः परमाङ्गतिम्'** अर्थात् हे कौन्तेय, वह वायु बहाकर आकाश की परमागति या शब्द तन्मात्र अथवा भूत रूप तामस अभिमान की श्रेष्ठ अवस्था में पहुँचा देता है। यह तमस रजोगुण की श्रेष्ठ गति अहंकार तत्व में पहुँचाता है, यथा **'नभो वहति लोकेश रजसः परमां गतिम्'** अर्थात् हे लोकेश, नभ वा उक्त तम योगी को रजगुण की परम गति अहंकार तत्त्व में पहुँचाता है, कारण तन्मात्रतत्त्व से अहंकार तत्त्व में जाना योगशास्त्र की अन्यतर शैली है। उसके बाद **'रजो वहति राजेन्द्र सत्वस्य परमां गतिम्'** अर्थात् हे राजेन्द्र, रजोगुण का परिणाम अहंकार तत्त्व सत्त्व की परमागति अस्मीतिमात्र बुद्धिसत्त्व या महत्त्व पर वाहित करके पहुँचा देना है, अर्थात् योगी अस्मीतिमात्र की उपलब्धि करते हैं। पुराणों में भी कहा है कि ईश्वर ध्यान में अपने को ईश्वरस्थ चिंतन कर (**'चराचर विभागंच त्यजदहमिति स्मरन्'** ।),

उस अस्मीतिमात्र की उपलब्धि होने के बाद योगी को **'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'** इस सगुण ब्रह्मभाव का स्फुरण होता है। वह सगुण ब्रह्म नारायण का ही स्वरूप है। अतएव यह कहना सङ्गत है कि **'सत्वं वहति शुद्धात्मन् परं नारायणम्प्रभुम्'** अर्थात् हे शुद्धात्मन् (अथवा शुद्धात्मस्वरूप), सत्त्वगुण का जो श्रेष्ठ परिणाम महत्तत्त्व (अस्मीति-मात्र रूप) है, वह नारायण में वाहित करके पहुँचा देता है या सगुण ब्रह्म नारायण के साथ योगी का तादात्म्य होता है।

उसके बाद **'प्रभुर्वहति शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना'** अर्थात् शुद्धात्मा प्रभु नारायण आत्मा के द्वारा ही परमात्मा को वाहित करते हैं अर्थात् वे विवेकज्ञानयुक्त होकर अवस्थान करते हैं। इस तरह योगी भी नारायण सदृश होकर उनके विवकज्ञान को पाते हैं। योगभाष्यकार ने भी कहा है **'यथैवेश्वरः पुरुषश्शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति।'**

विवेक के पश्चात् **'परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः। अमृतत्वाय कल्पंते न निवर्त्तन्ति वा बिभो॥ परमा सा मतिः पार्थ निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम्। सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम्।'** इन नारायण के साथ तदात्म्य साधन प्राचीन सांख्यों का अन्यतम साधन था, यह आदि सांख्यसूत्र रचयिता महर्षि पंचशिख के **'पंचरात्र विशारदः'** इस महा-भारतोक्त विशेषण से भी विज्ञात होता है। पंचरात्र का अर्थ विष्णुत्व-प्रापक क्रतु या यज्ञ होता है। **'पुरुषोऽह वै नारायणोऽकामयत अत्यतिष्ठेय सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्याम् इति। स एतं पंचरात्रं पुरुषमेधं यज्ञक्रतुमपश्यत्'**—शतपथ ब्राह्मण में कहे हुए इस सर्वव्यापी नारायण-प्रापक अर्थात् सगुण ब्रह्म-प्रापक यज्ञ में वे विशारद थे। और भी सांख्यों के लक्षण **'समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते'** अर्थात् वे सर्वभूतो में समदर्शी होकर ब्रह्मा के अर्थात् हिरण्यगर्भ के अभिमुख में रहनेवाले हैं, अर्थात् परमपुरुष-संबन्धी विवेकयुक्त नारायण ही सांख्यों के आदर्श होते हैं। इसलिये सांख्यों का अन्य नाम हैरण्यगर्भ होता है।

सांख्य योगियों में से जो विवेक का आदर्श ग्रहण करके केवल ज्ञानयोग का साधन करते थे उनके इस साधन के विषय में मोक्षधर्म में ऐसा है, जैसे क्रोध, भय, काम इत्यादि दमन करने के बाद **'यच्छेद्वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा। ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना॥'** उपनिषदुक्त ज्ञानयोग के यह ठीक अनुरूप है। **'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छांत आत्मनि॥'** (इसका अर्थ 'ज्ञानयोग' प्रकरण में देखिए)।

किसी किसी को यह संशय होता है कि ब्रह्माण्डाधीश हिरण्यगर्भदेव यदि सृष्टि नहीं करते तो जीवों का देहधारण और दुःख नहीं होता। यह शंका मिथ्या है। मुक्त पुरुष ही उपाधि को सम्यक् विलुप्त कर सकते हैं, सगुण ईश्वर नहीं। अतः सगुण ईश्वर की व्यक्त उपाधि रहेगी ही और उसका आश्रय लेकर अन्य प्राणी व्यक्त शरीर अवश्य ही धारण करेंगे (अपने अपने संस्कारों के अनुरूप) हिरण्यगर्भ-ब्रह्म का आयुष्काल मनुष्य के एक महाकल्प के समान कथित हुआ है, यह भी स्मरण रखना चाहिये। उनके महामन का एक क्षण हमारे बहु-कोटि वर्षों के समान होता है, ऐसी कल्पना सम्यक् न्याय्य है—

भाष्यम्—अथ कऽन्तराया ये चित्तस्य विक्षेपकाः के पुनस्ते कियन्तो वेति ?—

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्य-विरति-भ्रांति- दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थित-त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

नव अन्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः सह एते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति, एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः । व्याधिर्धातुरसकरण वैषम्यं, स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य, संशय उभय-कोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति, प्रमादः समाधिसाधनानाम् भावनम्, आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः, अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मागर्द्धः, भ्रांतिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्, अलब्धभूमित्कवं समाधिभूमेरलाभः, अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्या-प्रतिष्ठा समाधिप्रतिलंभे हि तदवस्थितं स्यात् । इत्येते चित्तविक्षेपा तव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयंते ॥ ३० ॥

भाष्यानुवाद—चित्तविक्षेप करनेवाले अंतराय कौन कौन हैं ? उनके नाम क्या हैं ? वे कितने हैं ?—

३०—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदशन, अलब्धभूमि-कता, और अनवस्थितता, ये सब चित्त विक्षेप के अंतराय होते हैं।

ये नौ अन्तराय चित्त के विक्षेप हैं, चित्तवृत्तियों के साथ ये उत्पन्न होते हैं, इनके अभाव में पूर्वोक्त सब चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं । व्याधि धातु, रस तथा इन्द्रियों की विषमता । स्त्यान—चित्त की अकर्मण्यता । संशय—उभय दिक्स्पर्शी विज्ञान; जैसे "यह ऐसा या ऐसा नहीं होगा" । प्रमाद—समाधि के साधनसमूह की भावना न करना । आलस्य—शरीर तथा चित्त की गुरुतावश अप्रवृत्ति । अविरति—विषयसन्निकर्ष के लिये (अथवा विषय योगरूपा) तृष्णा । भ्रांतिदर्शन—विपर्ययज्ञान । अलब्धभूमिकता-समाज भूमि का अलाभ अनवस्थितता—उपलब्ध भूमि पर चित्त की अप्रतिष्ठा । समाधि का प्रतिलंभ (निष्पत्ति) होने से चित्त भी अवस्थित होता है । इन नौ प्रकार के चित्तविक्षेपों को योगमल, योगप्रति पक्ष या योगांतराय कहा जाता है । (१) ।

टीका—३० । (१) अन्तराय नष्ट होना तथा चित्त का सम्यक् समाहित होना एक ही बात है । रुग्ण शरीर—द्वारा योग का प्रयत्न भलीभाँति नहीं हो सकता है । **'उपद्रवांस्थता रोगान् हितजीर्णमिताशनात्'** (भारत), अर्थात् कायिक उपद्रवों तथा रोगों को हित, परिमित तथा जीर्ण होने के बाद किए हुए आहार के द्वारा दूर करना । व्याकरण के नाश के लिये यही प्रकृष्ट उपाय होता है । ईश्वर के समान प्रणिधान करने से सात्त्विकता और शुभबुद्धि आवेगी, जिनसे योगी हित, जीर्ण और मिताशन करेंगें तथा ठीक ठीक उपाय—अव-लम्बन करेंगे; अतः बुद्धि-भ्रंश नहीं होगा । उत्तम कर्तव्य-ज्ञान रहने पर भी अत्यन्त चंचलता के कारण चित्त को ध्यानादि साधन में प्रवृत्त करने या प्रवृत्त रखने की इच्छा होना ही—**स्त्यान** है । अप्रीतिकर होने पर भी वीरत्वपूर्ण प्रयत्न करते रहने से स्त्यान हट जाता है । **संशय** रहते हुए उपयुक्त वीरत्वपूर्ण प्रयत्न नहीं हो सकता । अत्यन्त दृढ़ता और वीरत्वपूर्ण प्रयत्न के बिना योग में सिद्धि पाने की संभावना नहीं है; इसलिये निःसंशय होना आवश्यक है । श्रवण और मनन के द्वारा तथा स्थिर और संशयहीन उपदेष्टा के सहवास से संशय दूर होता

है। समाधि के साधन-समूह की भावना न करना तथा आत्मविस्मृत होकर के विषय में लिप्त रहना ही प्रमाद होता है। स्मृति इसका प्रतिपक्ष है। **'नायमात्माबलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्'** (श्रुति)। बुद्धदेव भी धर्मपद में बोले हैं 'अप्रमाद अमृत-पद और प्रमाद मृत्युपद है।'

आलस्य—कायिक तथा मानसिक गुरुताजनित आसन ध्यानादि में अप्रवृत्ति। स्त्यान में चित्त अवश होकर इधर उधर घूमता है, अतएव साधन कार्य में उसका प्रयोग नहीं हो पाता है। चैत्तिक आलस्य में चित्त तमोगुण के प्रावल्य से स्तब्धवत् रहता है दोनों में यही भेद है। मिताहार, जागरण और उद्यम के द्वारा आलस्य पराजित होता है। विषयों से दूर रहकर वैषयिक संकल्प को त्यागने के अभ्यास करने से अविरति दूर जाती है। **'कामं संकल्प-वर्जनात्'** (महाभारत) इस पर यह शास्त्रवाक्य सारभूत है।

असल हान और हानोपाय को न जानकर निम्नपद को ऊँचा या श्रेष्ठपद और श्रेष्ठपद को निम्नपद मानना भ्रान्तिदर्शन है। कोई साधन के समय ज्योतिर्मय पदार्थ दर्शन कर सोचते हैं कि उन्हें ब्रह्मदर्शन हो गया। कोई कुछ आनन्द पाकर सोचते हैं कि उन्हें ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ है, क्योंकि ब्रह्म आनन्दमय हैं। कोई कुछ औपनिषद् ज्ञान प्राप्तकर सोचते हैं कि उन्हें आत्मज्ञान हो गया है, अब यथेच्छाचार से कुछ भी हानि नहीं होगी, ये सब भ्रांतिदर्शन होते हैं। ईश्वर तथा गुरु के प्रति भक्ति और श्रद्धा के साथ योगशास्त्र का अध्ययन तथा तदनुसार अंतर्दृष्टि प्राप्ति से भ्रान्ति—दर्शन हटता है। श्रृति ने कहा—**'यस्य तेवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः'** ॥

भ्रान्ति दर्शन अनेक प्रकार के हैं। कुछ योगी दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, भविष्य-कथन आदि कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होने पर उन्हें ही प्रकृत योग समझते हैं। एक अन्य श्रेणी के व्यक्ति हैं जो hysteric वा hypnotic प्रकृति के होते हैं, वे कुछ साधन कर (कोई कोई प्रथम स्तर से ही एवं अर्थोपार्जन तथा गृहस्थी में लिप्त रहते हुए भी) कुछ काल के लिए स्तंभित अवस्था पाते हैं (यह एक प्रकार की जड़ता है)। इस प्रकृति के आदमियों की Supraliminal Consciousness वा परिदृष्ट चित्तक्रिया और Subliminal Consciousness-वा अपरिदृष्ट चित्तक्रिया सहज ही पृथक् हो जाती है। इसमें प्रथमोक्त चित्तक्रिया के जड़ हो जाने पर किसी विषय का स्फुट-ज्ञान नहीं रहता, किन्तु शेषोक्त चित्तक्रिया ज्यों की त्यों चलती रहती है तथा शरीर का कार्य भी। बंदूक की आवाज सुननें पर भी वह स्तब्ध अवस्था नहीं टूटती, यह प्रायः देखा गया है।

इस प्रकृति के भ्रांत साधक सोचते हैं कि उनको 'निर्विकल्प' या निरोध समाधि आदि हुआ करती है। वे 'देशकालातीत' प्रभृति शास्त्रीय वचनों से उसे व्यक्त करते हैं, अन्य लोग भी इस प्रकार भ्रांत होते हैं। आहार, निद्रा, भय, क्रोध प्रभृति के वशीभूत होकर भी, ये प्रायः अपने को जीवन्मुक्त समझते हैं। यदि इन्हें पूछा जाय कि शास्त्र में इस समाधि के साथ जो सर्व-सिद्धि तथा निवृत्ति आदि के फल और लक्षण उक्त हुए हैं, वे सब कहाँ हैं ? तो वे लोग साधारणतः दो प्रकार का उत्तर देते हैं—कोई कहते हैं कि सिद्धि आदि साधारण बातों पर हम ध्यान नहीं देते, निवृत्ति हमारे अधीन है, इससे अधिक वस्तु की आवश्यकता ही क्या है ?

दूसरे कहते हैं कि शास्त्र में, जो सब अलौकिक सिद्धि का कथन है, वह सब मिथ्या या प्रक्षिप्त है, किंतु ये लोग इतना भी नहीं सोचते कि श्रोता कहेंगे कि शास्त्र का इतना भारी

अंश यदि झूठा है तो 'निर्विकल्प' समाधि, मोक्ष इत्यादि भी झूठ है। वस्तुतः जैसे वृहत् हीरकखंड के अस्तित्व की संभावना रहने पर हीरक-चूर्ण के अस्तित्व में संशय करना ठीक नहीं, वैसे ही शाश्वत सर्वदुःखनिवृत्ति-रूप मोक्षसिद्धि की संभावना रहने पर उससे नीची दूसरी सिद्धियों को असंभव कहना मोक्षशास्त्र में अज्ञता प्रदर्शित करना है। कारण, यदि योगियों को पंचभूत वशीभूत करने की शक्ति हो या न हो तो भी उन्हें अनन्तकालीन पंचभूतातीत अवस्था प्राप्त हो सकती है, यह कहना असंगत है। किन्तु योगज सिद्धि को पाना और मुख्य उद्देश्य को त्याग कर उसी का व्यवहार करते रहना एक बात नहीं है (३ । ३७ सू. देखिए)।

Hysteric तथा hypnotic प्रकृति के व्यक्तियों का वाह्यज्ञान सहज से चला जाता है, किन्तु उस समय उनका मन स्थिर नहीं होता है। ऐसे व्यक्तियों को बहुत असामान्य शक्ति और भाव आ सकते हैं (हमारे पास ऐसे बहुत से साधकों की अनुभूति के लिखित विवरण हैं), किन्तु यह न तो प्रकृत चित्तस्थैर्य है, न तत्त्वदृष्टि, किन्तु जो प्रकृत तत्त्वदर्शन के मार्ग पर परिचालित होते हैं, वे इस वाह्यरोध-रूप स्वभाव के द्वारा कुछ स्फुट भाव से धारणा कर सकते हैं, यह देखा जाता है; किन्तु इनके द्वारा कुछ मानसिक उद्यम करने पर प्रतिक्रिया (reaction) के कारण इनको स्तब्धभाव आता है और भ्रांतिवश ये उसी को 'निर्विकल्प,' 'निरोध' आदि समझ लेते हैं। कुछ प्रक्रियाओं—द्वारा प्रकृत साधक को इस रोग कष्ट से हटाना पड़ता है।

सम्भव है बहुतों को योग के निम्नांग का कुछ साक्षात्कार होता है और वे जो कुछ कहते हैं, वह स्वेच्छापूर्ण मिथ्या-भाषण नहीं, बल्कि योगका सम्यक् ज्ञान न रहने के कारण एक को दूसरा समझने की भ्रांति है, अतः ये जानकर झूठ नहीं बोलते, किन्तु 'भ्रांत सत्य-कथन' किया करते हैं।

मधुमती आदि योगभूमि की अप्राप्ति ही **अलब्धभूमिकता** है। योग-भूमि का विवरण ३।५१ सूत्र के भाष्य में देखिए। भूमि-लाभ करके उसमें स्थित न होना **अनवस्थितता** है। लब्धभूमि में स्थित होने पर तत्त्व-साक्षात्काररूप समाधि-निष्पत्ति होनी चाहिये, नहीं तो उससे भ्रष्ट हो सकता है।

ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा ये सब अंतराय दूर हो जाते हैं, क्योंकि जिस अंतराय का जो प्रतिपक्ष है, ईश्वरप्रणिधान से वह प्रकट होकर उस अंतराय को दूर भगा देता है। ईश्वर, प्रणिधान से सात्त्विक निर्मल बुद्धि उगती है एवं योगी में इच्छाभिघात-शून्यता का ऐश्वर्य क्रमशः संचारित होता रहता है। उसी से साधकों के अभीष्ट अंतरायाभाव तथा अंतराय-नाश की उपाय प्राप्ति सिद्ध होते हैं।

दुःखदौर्म्मनस्यांगमे-जयत्व-श्वास-प्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—दुःखमाध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकं च। यनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतंते तद्दुःखम्। दौर्म्मनस्यभिच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः। यदंगान्येजयति

कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स-श्वासः, यत् कौष्ठ्यं वायुः निःसारयति सप्रश्वासः, एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवंति ॥ ३१ ॥

३१—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास—ये विक्षेप के साथ साथ होनेवाले हैं ।

भाष्यानुवाद—दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक है । जिसके द्वारा उद्विग्न होकर प्राणी उसकी निवृत्ति की चेष्टा करते हैं, वही दुःख होता है । दौर्मनस्य = इच्छा के अभिघात होने से चित्त का क्षोभ । अंगसमूह का कंपन अंगमेजयत्व है । प्राण, जो वाह्य वायु लेता है, वह श्वास है और जो भीतर की वायु त्यागता है, वह प्रश्वास (१) है । ये विक्षेप के साथ पैदा होते हैं । विक्षिप्त चित्त में ही ये आते हैं, समाहित चित्त में नहीं ।

टीका--३१—(१) श्वास और प्रश्वास, स्वाभाविक श्वास और स्वाभाविक प्रश्वास हैं । आदमियों के जो अनिच्छा से अर्थात् अनजाने में ही जो श्वास-प्रश्वास हुआ करते हैं, वे समाधि के अंतराय हैं, किंतु समाधि के अंगभूत श्वास और प्रश्वास अर्थात् रेचन और पूरण, जो वृत्तिरोधकारी प्राणायामिक प्रयत्न से किये जाते हैं, वे विक्षेप के सहजात नहीं भी हो सकते । अवश्य ही समाधि में प्रायः रेचनपूरणादि का भी रोध हो जाता है, किन्तु रेचनपूरणजनित आध्यात्मिक बोध और उसकी स्मृति के प्रवाह में सम्यक् अवहित होने पर भी उस विषय की सालंवन समाधि हो सकती है ।

भाष्यम्—अथ एते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यान्निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्वावलंवनं चित्तमभ्यसेत् । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्ये व विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्य एकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमिति, अतो न प्रत्यर्थनियतम् । योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्य यद्येकाग्रता प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वाद्, अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति । यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वाभावभिन्नाः प्रत्ययाजायेरन् अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेद्, अन्यप्रत्ययोपचित्तस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ताभवेत् । कथंचित् समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति ।

किंच स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति, कथं यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्च अस्प्राक्षं तत्पश्यामीति अहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः, एक प्रत्ययविषयोऽयमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः कथमत्यंतभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् ? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः, न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यम्प्रमाणांतरेणाभिभूयते, प्रमाणांतरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितञ्च चित्तम् ॥ ३५ ॥

भाष्यानुवाद—समाधि के प्रतिपक्ष ये सब विक्षेप उक्त अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निरुद्ध होते हैं। उनमें अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुए यह सूत्र कहते हैं।

३२—उसकी (विक्षेप की) निवृत्ति के लिये एक तत्त्वाभ्यास करना चाहिए। सू

विक्षेप-नाश के लिए चित्त को एकतत्त्वालंबन (१) कर अभ्यास करना चाहिये। जिनके मत में चित्त (२) प्रत्यर्थनियत (क) अतः प्रत्ययमात्र अर्थात् आधारशून्य और केवल वृत्तिरूप और क्षणिक है, उनके मत में समस्त चित्त ही एकाग्र होगा; विक्षिप्त चित्त और नहीं रहता है, किन्तु यदि समस्त विषय से प्रत्याहरण करके चित्त को एक ही अर्थ में समाहित किया जाय, तो वह एकाग्र होता है; इसलिये चित्त प्रत्यर्थनियत नहीं है (ख)। और जो सोचते हैं कि समान आकार के प्रत्यय-प्रवाह द्वारा चित्त एकाग्र होता है, उनकी भी एकाग्रता को यदि प्रवाहचित्त का धर्म कहा जाय तो वह भी संगत नहीं हो सकता है, क्योंकि (उनके मतानुसार) चित्त की क्षणिकता के कारण एक प्रवाह-चित्त की संभावना नहीं। और (एकाग्रता को) प्रवाह के अंशस्वरूप एक एक प्रत्यय का धर्म कहने से वह प्रत्यय-प्रवाह का समानाकार प्रत्यय का प्रवाह हो या असमानाकार प्रत्यत का प्रवाह हो, प्रत्यय-समूह प्रत्यर्थनियत होने के कारण सब ही एकाग्र हो जायेंगे, अतः वैसा होने पर विक्षिप्त चित्त की अनुपपत्ति होती है। इसलिये चित्त एक तथा वह अनेक विषय-ग्राही और अवस्थित (अर्थात् अस्मितारूप धर्मिभाव से अवस्थित) है। यदि (आश्रयभूत) एक चित्त के साथ असंबद्ध, स्वतंत्र, अपने से भिन्न प्रत्ययसमूह उत्पन्न होता है (ग) तो एक प्रत्यय दृष्ट विषय का स्मर्ता अन्य प्रत्यय कैसे होगा और एक प्रत्यय के द्वारा संचित संस्कार का स्मर्ता और कर्माशय का उपभोक्ता अन्य प्रत्यय कैसे हो सकता है। जो हो, किसी प्रकार से समाधान कर लेने पर भी यह गोमयपायसीय न्याय (३) से भी अधिक अयुक्त मालूम पड़ता है।

चित्त का एक एक प्रत्यय संपूर्ण तथा पृथक् है, यदि ऐसा कहो तो स्वानुभव का भी अपलाप होता है (घ)। कैसे ? जिसे 'मैं' ने देखा था, वही 'मैं' स्पर्श कर रहा हूँ। तथा जिसे 'मैं' ने स्पर्श किया था, वही मैं देख रहा हूँ। इस प्रकार अनुभव में प्रत्ययों का भेद रहने पर भी 'मैं' यह प्रत्ययभाग प्रत्ययी के निकट अभेद रूप में उपस्थित होता है। एक प्रत्यय का विषय, अभेदाकार अहम्प्रत्यय अत्यंत भिन्न चित्तांशों में वर्त्तमान हो कर भी कैसे एक-प्रत्ययी का आश्रय ले सकता है ? अभेदाकार यह अंहरूप रूप-प्रत्यय स्वानुभवग्राह्य है। प्रत्यक्ष की महिमा अन्य प्रमाण से नहीं घटती, अन्य सब प्रमाण प्रत्यक्षबल से ही व्यवहृत होते हैं। इस कारण चित्त एक तथा अनेक विषय-ग्राही और अवस्थित है अर्थात् शून्य नहीं किन्तु एक अभंग सत्ता है।

टीका—३२ । (१) एक तत्त्व का अर्थ मिश्र जी कहते हैं ईश्वर; भिक्षु जी—स्थूलादि कोई तत्त्व; भोजराजजी—कोई एक अभिमत तत्त्व । वस्तुतः यहाँ ध्येय पदार्थ के किसी निर्देश के विषय में विवक्षा नहीं है (ध्येय के प्रकार की ही विवक्षा है), किन्तु ईश्वर आदि जो कुछ ध्येय हो उसका एक तत्त्व के रूप में आलंवन करना चाहिये । ईश्वर आदि का ध्यान नाना-भाव से क्रमशः किया जा सकता है, जैसे स्तोत्र-आवृत्ति करके उसके अर्थ-चिंतन द्वारा चित्त ईश्वरविषयक नाना आलंवनों में विचरता रहता है । एक तत्त्वालंवन इस प्रकार नहीं होता है । ईश्वर-संबंधी किसी एक ही रूप के आध्यात्मिक भाव या धारणा में जब चित्त की स्थिति होगी, तब इस प्रकार एक रूप आलंवन में अवधान करने का अभ्यास ही एक तत्त्वाभ्यास होता है । वह विक्षेप का विरोधी है, अतः उसके द्वारा विक्षेप दूर होता है । अन्य—ध्येय विषय में भी ऐसा ही नियम है ।

एक तत्त्वाभ्यास के आलंवनों में ईश्वर तथा अहंभाव उत्तम हैं । प्रतिक्षण में उगनेवाली चित्त वृत्तियों का 'मैं द्रष्टा हूँ' इस प्रकार के अहंरूप एकालंवन को स्मरण करते रहन अत्यन्त चित्तप्रसाद देता है । यही श्रुति निर्दिष्ट ज्ञान-आत्मा की धारणा होती है ।

केवल ईश्वर ही कहना होता तो सूत्रकार एकतत्त्व शब्द का व्यवहार नहीं करते । यह भी कहा गया है कि ईश्वर-प्रणिधान से अंतराय दूर होता है, अतः एक तत्त्वाभ्यास उसी के अंतर्गत उपायविशेष है । श्वासप्रश्वास आदि समस्त शारीर क्रिया—द्वारा एक स्वरूप चित्त-भाव का स्मरण होता है, वही एकतत्त्व है । वह भाव ईश्वर अथवा अहंतत्त्व विषयक होना ही ठीकहै । अन्यविषयक भी हो सकता है । वस्तुतः जो आलंवन समष्टिभूत एक-चित्तभाव स्वरूप है, वही एकतत्त्वालंवन है । उसके अभ्यास से चित्त सहज ही भली भाँति स्थित हो जाता है । श्वास-प्रश्वास के साथ यह भाव अभ्यस्त होने पर स्वाभाविक श्वासप्रश्वास योगांगभूत श्वासप्रश्वास बन जाता है, और वह अभ्यस्त होने पर दुःख से सहसा अभिनव नहीं होता है । वही सहज तथा सुखकर आलंवन होता है, अतः उसी से दौर्मनस्य भी दूर हो जाता है । पुनः एक अवस्था को स्थिर रखने का प्रयत्न होते रहने के कारण अंगमेजयत्व भी कम होता रहता है । इस प्रकार क्रमशः स्थितिलाभ करने पर विक्षेप और विक्षेप के सहजात भावों का निवारण होता है ।

३२—(२) यह उपदिष्ट हो चुका है कि विक्षिप्त चित्त को एकाग्र करना चाहिए । किन्तु क्षणिकविज्ञानवादियों के मत में इसका कोई सदर्थ नहीं होता है । क्षणिकविज्ञानवादी भी एकाग्र तथा विक्षिप्त चित्त की बात कहते हैं ; किन्तु उनके मतानुसार एकाग्र तथा विक्षिप्त शब्द का तात्पर्यग्रह और संगति नहीं होती हैं, यह भाष्यकार दिखा चुके हैं ।

(क) इसको समझने से पहिले क्षणिकवाद जानना चाहिये । इस मत के अनुसार चित्त या विज्ञान प्रत्यर्थनियत है, अर्थात् प्रतिविषय में उत्पन्न और समाप्त होता है । और वह प्रत्ययमात्र * वा ज्ञातवृत्तिमात्र, निराधार, क्षणिक, या क्षणस्थायी है । जैसे—दश क्षण के लिये घट-विज्ञान होने पर उसमें दश भिन्न भिन्न घट-विज्ञान उठेगें तथा अत्यंतनाश को प्राप्त होगें । इनमें पूर्व विज्ञान,उत्तर विज्ञान का प्रत्यय या हेतु होता है । उनका मूल शून्य है अर्थात् उन

---

* बौद्ध शास्त्र में प्रत्यय शब्द का अर्थ हेतु है । प्रत्यय मात्र=पर-क्षणिक विज्ञान का हेतु मात्र होता है, ऐसा अर्थ भी बौद्धों के अनुसार संगत हो सकता है, किन्तु यहाँ प्रत्यय का अर्थ ज्ञानवृत्ति है ।

दोनों में ऐसा कोई एक भावपदार्थ अन्वित नहीं रहता, जिम भावपदार्थ के वे विकार या भिन्न भिन्न अवस्थाएँ हो सकें। बौद्धों की गाथा है **'सव्वे सङ्खारा अनिच्चाउप्पादव्ययधम्मिनो। उप्पज्जित्वानिरुज्झन्ति तेसं वुपसमो सुखो।'** अर्थात् समस्त संस्कार (विज्ञान को छोड़कर समस्त संचित आध्यात्मिक भाव) अनित्य हैं, वे उत्पाद और लयधर्मी हैं। वे उत्पन्न होकर निरुद्ध या विलीन होते हैं। उनका उपशम अर्थात् उठने-नाश होने का विराम ही सुख या निर्वाण होता है। केवल संस्कार ही नहीं, उसका सहजात विज्ञान भी वैसा है। सांख्यशास्त्र के मत में भी चित्त-वृत्तियाँ परिणामी या अनित्य हैं, एवं उनका सम्यक् निरोध ही कैवल्य होता है। अतः प्रधानतः दोनों वादों में समानता है। किन्तु दोनों वादों के दर्शन में भेद है। सांख्य कहता है चित्तवृत्तियाँ उत्पत्ति-लय-शील या संकोच-विकाश-शील होने पर भी **वृत्तियाँ** चित्तनामक एक ही पदार्थ के विकार या भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। जैसे सेर भर मिट्टी के गोले को प्रतिक्षण बहुत प्रकार के आकारों में परिणत किया जा सकता है, किन्तु उन सब आकारों में ही एक सेर मिट्टी मिली हुई रहेगी। अतएव उस सेर भर मिट्टी का ही वे विकार हैं ऐसा कहना नाय्य होता है। यही सत्कार्यवाद के भीतर परिणामवाद है। ३।१३ (६)।

बौद्ध यह नहीं मानते जैसे प्रदीप में प्रतिक्षण नया नया तेल जलता जा रहा है फिर भी वह एक प्रदीप ही प्रतीत होता है, आलयविज्ञान वा अहंभाव भी वैसे ही भिन्न भिन्न क्षणिक विज्ञानों—द्वारा उत्पन्न होने पर भी एक-सा प्रतीत होता है।

बौद्धों के इस उदाहरण में न्यायदोष है। वस्तुतः लोग दीपशिखा शब्द का प्रयोग 'जो आलोकदान देती है', इत्यादि अर्थ में करते हैं; एक ही प्रकार का आलोकदान रूप गुण देखकर लोग कहते हैं, दीपशिखा एक है, आलोकदान गुण बहुत नहीं है, किन्तु एक है; "प्रतिक्षण जिसमें नूतन नूतन तैल दग्ध होना है "वही दीपशिखा" है, इस अर्थ में कोई भी दीपशिखा शब्द का व्यवहार नहीं करता है। यदि कोई करता भी है तो वह पहली और दूसरी दीपशिखा को एक रूप नहीं समझता है।

गंगाजल का अर्थ है गंगा के खात में जो जल रहता है, वह कोई एक निर्दिष्ट जल नहीं; दीपशिखा भी वैसे ही है। यह कहा जा सकता है कि पवनशून्य-स्थान में स्थित ह्रास-वृद्धि-हीन दीपशिखा एक सी ज्ञात होने से भ्रांति होती है। यह हो सकता है; किन्तु यह क्यों होता है?—प्रति मुहूर्त में शिखा के समीप जो तैल आता है, वह पूर्व तैल का समानधर्मा होने के कारण।

इसी से यह नियम सिद्ध होता है कि एकाकार बहुत से द्रव्य अलक्षित भाव से एक एक करके दृष्टि-गोचर होने पर एक-से प्रतीत होकर भ्रांति पैदा करते हैं, किन्तु इसी से परिणामवाद निरस्त नहीं होता। एकाकार बहुत से द्रव्य रहने पर, एवं प्रकार विशेष से बोधगम्य होनेपर ही प्रतीति होगी, किन्तु वे बहुत से द्रव्य एकाकार कैसे होते हैं, यह तथ्य सत्कार्यवाद दिखाता है। दीपशिखा का उदाहरण पूर्वोक्त मृत्पिंड के उदाहरण से विरुद्ध नहीं है, वह पृथक् वस्तु है। इसलिये एक के द्वारा अन्य का विरोध नहीं होता।

क्षणिकवादी नाय्य शैली से यह नहीं दिखा सकते कि बहु आलयविज्ञान किस प्रकार से होता है। पूर्व-प्रत्यय वा हेतुभूत विज्ञान से उत्तर कार्यभूत विज्ञान कैसे होता है, इसमें क्षणिक विज्ञानवादी अति असंगत उत्तर देते हैं। प्रत्ययभूत विज्ञान का संपूर्ण नाश हो गया, और अभाव से एक विज्ञान-रूप भावपदार्थ उत्पन्न हुआ—क्षणिकवादियों का यह मत नितांत

अन्याय्य है। असत से सत् पैदा होना या सत् का असत् हो जाना न्यायसंगत मनुष्य के चिन्तन में नहीं आते। पाश्चात्त्य दार्शनिकगण कहते हैं ex nihilo nihil fit अर्थात् असत् से सत् नहीं बन सकता है। वैज्ञानिकों का Coservation of energy वाद भी सत्कार्य-वाद की छाया है।

असत् से सत् बनने का वा सत् की असत् प्राप्ति का उदाहरण संसार में नहीं मिलता। समस्त कार्य के ही उपादान तथा हेतु या निमित्त (बौद्धमत में 'पच्चय') ये दो कारण रहना अवश्यंभावी होता है। पूर्वविज्ञान उत्तर-विज्ञान का निमित्त हो सकता है किन्तु उत्तर विज्ञान का उपादन कौन है ? तथा पूर्व विज्ञान का उपादन भी कहाँ जाता है ? बौद्ध इस को उत्तर देते हैं। पूर्व विज्ञान "शून्य" हो जाता है, और उत्तर विज्ञान "शून्य" से होता है। शून्य का अर्थ यदि साक्षात् अज्ञेय कोई सत्ता हो तो वह न्यायसंगत एवं सांख्य के ही अनुसार है।

सांख्य कहता है कि समस्त व्यक्तभाव का मूल उपादान अव्यक्त है अर्थात् व्यक्त रूप से धारणा के अयोग्य एक सत्ता है। सांख्य निश्चय करता है कि वाह्य तथा आध्यात्मिक पदार्थों में कार्य और कारण के परंपराक्रम से बुद्धितत्त्व या अहंमात्र-बोध सर्वोच्च व्यक्त कारण होता है। उसके उपादान अव्यक्त हैं।

बौद्धों के विज्ञान में सांख्य के बुद्धि इत्यादि तत्त्व भी हैं। अतः इस विज्ञान का कारण 'शून्य' नामक सत्ता कहना सांख्य के अनुकूल ही है। ठीक वैसे ही जैसे कि "दही का कारण दूध, दूध का कारण गाय" ऐसा कहना और "गोरस का कारण गाय" ऐसा कहना अविरुद्ध हैं। किन्तु विज्ञान के भीतर विज्ञाता को लेकर उसकी अव्यक्तता प्रतिपादन करना सर्वथा असंगत है।

सांख्ययोगी के शिष्य बुद्धदेव ने संभवतः 'शून्य' शब्द सत्ताविशेष के अर्थ में प्रयुक्त किया था, अतएव उनका धर्म दार्शनिक विचार से कुछ मुक्त होगया था। अतएव सर्वसाधारण-द्वारा अधिक ग्राह्य होगया। अभी ऐसे बौद्ध संप्रदाय हैं जो शून्य को अभावमात्र नहीं किन्तु सत्ताविशेष समझते हैं। शिकागो की धर्म-सभा में जापान के बौद्धों ने अपने मत का उल्लेख करते समय कहा था कि विज्ञान का भी एक तत्व (essence) है। याम्य बौद्धों में भी बहुत व्यक्ति "शून्य" को निर्वाण धातु नामक एक सत्ता कहते हैं। वस्तुतः शून्य शब्द का अर्थ अस्पष्ट है।

किन्तु भारत में प्राचीनकाल में×ऐसे बौद्ध संप्रदाय का प्रचार हुआ था जो 'शून्य' को अभावमात्र कहता था, यह मत संपूर्ण अयुक्त था—इसको भाष्यकार ने निम्न लिखित प्रकार से युक्ति द्वारा दिखाया है।

(ख) चित्त को क्षण-स्थायी पदार्थमात्र कहने से क्षणिकवादी जो विक्षिप्त, एकाग्र

× अशोक के राज्यकाल में रचित, कथावत्थु नामक पालिग्रन्थ में लिखा है कि उस समय बौद्धों में भी बहुत से भिन्न-भिन्न वादी थे। मोग्गली पुत्र तिसस् ने पाटलीपुत्र (पटना) में अशोक की सभा में ई० पू० ३०० शताब्दी के मध्य कथावत्थु की रचना की थी। उसमें तिसस् ने २५० विभिन्न भ्रांत बौद्ध मतों का निराकरण किया है (vide Dialogues of the Buddha by T. W. Rhys Davids Preface X-XI)

आदि चित्तावस्था के विषय म कहते हैं उसकी कोई भी प्रकृत अर्थसंगति नहीं होती है, क्योंकि प्रत्येक चित्त यदि विभिन्न तथा क्षणस्थायी-मात्र हो तो वे सब ही एकाग्र हैं; कारण क्षण-स्थायी प्रत्येक चित्त का आलम्बन भी एक ही रहता है।

यदि कहो कि समानाकार विज्ञान-प्रवाह को ही एकाग्र चित्त कहा जाता है तो वह भी निरर्थक है, क्योंकि वह एकाग्रता किस चित्त का धर्म है? जब प्रत्येक चित्त ही पृथक् सत्ता है, तब प्रवाह चित्त नाम से एक सत्ता नहीं हो सकती है। अतः एकाग्रता 'प्रवाह चित्त का धर्म है, ऐसा कहना ठीक नहीं। पुनः प्रत्येक चित्त जब पृथक् पृथक् होते हैं तब चित्त का आलंबन सदृश हो या विसदृश, समस्त चित्त ही एकाग्र होगा। विक्षिप्त चित्त नाम की कोई वस्तु रह ही नहीं सकती।

(ग) प्रत्ययसमूह पृथक् तथा असंबद्ध होने से एक प्रत्यय के दृष्ट विषय का या कृत कर्म का स्मरणकर्ता वा फलभोक्ता अन्य प्रत्यय नहीं हो सकता है। इस विषय में क्षणिक-वादी कह सकते हैं कि विज्ञान संस्कार-संज्ञादि से सम्प्रयुक्त होकर उदित होता है, और पूर्व-क्षणिक विज्ञान उत्तरक्षणिक विज्ञान का हेतु होने के कारण उत्तर-विज्ञान पूर्वविज्ञान के कितने ही सदृश संस्कार आदि से सम्प्रयुक्त होकर उदित होता है। स्मृति और कर्म (चेतना-विशेष) बौद्धमत में संस्कार होते हैं। इसलिये उत्तर विज्ञान में पूर्वविज्ञानसंयुक्त स्मृति आदि अनुभूत होती हैं। परंतु इसमें पूर्वविज्ञान से उत्तर विज्ञान में कोई सत्ता जाती है यह स्वीकार करना अनिवार्य है। किन्तु क्षणिकवाद में पूर्वविज्ञान का सब ही नष्ट या अभाव-प्राप्त हो जाता है। अतः प्रत्ययसमूह एक ही मौलिक चित्यपदार्थ के भिन्न भिन्न परिणाम हैं यह सांख्यीय दर्शन ही युक्तियुक्त है।

(घ) इस दर्शन के पक्ष में और एक युक्ति यह है कि 'जो मैंने देखा था उसी का मैं स्पर्श कर रहा हूँ; जिसका मैंने स्पर्श किया था वही मैं देख रहा हूँ' इस प्रकार के प्रत्यय में वा प्रत्यभिज्ञा में 'मैं' यह प्रत्ययांश हमको एक अनुभव होता है। (३।१४)।

क्षणिकवादी कहेगें वह 'एक ही दीपशिखा' इस ज्ञान के समान भ्रांत एकत्व ज्ञान है। किन्तु वह जो दीपशिखा के समान है ऐसी कल्पना का हेतु क्या है? क्षणिकवादी केवल दृष्टांत देते हैं, युक्ति नहीं। प्रत्युत 'शून्य' का अर्थ अभाव है इसको प्रतिपन्न करने के लिये ही ऐसी कल्पना करते हैं। अथवा 'जो सत् है वह क्षणिक है' इस अप्रमाणित प्रतिज्ञा को भित्ति या हेतु बनाकर—'अहंत्व सत् है' अतः वह क्षणिक है, ऐसा अयुक्त उपनय और विनिगमना करते हैं। किन्तु इस प्रकार की कल्पना से प्रत्यक्ष एकत्वानुभव बाधित नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रमाण सब से अधिक बलवान है। कोई कोई नवीन वेदांतवादी भी 'सत् का अभाव होता है' ऐसा स्वीकार करके मायावाद' समझाने की चेष्टा करते हैं। वे बोलते हैं कि—'जो घट टूट गया, वह तो संपूर्ण ही नष्ट हो गया, अतः यहाँ पर सत् का नाश स्वीकार्य है। यह केवल वाक्यमय युक्ताभास-मात्र होता है। वस्तुतः जो घट इस नाम को नहीं जानता है वह यदि एक घट को देखता हो तथा उस समय यदि कोई घट को तोड़ दे तो वह क्या देखेगा? वह देखेगा कि जो समस्त खपरे (घटावयव) पहले एक स्थान पर थे वही, पीछे दूसरे स्थान पर हैं। परंतु किसी सत् पदार्थ का अभाव उसे दृष्टगोचर नहीं होगा।

३२—(३) गोमय-पायसीय न्याय। एक प्रकार का न्यायाभास या दुष्ट न्याय है। यथा—गोबर ही खीर है क्योंकि गोबर (गोमय) गव्य है तथा खीर (पायस) भी गव्य

है ; अतएव दोनों एक ही द्रव्य हैं। इस प्रकार 'न्याय' से ही अन्त में क्षणिक विज्ञानवाद की संगति हो सकेगी ।

भाष्यम्—यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ?

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्भावनात्तश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यात्मकेषु उपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते, ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

भाष्यानुवाद—शास्त्र में चित्त की जो परिष्कार प्रणाली (निर्मल करने की पद्धति) कथित है, वह कैसी होती है—

३३—सुखी, दुखी, पुण्यवान् तथा अपुण्यवान् प्राणियों में यथाक्रम से मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की भावना करने पर चित्त प्रसन्न होता है ।

उनमें सुख सम्भोगयुक्त सब प्राणियों में मैत्रीभावना करिए । दुःखित प्राणियों में करुणा, पुण्यात्माओं में मुदिता या प्रसन्नता तथा अपुण्यात्माओं में उपेक्षा करिए । इस प्रकार भावना करते करते शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है जिससे चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है, प्रसन्नचित्त एकाग्र होकर स्थितिपद पाता है (१) ।

टीका—३३—(१) जिनके सुख में हमारा स्वार्थ नहीं रहता, या जिनके सुख से हमारे स्वार्थ का व्याघात होता है उनको सुखी देखने से या चिंतन करने से साधारण चित्त प्रायः ईर्ष्यालु होते हैं । वैसे ही शत्रु आदि को दुखी देखने से निष्ठुर हर्ष उमड़ता है । जो हमारे अपने मतानुसार नहीं हैं पर पुण्यकर्म्मा हैं ऐसे व्यक्तियों की प्रतिपत्ति आदि देखने से या चिंतन करने से असूया और अमुदित भाव आते हैं । और जो पुण्यकर्मा नहीं हैं उनके प्रति (यदि स्वार्थ नहीं रहे तो) अमर्ष या क्रुद्ध तथा पिशुन-भाव उठता है । इस प्रकार के ईर्ष्या, निष्ठुर हर्ष, अमुदिता तथा क्रुद्ध-पिशुन-भाव मनुष्यचित्तको मथन करते हुए समाहित होने नहीं देते । अतएव मैत्री आदि की भावना-द्वारा चित्त को प्रसन्न या राजस-मल से हीन और सुखी कर लेने पर वह एकाग्र होकर स्थिति पाता है । आवश्यकता होने पर साधक इसकी भावना करें ।

मित्र के सुखी होने से तुम्हारे मन में जैसा सुख होता है वैसे सुख को पहले स्मरण करिए तदनु जिन लोगों के (शत्रु या अपकारक व्यक्तियों के) सुख से तुम्हें ईर्ष्या द्वेष होते हैं, उनके सुखी होने पर ' मैं मित्र के सुखी होने जैसा सुखी हूँ' इस तरह भावना करिए । **'सुखं मित्राणि चोष्यासुः विवर्द्धतु सुखश्च वः'** इस वाक्य के द्वारा उक्तप्रकार की भावना करना सुगम है । शत्रु आदि के दुखी होने पर तुम्हें निष्ठुर हर्ष होता है किन्तु उनके भी

दुःखी होने पर, प्रियजन के दुःख में जो करुणा भाव होता है उसी का भावना-द्वारा उनके तथा अन्य समस्त दुखियों के प्रति प्रयोग करने का अभ्यास करिए ।

सधर्मी हो या विधर्मी, यदि वह पुण्यात्मा हो तो उसके प्रति भी वही मुदिता (प्रसन्नता) भाव रखिए जो अपने या सधर्मियों के पुण्यात्मा होने पर होता है । दूसरों के दोष (अपुण्य) में उदासीन रहना ही उपेक्षा है । यह भावना नहीं है, पर अमर्ष आदि भाव का मन में आना ही उपेक्षा करना है । (३—२३ देखिये)। इन चार साधनों को बौद्ध लोग ब्रह्म विहार बोलते हैं और कहते हैं कि इनसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और ये बुद्ध के भी वर्तमान थे ।

प्रच्छर्द्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।। ३४ ।।

भाष्यम्—कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्द्दनम् विधारणं प्राणायामः । ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ।। ३४ ।।

३४—प्राण के प्रच्छर्द्दन तथा विधारण के द्वारा भी चित्त स्थिति पाता है । सू

भाष्यानुवाद—भीतरी हवा को नासापुटद्वय के द्वारा प्रयत्न विशेष के साथ वमन करना प्रच्छर्द्दन (१) होता है । विधारण है—प्राणायाम वा प्राण को संयत करके रखना । इनसे भी मनकी स्थिति प्राप्त हो सकती है ।

टीका—३४—(१) चित्त की स्थिति के लिए चित्त का बंधन आवश्यक है, सुतरां चित्तबंधन की चेष्टा न कर केवल श्वास-प्रश्वास लेने का अभ्यास करने से चित्त कभी स्थिति प्राप्त नहीं करेगा । इसी कारण ध्यान के साथ प्राणायाम न करने पर चित्त स्थिर नहीं अपितु अधिक चंचल ही होता है । महाभारत में कहा है **'यद्‌चदृश्यति मुंचन्वै प्राणान्मैथिल-सत्तम । वाताधिक्यं भवत्येव तस्मात्तन्न समाचरेत् ।।'** (मोक्षधर्म) अर्थात् बिना देखे या ध्यानशून्य प्राणायाम करने से वाताधिक्य वा चित्त चांचल्य होता है, अतः हे मैथिलसत्तम, उसका अनुष्ठान नहीं करना चाहिए । इसलिये प्रत्येक प्राणायाम में श्वास के साथ चित्त को भी भावविशेष से एकाग्र करना पड़ता है । शास्त्र कहते हैं:—**'शुन्यभावेन युंजीयात्'** अर्थात् प्राण को शून्य भाव से युक्त करना चाहिये । अर्थात् रेचन आदि काल में मानों मन शून्यवत् वा निःसंकल्प रहे ऐसी भावना करनी चाहिये । वैसी भावना के साथ रेचनादि करने पर ही चित्त स्थिति प्राप्त करता है; अन्यथा नहीं ।

जिस प्रयत्न विशेष के द्वारा रेचन किया जाता है वह त्रिविध होता है । पहला—प्रश्वास दीर्घकाल तक करने का या धीरे धीरे करने का प्रयत्न । दूसरा—उस समय शरीर को स्थिर तथा शिथिल रखने का प्रयत्न । तीसरा—उसके साथ मन को शून्यवत् वा निःसं-कल्प रखने का प्रयत्न । इस तरह प्रयत्न विशेष के साथ रेचन या प्रच्छर्द्दन करना पड़ता है ।

तदनु रेचन के पश्चात् वायु-ग्रहण न कर यथासाध्य उस प्रकार के निश्चल, शून्य-

वत् मनोभाव में अवस्थान करना ही विधारण होता है। ऐसी प्रणाली में पूरण का कोई विशेष प्रयत्न नहीं रहता, सहज भाव में ही पूरण करना पड़ता है, किन्तु उस काल में भी मानो मन शून्यवत् स्थिर रहे इस पर ध्यान रखना चाहिये।

शरीर से आत्मबोध हटकर हृदयस्थ आत्मानुभव उस निःसंकल्प वाक्यहीन या एकतान प्रणवाग्र अवस्था में जाकर स्थित हो रहा है—इस प्रकार की भावना रेचन काल में ही होती, पूरण काल में नहीं। इसीलिये पूरण की बात नहीं कही गयी। प्रच्छर्दन में तथा विधारण में शरीर के मर्म शिथिल होकर निःसंकल्प और निष्क्रिय मन में स्थिति करने का भाव साधित होता है, पूरण में ऐसा नहीं होता है।

इस शैली का अभ्यास करने में पहिले दीर्घ-प्रश्वास (ऊपर कहे हुए प्रयत्न से) करना चाहिये। समस्त शरीर और वक्षस्थल स्थिर रख करके केवल उदर चालना करके श्वास-प्रश्वास करिए। कुछ काल तक उत्तम रूप से इसका अभ्यास करने पर समस्त शरीर में व्याप्त सुखमय बोध या लघुता बोध आ जाता है। उस बोध के सहारे से यह अभ्यास करना पड़ता है। इसके अभ्यस्त हो जाने पर, प्रत्येक प्रश्वास वा रेचन के पीछे विधारण न भी हो तो बीच बीच में विधारण किया जा सकता है, उसमें अधिक श्रम नहीं जान पड़ता। क्रमशः अभ्यास के द्वारा प्रत्येक रेचन के बाद विधारण करना सुगम हो जाता है।

इस अभ्यास का कौशल यही है कि रेचन तथा विधारण में स्वतंत्र प्रयत्न न करना पड़े और दोनों एक साथ मिल भी जाँय। प्रच्छर्द्दन काल में कोष्ठ की सम्पूर्ण वायु रेचन न करने पर भी हानि नहीं होती है। कुछ वायु रहते रहते ही रेचन सूक्ष्म करके विधारण में मिला देना पड़ता है। सावधानी से उसे आयत्त करके, जिस प्रकार प्रच्छर्द्दन और विधारण इन दो प्रयत्नों में (तथा सहज या अनतिवेग से पूरण काल में) शरीर और मन का स्थिर-शून्यवत्-भाव ठहरता है यह सावधानी से देखना चाहिए। अभ्यास के द्वारा जब यह दीर्घ-काल तक निरंतर किया जा सकता है और जब इच्छा हो तब ही किया जा सकता है तब चित्त स्थिति प्राप्त करता है। अर्थात् वही एक प्रकार की स्थिति है और उसी से समाधि सिद्ध हो सकती है। श्वास के साथ एक प्रयत्न करने से विक्षिप्त चित्त भी सहज ही आध्यात्मिक प्रदेश में बद्ध होता है। इसलिए यह स्थिति का एक विशेष उपाय है। इस प्रकार प्राणायाम का निरंतर अभ्यास किया जा सकता है इस कारण यह स्थिति के लिए उपयोगी होता है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित् सा गन्धप्रवृत्तिः, जिह्वाग्रे दिव्यरससंवित्, तालुनि रूपसंवित्, जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्, जिह्वामूले शब्द संविदित्येताः प्रवृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नंति संशयं विधमंति समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवंतीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या। यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति एतेषां यथाभूतार्थ प्रति-

पादन सामर्थ्यात्तथापि यावदेक देशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढ़ां बुद्धिमुत्पादयति । तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्य्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिद्विशेषः प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः । तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशस्य प्रत्यक्षत्वेसति सर्वं सुसूक्ष्मविषयमपि आ अपवर्गात् सुश्रद्धीयते एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्मनिर्दिश्यते । अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयाणां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां चित्तं समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति तथा च सति श्रद्धावीर्य स्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥३५॥

३५—विषयवती (१) प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर भी मन की स्थिति होती है । सू

भाष्यानुवाद—नासाग्र पर चित्तधारणा करने से जो दिव्य-गन्ध-संविद् (ह्लादयुक्त-ज्ञान) होता है वह गन्धप्रवृत्ति है । (इसी प्रकार) जिह्वाग्र में धारणा करने से दिव्यरस-संविद्, तालु में रूपसंविद्, जिह्वा के भीतर स्पर्श संविद् और जिह्वामूल म शब्द संविद् होते हैं । ये प्रवृत्तियाँ (प्रकृष्ट वृत्तियाँ) उत्पन्न होकर स्थिति में चित्त को दृढ़बद्ध करती हैं, संशय को दूर भगाती हैं और ये समाधिप्रज्ञा की द्वार स्वरूप होती हैं । इनके द्वारा चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप, रत्न प्रभृतियों में उत्पन्न प्रवृत्ति को भी विषयवती माना जाता है । शास्त्र, अनुमान तथा आचार्योपदेश में यथाभूत-विषयक ज्ञान उत्पादन करने की सामर्थ्य रहने के कारण यद्यपि उनके द्वारा पारमार्थिक अर्थतत्त्व की अवगति होती है, तथापि जब तक उक्त उपाय से अवगत कोई एक विषय अपने इन्द्रियगोचर नहीं होता तब तक सब ही परोक्ष के समान (अदृष्ट, काल्पनिक सा) बोध होता है, तथा मोक्षावस्था आदि सूक्ष्म विषयों में दृढ़ बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है । इस लिऐ शास्त्र, अनुमान और आचार्य द्वारा प्राप्त उपदेश में संशय दूर करने के लिए किसी विशेष विषय का प्रत्यक्ष करना आवश्यक है । शास्त्रादि से उपदिष्ट विषय का एकांश प्रत्यक्ष होने पर कैवल्य तक सभी सूक्ष्म विषयों में अत्यन्त श्रद्धा हो जाती है । इसी कारण इस प्रकार का चित्त परिकर्म निर्दिष्ट हुआ है । अव्यवस्थित वृत्तियों में दिव्यगन्धादि प्रभृति प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर (साधारण गन्धादि का दोष अवधारण होने से) गन्ध आदि विषयों में वशीकार संज्ञक वैराग्य उत्पन्न होता है और (गन्धादि) विषयों के सम्यक् प्रत्यक्षीकरण के (सम्प्रज्ञान के) लिये चित्त समर्थ (उपयोगी) होता है । ऐसा होने से श्रद्धा, वीर्य, स्मृति तथा समाधि ये साधक के चित्त में बिना प्रतिबन्ध के उत्पन्न होते हैं ।

टीका—३५ । (१) विषयवती = शब्द स्पर्शादि विषयवती । प्रवृत्ति = प्रकृष्टा वृत्ति । अर्थात् (दिव्य) शब्दस्पर्शादि विषयों की प्रत्यक्षस्वरूपा सूक्ष्मा वृत्ति । नासाग्र में धारणा करने पर श्वास-वायु में ही जो एक प्रकार का अभूतपूर्व सुगन्धानुभव होता है उसे सहज ही उपलब्ध किया जा सकता है ।

तालु के ऊपर ही आक्षिक स्नायु (optic nerve) है । जिह्वा में स्पर्शज्ञान का अधिक प्रस्फुट भाव है और जिह्वामूल वाक्योच्चारण के संबंध में कान के साथ संबद्ध है । अतः इन स्थानों पर धारणा करने से ज्ञानेन्द्रिय की सूक्ष्म शक्ति प्रकट होती है ।

चन्द्रादि को स्थिर नेत्र से निरीक्षण कर नेत्र मुद्रित करने पर भी यथावत् उन्हीं रूपों का ज्ञान होता रहता है । उसी का ध्यान करते करते उसी रूप की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । वे भी विषयवती हैं क्योंकि वे रूपादि के अतर्गत हैं । बौद्धलोग इस प्रकार की प्रवृत्ति को कसिन कहते हैं । जल, वायु, अग्नि इत्यादि के भेद से उन्हों ने दस कसिन का उल्लेख किया । पर सब ही वस्तुतः शब्द आदि पांच विषयों के भीतर होते हैं ।

दो एक दिन निरन्तर ध्यान नहीं करने से इसमें फल नहीं मिलता। कुछ दिन जरा जरा सा अभ्यास करके बाद में कुछ दिन के लिये कोई चिंता या उपसर्ग न हो ऐसी अवस्था में रहकर दो या तीन दिन अल्पाहार या उपवास करके उक्त नासाग्रादि प्रदेश में ध्यान करने से विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

इस तरह साक्षात्कार होने से योग दृढ़ श्रद्धा तथा पार्थिव शब्दादि में जो वैराग्य होता है उसे भाष्कार ने स्पष्ट समझा दिया है।

इस पर श्वेताश्वतर श्रुति है **'पृथ्व्याप्य तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योग-गुणे प्रवृत्ते।'** उनका भाष्य यह है **'ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती पुरा। गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः॥ आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्त्तते। प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकः॥'** अर्थात् ज्योतिष्मती स्पर्शवती रसवती तथा गन्धवती ये चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। इन योग प्रवृत्तियों में से अगर कोई भी एक उत्पन्न हो जाय, तो उसे योग विचारक योगी लोग प्रवृत्त योग कहते हैं।

विशोका वा ज्योतिष्मती॥ ३६॥

भाष्यम्—प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्त्तते। हृदयपुंडरीके धारयतो या बुद्धिसंविद् बुद्धिसत्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थितिवैशरद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणि प्रभारूपाकारेण विकल्पते, तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्ग-महोदधिकल्पं शान्त मनन्तमस्मितामात्रं भवति, यत्रेदमुक्तम् 'तमणुमात्रमात्मनमनुविद्याऽस्मीत्ये वन्तावत्सम्प्र जानीते' इति। एषा द्वयी विशोका, विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीतमुच्यते, यथा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥ ३६॥

३६—विशोका या ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी (१) चित्त की स्थिति साधती है॥

भाष्यानुवाद—"प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन की स्थिति प्राप्त कराती है" यह अध्याहार है। हृदयपुण्डरीक में धारणा करने से बुद्धिसंविद् होती है। बुद्धिसत्त्व ज्योतिर्मय आकाश कल्प है; उसमें विशारद स्थिति ही प्रवृत्ति होती है। वही प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, ग्रह और मणि की प्रभा के रूपसादृश्य से बहुत प्रकार की हो सकती। ऐसी अस्मिता में (२) समापन्न चित्त निस्तरंग महासागर जैसा शान्त, अनन्त, अस्मितामात्र होता है। इस विषय में यह कहा गया है 'उस अणुमात्र आत्मा का अनुवेदन करके 'मैं' इस भावमात्र की सम्यक् उपलब्धि होती है' यह विशोका प्रवृत्ति दो प्रकार की है—विषयवती तथा अस्मितामात्र, इन्हे ज्योति-ष्मती कहा जाता है; इनके द्वारा योगी का चित्त स्थितिपद प्राप्त करता है।

टीका—३६—(१) विशोका वा ज्योतिष्मती प्रवृत्ति। प्रवृत्ति का अर्थ पहले कहा जा चुका है। परम सुखमय सात्विक भाव अभ्यस्त होने पर उसके द्वारा चित्त अवसिक्त रहता है, अतः इसका नाम विशोका है। और सात्विक प्रकाश या ज्ञानलोक के आधिक्य के कारण इसका नाम ज्योतिष्मती है। यहाँ ज्योति तेज नहीं है, किन्तु सूक्ष्म व्यवहित तथा विप्रकृष्ट

विषय का प्रकाशकारक ज्ञानालोक है। भाष्यकार ने अन्य स्थान पर (३—२५ सूत्र में) ऐसी प्रवृत्ति को प्रवृत्त्यालोक कहा है। फिर भी ज्योति पदार्थ के साथ इस ध्यान का कुछ संबन्ध रहता है। इसे आगे देखिए।

३६—(२) हृदय पुंडरीक [१-२८ (१) द्रष्टव्य] या ब्रह्मवेश्म शुभ्र आकाश-कल्प (बाधा से हीन) ज्योति की भावना करके बुद्धिसत्व में क्रमशः पहुँचना चाहिए। बुद्धिसत्व ग्राह्यपदार्थ नहीं है, पर ग्रहण पदार्थ है; इसलिए केवल आकाशकल्प ज्योति-चिंतन करने से बुद्धिसत्व की भावना नहीं होती है। ग्रहणतत्व को धारणा करने के लिए ग्राह्य की एक स्पष्ट परछाईं पहिले पहल उसके साथ धारणा में आती है। आभ्यंतरिक श्वेत हार्दज्योति ही बहुधा अस्मिता के ध्यान के साथ ग्राह्य कोटि मे उदित रहती है। ग्रहण पर चित्त सम्यक् स्थिर न होने से वह एक बार उस ज्योति में फिर आत्मस्मृति में विचरता रहता है। इस कारण यह ज्योति अस्मिता के काल्पनिक स्वरूप से व्यवहृत होती है। सूर्य-चन्द्र इत्यादि का रूप भी उस प्रकार से अस्मिता का काल्पनिक स्वरूप होता है। श्रुति बोलती है-—'अंगुष्ठमात्रोरधितुल्यरूपः।'

"नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे॥" श्वेताश्वतर २—११

रूपज्ञान के समान स्पर्श-स्वाद आदि ज्ञान भी अस्मिता ध्यान के लिये विकल्पक हो सकता है। ध्यान विशेष से मर्मस्थान पर (प्रधानतः हृदय पर) जो सुखमय स्पर्श-बोध होता है उसी का अवलम्बन करके उस सुख का बोद्धा अस्मिता को पा सकता है।

इस ध्यान का स्वरूप यह है :—हृदय में अनंतवत्, आकाशकल्प या स्वच्छ ज्योति की भावना करते हुए उसमें आत्मभावना करिए। अर्थात् उसमें ओतप्रोत से 'मैं' व्याप्त रहा हूँ ऐसी भावना करिए। इस प्रकार की भावना से अकथनीय सुख मिलता है।

स्वच्छ, आलोकमय, हृदय से मानो अनंत प्रसारित 'मैं' इस प्रकार का भाव का नाम विषयवती विशोका या विषयवती ज्योतिष्मती है। यह स्वरूप बुद्धि या अस्मितामात्र नहीं है, यह वैकारिक बुद्धि है। कारण यह है कि स्वरूप बुद्धि का ग्रहण होता है, किन्तु पूर्ण ग्रहण नहीं। इसके द्वारा सूक्ष्म विषय प्रकाशित होता है। जिस विषय को जानना है उस पर योगी लोग इस हृद्गत सात्त्विक आलोक को न्यस्त करके प्रज्ञालाभ करते हैं। अतः इस प्रकार के ध्यान में विशुद्ध ग्रहण मुख्य नहीं होता, किन्तु विषय विशेष ही मुख्य होता है। अस्मिता मात्र विषयक जो विशोका प्रवृत्ति है उसी में ही ग्रहण मुख्य है अर्थात् वह स्वरूप बुद्धितत्व की समापत्ति है।

ऊपर कहे हुए हृदयकेन्द्र-व्यापी अहंभावरूप विषयवती का ध्यान आयत्त होने पर व्यापी विषयभाव का लक्ष्य न कर केवल अहंभाव को उद्देश्य करके ध्यान करन से अस्मिता-मात्र की उपलब्धि होती है। उससे व्यापित्वभाव अभिभूत या अलक्ष्य होकर उस व्यापित्व का बोधरूप भाव का सत्वप्रधान ज्ञानशीलता कालिक धारा के क्रम से प्रतीत होती रहती है। क्रियाधिक्ययुक्त चक्षु आदि निम्न करण समूह के ध्यान के समय जिस प्रकार स्फुट-कालिक धारा अनुभूत होती है, अस्मितामात्र के ध्यान में उस प्रकार की स्फुटकालिक धारा अनुभूत नहीं होती है। इसलिये कि उसमें क्रियाशीलता अत्यन्त कम, और प्रकाश-भाव अत्यधिक है। अतएव यह स्थिर सत्ता सी प्रतीत होती है, किन्तु उसके भी सूक्ष्म

विकार-भाव का साक्षात्कार करके पौरुष सत्ता का निश्चय करना ही विवेकख्याति होती है ।

दूसरे उपायों से भी अस्मितामात्र में पहुँचा जाता है । समस्त करण वा शरीर में फैले हुए अभिमान का केन्द्र हृदय होता है । हृदय देश को लक्ष्य करके सर्वशरीर को स्थिर करके सर्वशरीर पर व्याप्त उस स्थिरता के बोध या प्रकाश भाव की भावना करनी पड़ती है । यह भावना प्राप्त होने पर यह बोध अनायास ही आरब्ध होता है । तब समस्त करण का विशेष विशेष कार्य, स्थैर्य के द्वारा रुद्ध होकर उसी सुखमय अविशेष बोध-भाव में परिणत होता है । यह अविशेष बोध-भाव ही छठी अविशेष अस्मिता है उस अस्मितामात्र को अर्थात् अस्मीति भावमात्र को लक्ष्य करके भावना करने पर ही अस्मितामात्र में पहुँचा जाता है । आत्मविषयक बुद्धिमात्र का नाम अस्मिता है, यह भी स्मरणीय है ।

इन दोनों प्रकार के उपायों से वस्तुतः एक ही पदार्थ में स्थिति होती है । स्वरूपतः अस्मितामात्र या बुद्धितत्त्व क्या है यही महर्षि पंचशिख का वचन उद्धृतकर भाष्यकार ने कहा है । वह अणु अर्थात् देशव्याप्तिशून्य और सबकी (अर्थात् सर्वकरण की) अपेक्षा सूक्ष्म है, और उसका अनुवेदन (या आध्यात्मिक सूक्ष्म वेदना का अनुसरण) कर केवल "अस्मि" या "मैं" इस प्रकार विज्ञात हो जाता है ।

अस्मितामात्र स्वरूपतः अणु होने पर भी उसको दूसरी ओर से अनंत कहा जाता है । वह ग्रहण-सम्बन्धी प्रकाशशीलता की चरम अवस्था होने के कारण सब या अनंत विषय का प्रकाशक है । इसीलिये वह अनंत वा विभु है । वस्तुतः पहिले उपाय से इस अनन्त भाव की भावना करके पीछे उसके प्रकाशक अणु-बोधरूप अस्मिता में जाना होता है । दूसरे उपाय से स्थूल बोध से अणुबोध में जाना होता है यही भेद है ।

अस्मिता-ध्यान का स्वरूप न समझने से कैवल्यपद समझना कठिन है इसलिये इसे कुछ बड़ा करके कहा गया है अधिकार के अनुसार इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास करके स्थिति लाभ होता है । उसी से एकाग्रभूमिका सिद्ध होकर क्रमेण सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होते हैं ।

पहिले १।१७ सूत्र में 'अस्मि'-रूप तत्व के ध्यान की बात कही गई है । यहाँ ज्योति या अनन्त आकाश स्वरूप अस्मिता का वैकल्पिक रूप ग्रहण करके स्थिति साधन को स्पष्ट किया गया है ।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ।। ३७ ।।

भाष्यम्—वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदंलभत इति ।।३७।।

३७—वीतराग चित्त की धारणा करने से भी स्थिति लाभ होता है ।

भाष्यानुवाद—वीतराग पुरुष के चित्त रूप आलंबन में उपरोक्त योगिचित्त स्थिति-पद प्राप्त करता है (१) ।

टीका—३७—(१) रागयुक्त चित्त-द्वारा वैषयिक चिन्तन (संकल्प-कल्पना आदि) सरलतया होते हैं। किन्तु, निश्चिन्त स्वस्थ भाव अत्यन्त दुष्कर होता है, और वीतराग चित्त के पक्ष में निवृत्त तथा निश्चिन्त रहना ही सहज पड़ता है। ऐसा वीतराग भाव भलीभाँति अवधारण करके उस भाव का अवलंबन कर चित्त को भावित करने से अभ्यासक्रम-द्वारा चित्त स्थिति लाभ करता है।

वीतराग महापुरुष की संगति में उनका निश्चित, निरिच्छ भाव लक्ष्य कर सहज ही वीतराग भाव हृदयंगम होता है। कल्पना-पूर्वक हिरण्यगर्भादि के वीतराग चित्त में अपने चित्त के स्थापन करने का ध्यान करने से भी यह सिद्ध हो सकता है।

यदि अपने चित्त को रागहीन अतः संकल्पहीन किया जा सके तो वैसा चित्तभाव को अभ्यास-द्वारा आयत्त करके भी वीतराग विषयक चित्त होता है। यही वस्तुतः वैराग्याभ्यास है।

स्वप्ननिद्राज्ञानलम्बनं वा ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—स्वप्नज्ञानालम्बनंनिद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

३८। स्वप्नज्ञान तथा निद्रासान का आलम्बन कर भावना करने पर चित्त स्थिति लाभ करता है।

भाष्यानुवाद—स्वप्नज्ञान तथा निद्राज्ञान का आलंबन करने वाला चित्त भी स्थितिपद पाता है (१)।

टीका—३८। (१) स्वप्नवत् स्वप्न-संबन्धी ज्ञान = स्वप्नज्ञान ; निद्राज्ञान भी वैसा है। स्वप्न-काल में वाह्य ज्ञान रूद्ध होता है एवं मानस-भाव-समूह प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं। अतएव इस प्रकार के ज्ञान का आलंबन कर ध्यान करना ही स्वप्नज्ञानालंबन है। अधिकारि-विशेष के लिए यह अत्यन्त उपयोगी होता है। हम ने यथायोग्य अधिकारी को ऐसा ध्यान में अवलम्बन करा कर उत्तम फल देखा है। कुछ ही दिनों उक्तसाधक में वाह्यज्ञानशून्य ध्यान की शक्ति उत्पन्न हो गई। कल्पनाप्रवण लड़के तथा हिप्नोटिक(hypnotic) प्रकृति के * व्यक्ति इसके योग्य अधिकारी हैं। यह तीन प्रकार के उपाय से साधित होता है। प्रथम ध्येय विषय की मानस प्रतिमा गढ़कर उसको प्रत्यक्षवत् देखने का अभ्यास करना होता है। द्वितीय स्मरण का अभ्यास करने से स्वप्नकाल में भी 'मैं स्वप्न देखरहा हूँ' यह स्मरण होता है। तब अभीष्ट विषय का यथाभाव ध्यान करना होता है और जाग कर तथा अन्य समय भी उसी प्रकार का

---

* विशेष प्रकृति के व्यक्ति नासाग्रादि किसी लक्ष्य पर स्थिर भाव से ताकते रहने से वाह्यज्ञान रूद्ध हो जाते हैं और अन्य लक्षण प्रकाशित होते हैं। ये ही हिप्नटिक् प्रकृति के व्यक्ति हैं। लड़के लड़कियाँ स्फटिक, आईना, स्याही, तैल या किसी भी काली चमकती हुई चीज की ओर यदि ताकते रहें तो स्वप्नवत् नाना पदार्थ देख और सुन पाते हैं उस समय देव देवी आदि चाहे जो कुछ भी उनको दिखाया जा सकता है।

भाव रखने की चेष्टा करनी पड़ती है। तृतीय, स्वप्न में कोई उत्तम भाव प्राप्त होने से जागकर तथा पीछे भी उसी भाव का ध्यान करना चाहिये—इन सभी में स्वप्नवत् वाह्य-रुद्ध-भाव आलम्बन करने की चेष्टा करनी चाहिये।

स्वप्न में वाह्यज्ञान रुद्ध होता है किन्तु मानस भाव-समूह का ज्ञान होता रहता है। निद्रावस्था में वाह्य और मानस दोनों प्रकार के विषय तम से अभिभूत हो जाते हैं और केवल जड़ता का अस्फुट अनुभव रह जाता है। वाह्य तथा मानस-रुद्ध-भाव का आलंबन कर उसका ध्यान करना निद्राज्ञानालंवन है। पूर्वोक्त (Hypnotic) एवं अन्य प्रकृति विशेष के कुछ व्यक्ति हैं, जिनके मन कभी कभी शून्यवत् हो जाते हैं। उनसे पूछने पर कहते हैं कि उस समय उनके मन की कुछ क्रिया नहीं थीं इस प्रकार की प्रकृति के लोग योगेच्छु होकर अपनी इच्छा से ऐसे शून्यवत् अंतर्वाह्यरोधभाव को अधीन कर स्मृतिमान् होते हुए यदि ध्यानाभ्यास करें तो उनको इस उपाय से स्थिति पाना सहज होता है। १।१० (१) और १।३० (१) देखिये।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३९ ॥

३९। यथाभिमत ध्यान से भी चित्त स्थितिपद लाभ करता है॥

भाष्यानुवाद—जो अभिमत है (अवश्य ही योग को उद्देश्य कर) उसका ध्यान करें। उसमें स्थितिलाभ करने पर अन्यत्र भी स्थितिपद लाभ होता है (१)।

टीका—३९। (१) चित्त का ऐसा स्वभाव है कि वह किसी एक विषय पर यदि स्थैर्य लाभ करे तो अन्य विषय पर भी कर सकता है। स्वेच्छापूर्वक घट में एक घंटे तक चित्त स्थिर रख सकने से पर्वत में भी स्थिर किया जा सकता है। अतएव यथाभिमत ध्यान-द्वारा चित्त स्थिर कर सम्पूर्ण तत्वों में समाहित होकर तत्वज्ञान के क्रम से कैवल्यसिद्धि हो सकती है।

परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

भाष्यम्—सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति स्थूले निविश-

मानस्य परममहत्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य । एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याऽप्रतिघातः स परो वशीकार स्तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षते इति ॥४०॥

४०—परमाणु तक और परममहत्त्व तक (वस्तु में स्थिति संपादन करने पर) चित्त का वशीकरण होता है ।

भाष्यानुवाद—सूक्ष्म वस्तु में निविष्ट होता हुआ चित्त परमाणुपर्यंत वस्तुओं में स्थिति पद पाता है । उसी प्रकार स्थूल वस्तु में निविष्ट होता हुआ चित्त परममहत्त्वपर्यंत वस्तुओं में स्थितिपद पाता है । इन दोनों पक्षों का अनुधावन करते करते चित्त का जो अप्रतिबद्ध भाव (जिसमें इच्छा हो उसी में लगाने की सामर्थ्य) होता है वही परम वशीकरण है । इसी वशीकरण से चित्त परिपूर्ण (स्थिति-साधन में अनिच्छुक) होता है, उस समय अन्य अभ्यास के द्वारा साध्य परिकर्म या परिष्कृति की अपेक्षा नहीं रहती (१) ।

टीका ४०—(१) शब्दादि गुण का परमाणु तन्मात्र है । तन्मात्र शब्दादि गुण की सबसे सूक्ष्म अवस्था है । तन्मात्र की ग्राहिका करणशक्ति तथा तन्मात्र का ग्रहीता, ये सब ही परमाणु भाव हैं ।

अस्मिता-ध्यान मे जो अनंतवत् भाव होता है वह (उसकी करणरूप बुद्धि है) एवं महान् आत्मा (ग्रहीतृरूप) ये परम महान् भाव हैं । सब महाभूत भी परम महान् स्थूल-भाव हैं ।

किसी एक विषय में स्थिति अभ्यास करके स्थितिप्राप्त चित्त को योग की प्रणाली से परमाणु तथा परम महान् विषय पर धारण करने की अवस्था को वशीकार कहा जाता है चित्त वशीकृत होने पर सबीज ध्यानाभ्यास समाप्त होता है और तब विरामाभ्यासपूर्वक असम्प्रज्ञात समाधिलाभ ही अवशिष्ट रहता है । किस प्रकार से वशीकार की साधना होगी इसे आगे कही हुई समापत्ति के द्वारा बतलाते हैं । ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य के महान् भाव तथा अणुभाव की उपलब्धि-द्वारा समापन्न होकर वशीकार की साधना होगी । अतः समापत्ति का लक्षण बताते हैं ।

भाष्यम्—अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति ? तदुच्यते—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः । अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टांतोपादानम् । यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते, भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति, तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं

स्थूलरूपाभासं भवति, तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति। तथा ग्रहणेष्वपि इन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम्। ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदंजनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते ॥ ४१ ॥

भाष्यानुवाद—स्थितिप्राप्त (१) चित्त की किस प्रकार और कौन विषयवाली समापत्ति होती यही कहा जा रहा है:—

४१। अभिजात (सुनिर्मल) मणि के समान ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्य में क्षीणवृत्ति चित्त की तत्स्थितता और तदञ्जनता समापत्ति होती है।

क्षीणवृत्ति अर्थात् (एक को छोड़कर अन्य) प्रत्यय अस्तंगत हुए चित्त की 'अभिजात मणि' यह दृष्टांत गृहीत हुआ है। जैसे स्फटिकमणि उपाधिभेद से उपाधि के रूप के द्वारा उपरंजित होकर उपाधि के आकार से प्रकाशित होती है, वैसे ही ग्राह्यालम्बन में उपरक्त चित्त ग्राह्य में समापन्न होकर ग्राह्यस्वरूपाकार से भासित होता है (३)। सूक्ष्मभूतोपरक्त चित्त सूक्ष्मभूत में समापन्न होकर सूक्ष्मभूतस्वरूप का भासक होता है। इसी प्रकार स्थूल आलम्बन में उपरक्त चित्त स्थूलाकार में समापन्न होकर स्थूल स्वरूप का भासक होता है। इसी प्रकार विश्वभेद में उपरक्त चित्त विश्वभेद में समापन्न होकर विश्वभेद का भासक होता है। इसी प्रकार ग्रहण में भी अर्थात् इन्द्रियों में भी देखना चाहिये—ग्रहण आलम्बन में उपरक्त चित्त ग्रहण में समापन्न होकर ग्रहणस्वरूप के आकार से भासित होता है। उसी प्रकार ग्रहीतृपुरुष के आलंवन में उपरक्त ग्रहीतृपुरुष में समापन्न चित्त ग्रहीतृपुरुषस्वरूप के आकार से भासित होता है। वैसे ही मुक्त पुरुष-आलंबन में उपरक्त चित्त मुक्तपुरुष में समापन्न होकर मुक्तपुरुष के आकार से भासित होता है। इस प्रकार अभिजात मणि के समान चित्त की ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य में अर्थात् पुरुष-इन्द्रिय-भूतों में जो तत्स्थतदंजनता, अर्थात् उनमें अवस्थित होकर तदाकारता प्राप्ति है उसे समापत्ति कहा जाता है।

टीका—४१—(१) स्थितिप्राप्त = एकाग्र भूमि प्राप्त। जब पूर्वोक्त ईश्वर प्रणिधान आदि साधनों के अभ्यास द्वारा चित्त को सरलता से सदा अभीष्ट विषय पर निश्चल रखा जाता है, तब उसे स्थितिप्राप्त चित्त कहा जाता है। स्थितिप्राप्त चित्त की समाधि का नाम समापत्ति है। शुद्ध समाधि से समापत्ति का यही भेद है। समापत्तिरूप प्रज्ञा ही सम्प्रज्ञान या सम्प्रज्ञात योग होती है। बौद्ध लोग भी समापत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं, पर ठीक इसी अर्थ में नहीं।

४१—(२) समापत्ति प्राप्त चित्त के जितने भेद रहते हैं या हो सकते हैं उन्हें भगवान् सूत्रकार इस सूत्र में कहते हैं।

विषयभेद से समापत्ति तीन प्रकार की है :—ग्रहीतृविषय, ग्रहण विषय और ग्राह्यविषय। समापत्ति की प्रकृति के भेद से भी सविचारा इत्यादि भेद होते हैं। योगी विभाग की बहुलता त्यागकर एक साथ प्रकृति तथा विषय के अनुसार समापत्ति का विभाग

करते हैं, जैसे—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार। इनका भेद कोष्ठान्तर्गत दिखाया जा रहा है—

प्रकृति	विषय	समापत्ति
१. शब्दार्थ-ज्ञान-विकल्प-संकीर्ण	स्थूल (ग्राह्य, ग्रहण)	सवितर्का (वितर्कानुगत)।
२. ,, ,,	सूक्ष्म (ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीता)	सविचारा (विचारानुगत)।
३. स्मृति परिशुद्धि होने पर स्वरूपशून्य के समान अर्थ-मात्र निर्भास	स्थूल (ग्राह्य, ग्रहण)	निर्वितर्का (वितर्कानुगत)।
४. ,, ,,	सूक्ष्म (ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीता)	निर्विचारा (विचारानुगत) = सूक्ष्म, सानन्द, सास्मित।

वितर्क-विचार का विषय पहिले व्याख्यात हुआ है। निर्वितर्क इत्यादि का विषय आगे कहा जायगा।

जो सम्यक् निरुद्ध नहीं हुआ ऐसे चित्त-द्वारा जितने प्रकार के ध्यान हो सकते हैं वे सब ही इन समापत्तियों में गिने जायेंगे। कारण, ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीता को छोड़कर और कुछ व्यक्त भावपदार्थ नहीं है, जिसका ध्यान होगा। वितर्क तथा विचार पदार्थ के अनुसरण के बिना ही ध्यान की संभावना नहीं होती है।

प्राचीनकाल से बहुत वादी नूतन नूतन ध्यान की उद्भावना की कोशिश कर रहे हैं, किन्तु उसमें किसी के कृतकार्य होने की संभावना नहीं है। सभी को परमर्षिकथित इस ध्यान के अन्तर्गत ही रहना पड़ेगा।

बौद्ध आठ प्रकार की समापत्ति गिनते हैं, वह इस प्रकार का न्यायानुसार ही विभाग नहीं है। वे अपने निर्वाण की स्थापना उक्त समापत्ति के ऊपर करते हैं, किन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव में वैनाशिक बौद्ध प्रकृतिलीनता तक ही प्राप्त कर सकेंगे।

४१—(३) सूत्रकार तथा भाष्यकार ने समापत्ति (अर्थात् अभ्यास से ध्येय विषय में स्वाभाविक-सा तन्मय भाव) की विशद व्याख्या की है। भाष्यकार ने सब समापत्तियों के उदाहरण दिये हैं। ग्राह्य-विषयक समापत्ति त्रिविध है—प्रथम विश्वभेद अर्थात् भौतिक या गो-घट आदि असंख्य भौतिक पदार्थ-विषयक। द्वितीय, स्थूलभूत या क्षिति आदि पंच-भूतत्त्वविषयक। तृतीय, सूक्ष्मभूत या शब्द आदि पंच-तन्मात्रविषयक।

ग्रहण-विषयक समापत्ति वाह्य तथा आभ्यंतर इन्द्रियविषयक है। उनमें वाह्येन्द्रिय

तीन प्रकार की है—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण। अंतरिन्द्रिय वाह्येन्द्रिय का नेता मन। य सब ही मूल अंतःकरणत्रय के विकारस्वरूप हैं। बुद्धि, अहंकार और मन ही मूल अंतः-करणत्रय हैं।

ग्रहीतृविषयक समापत्ति = पूर्वकथित सास्मित ध्यान, कहा जा चुका है कि सबीज समाधि का विषय जो ग्रहीता है, वह स्वरूपग्रहीता या पुरुषतत्त्व नहीं, वह बुद्धितत्त्व है। वह बुद्धिपुरुष के साथ एकत्वबुद्धि है, (दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता); इसलिये वह व्यवहारिक द्रष्टा या ग्रहीता होती है। चित्तेन्द्रिय संपूर्ण लीन न होने से पुरुष में स्थिति नहीं होती। अतः जब वृत्तिसारूप्य रहता है, उस समय अविशुद्ध द्रष्टभाव ही व्यवहारिक द्रष्टा है। "ज्ञान का ज्ञाता मैं हूँ" इस प्रकार का भाव ही उसका स्वरूप है। ज्ञान, सम्यक् निरुद्ध होने पर जो शांतवृत्ति के ज्ञाता स्वस्वरूप में रहते हैं वे ही पुरुष या स्वरूपद्रष्टा हैं।

इसके सिवाय ईश्वर समापत्ति, मुक्तपुरुषसमापत्ति इत्यादि जो सब समापत्तियां हो सकती हैं वे ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता इन तीन विषयों की समापत्ति के अंतर्गत होती हैं। ईश्वर आदि की मूर्त्ति या मन में इस प्रकार के भावों का आलंबन कर समापन्न हुआ जाय तो वह समापत्ति भी यथायोग्य विभाग में परिगणित होगी।

भाष्यम्—तत्र—

शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

तद्यथा गौरितिशब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्। विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्ये अर्थधर्मा अन्ये विज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः। तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढ़ः स चेच्छब्दार्थज्ञान विकल्पानुविद्ध उपावर्त्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥ ४२ ॥

भाष्यानुवाद—उनमें—

४२—शब्दार्थज्ञान के विकल्प से संकीर्ण या मिश्रित समापत्ति सवितर्का है॥

जैसे—'गो' यह शब्द, 'गो' यह अर्थ, 'गो' यह ज्ञान। इनमें (शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का) विभाग रहने पर भी (साधारणतः) ये अभिन्नरूप से ही गृहीत होते रहते हैं। विभज्यमान होने पर 'भिन्न शब्दधर्म', 'भिन्न अर्थधर्म' और 'भिन्न विज्ञान धर्म' इस प्रकार इनके विभिन्न मार्ग भी देखे जाते हैं। इनमें (विकल्पित गवादि अर्थ में) समापन्न योगी समाधिप्रज्ञा में जो गवादि अर्थ समारूढ़ होता है वह यदि शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प द्वारा अनुविद्ध होकर उपस्थित हो, तो उस संकीर्णा समापत्ति को सवितर्का कहा जाता है।

टीका ४२—(१) समापत्ति और प्रज्ञा अविनाभावी हैं। अतः समाधि प्रज्ञा विशेष को सवितर्का समापत्ति कहा जाता है। तर्क शब्द का प्राचीन अर्थ शब्दमय चिंता है। वितर्क = विशेषतर्क। जिस समाधि प्रज्ञा में वितर्क रहता है, वही सवितर्का समापत्ति है।

तर्क या वाक्यमयीचिंता। इसका विश्लेषण कर देखने से उसमें शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की संकीर्ण या मिश्र अवस्था मिलती है। मान लो 'गो' यह शब्द या नाम है। इसका अर्थ है चतुष्पद, जन्तु विशेष। गो-पदार्थ का जो ज्ञान है वह हमारे अन्तर में होता है। गाय के साथ उसका एकत्व नहीं है तथा गो इस नाम के साथ भी गो-ज्ञान और गो जन्तु का एकत्व नहीं है; क्योंकि कोई भी नाम ही गो-वाचक हो सकता है। अतएव नाम पृथक्, अर्थ पृथक् और ज्ञान (विज्ञान-धर्म) पृथक् हैं। किन्तु, साधारण अवस्था में जो नाम है वही नामी है तथा वही नाम-नामी का ज्ञान है ऐसी प्रतीति होती है। वास्तव में एकत्व नहीं रहने पर भी 'गो' इस शब्द का ज्ञानानुपाती जो एकत्व का ज्ञान है (अर्थात् गो-शब्द, गो-अर्थ और गो-ज्ञान एक ही है—इस प्रकार गोशब्द की वाक्यवृत्ति का जो ज्ञान है वह अलीक होने पर भी व्यवहार है), वह विकल्प है (१।९ सूत्र द्रष्टव्य)। इसीलिये हमारा साधारण चिंतन शब्दार्थ-ज्ञान-विकल्प से संकीर्ण चिंतन होता है। इसमें विकल्परूप व्यवहार्य भ्रांति संबद्ध रहने के कारण ऐसा चिन्तन अविशुद्ध चिंतन है और यह उन्नत ऋतम्भरा योगजप्रज्ञा के उपयुक्त नहीं है।

परन्तु पहिले इसी प्रकार से ही योगज प्रज्ञा उपस्थित होती है। फलतः साधारण शब्दमय चिंतन-से, चिंतन की सहायता से, जो योगजः प्रज्ञा होती है वह सवितर्का समापत्ति है।

आगे चलकर निर्वितर्कादि समापत्ति के साथ प्रभेद दिखाने के लिए सूत्रकार (साधारण चिंता के समान) इस समापत्ति का विश्लेषणकर दिखाते हैं। गो-विषय में सवितर्का समापत्ति होने पर गो-संबंधी प्रज्ञा पैदा होगी। यह प्रज्ञा-समूह-वाक्य-साध्यरूप से होगा, जैसे—'यह अमुक की गाय' 'इसके वदन पर इतने रोएँ हैं' इत्यादि।

अवश्य समापत्ति-द्वारा योगीलोग गवादि सामान्य विषय का प्रज्ञामात्र ही लाभ नहीं करते हैं, तत्त्वविषयक प्रज्ञालाभ ही समापत्ति का मुख्य फल है, उसके द्वारा वैराग्य सिद्ध होता है और क्रमशः कैवल्यलाभ होता है।

भाष्यम्—यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैव अवच्छिद्यते सा च निर्वितर्का समापत्तिः। तत् परं प्रत्यक्षं तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजं, ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः। न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनं तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति। निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥ ४३॥

या शब्दसंकेत श्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञारूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्याता। तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्मा अणुप्रचयविशेषात्मा गवदिर्घटादिर्वा लोकः। स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः, फलेन व्यक्ते-

नानुमितः, स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति, धर्मान्तरोदये च तिरोभवति, स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते, योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च, तेनावयविनाव्यवहाराः क्रियन्ते ।

यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्य, तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति, तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद् विषयाभावाद्; यद् यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाघ्रातं (आम्नातं) तस्मादस्त्यवयवी यो महत्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयोभवति ॥ ४३ ॥

भाष्यानुवाद—शब्द संकेत की स्मृति (१) अपनीत होने पर श्रुतानुमान-ज्ञान-कालीन विकल्प से हीन समाधि प्रज्ञा में स्वरूपमात्र से अवस्थित विषय स्वरूपाकारमात्र से ही परिच्छिन्न होकर भासित रहती हैं, (तब) निर्वितर्का समापत्ति कही जाती है। वह परम प्रत्यक्ष है एवं श्रुतानुमान का बीज है, उसी से श्रुतानुमान प्रवर्तित होते हैं (२)। वह परम प्रत्यक्ष श्रुतानुमान के सहभूत नहीं। अतः योगियों का निर्वितर्क समाधि से उत्पन्न दर्शन (प्रत्यक्ष को छोड़कर) अन्य प्रमाणों द्वारा संकीर्ण नहीं है। इस निर्वितर्का समापत्ति का लक्षण सूत्रद्वारा कहा जा रहा है—

४३—स्मृतिपरिशुद्धि होने से स्वरूपशून्य जैसी अर्थमात्रनिर्भासा (३) समापत्ति निर्वितर्का होती है। सू

शब्द संकेत की और श्रुतानुमान-ज्ञान की विकल्पस्मृति अपगत होने पर ग्राह्यस्वरूप से उपरक्त जो प्रज्ञा अपने ग्रहणात्मक प्रज्ञास्वरूप को मानो त्याग करके पदार्थमात्र के आकार से ग्राह्यस्वरूप प्राप्ति के अनुकूल हो जाती है, वह निर्वितर्का समापत्ति है। (सूत्रपातनिका में) ऐसा ही व्याख्यात हुआ है। उसका (निर्वितर्का समापत्ति का) गवादि या घटादि विषय—एक बुद्धि के जनक, अर्थात्मक (दृश्यस्वरूप) और अणुप्रचय-विशेषात्मक (४) हैं। यह संस्थान विशेष (५) समस्त सूक्ष्मभूत का साधारण धर्म है और आत्म-भूत अर्थात् सदैव सूक्ष्मभूतरूप स्वकारण नें अनुगत, विषय के अनुभव-व्यवहार आदिरूप व्यक्त कार्य द्वारा अनुमित तथा अपनी अभिव्यक्ति के हेतु भूत द्रव्य से व्यंजना पाकर प्रादुर्भूत होता है। धर्मान्तर का उदय होने पर उसका (संस्थान विशेष का) तिरोभाव होता है। इस धर्म को अवयवी कहा जाता है। इसकी व्यवहारसिद्धि एक; वृहत् या क्षुद्र, इन्द्रियग्राह्य, क्रिया-धर्मक और अनित्य अवयवी द्वारा होती हैं।

जिनके मत में यह प्रचय-विशेष अवस्तुक है एवं उस प्रचय का सूक्ष्म (तन्मात्ररूप) कारण भी विकल्पहीन (निर्विचारा) समाधि प्रत्यक्ष के अगोचर है (अवस्तुक है, इसलिए) उनके मत में ऐसा कहा जायगा कि अवयव के अभाव से ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि वह अतद्रूप-प्रतिष्ठ (निरवयवी-शून्यप्रतिष्ठ) है। इस तरह (६) प्रायः सब ही ज्ञान मिथ्या ज्ञान हो जाता है। ऐसा होने पर विषय के अभाव का कारण सम्यक् ज्ञान कौन होगा ? क्योंकि जो जो इन्द्रिय से जाना जाता है वे ही अवयवित्वधर्म से युक्त हैं। इसीलिए जो महत्त्व आदि (बड़ा, छोटा) व्यवहार प्राप्त, निर्वितर्का समापत्ति का विषय हो ऐसा अवयवी (धर्मी) है।

टीका—४३। (१) पहिले यदि सवितर्क ज्ञान से निर्वितर्क ज्ञान का भेद समझ लिया जाय तो इस भाष्य का समझना सरल होगा।

साधारणतः शब्द-(नाम) ज्ञान के साथ अर्थ का स्मरण होता है और अर्थ ज्ञान के साथ नाम (जातिगत वा व्यक्तिगत) का स्मरण होता है, अर्थात् शब्द और अर्थ का चिन्तन परस्पर अविनाभाव से होता है। किन्तु शब्द पृथक् सत्ता है और अर्थ पृथक् सत्ता है। केवल संकेत पूर्वक व्यवहारजनित संस्कारवश ही दोनों का स्मृति सांकार्य्य होता है। शब्द त्याग करके केवल अर्थमात्र-चिंतन करने का अभ्यास करते करते उस स्मृतिसांकर्य्य का नाश हो जाता है। उस समय बिना शब्द के भी अर्थ की चिंता होती है। इसको शब्द-संकेत-स्मृति-परिशुद्धि कहते हैं। इसका अनुभव करना दुष्कर नहीं।

इस प्रकार से शब्द के बिना सहारे के जो ज्ञान होता है वही यथार्थ (यथा-अर्थ) ज्ञान है। कारण यह है कि शब्द द्वारा वस्तुतः अनेक असत्ता को सर्वदा हम सत्ता कहकर व्यवहार करते हैं। जैसे हम बोलते हैं "काल अनादि अनंत है"। यह सत्यरूप से व्यवहृत होता है; किन्तु अनादि तथा अनंत अभावपदार्थ है। उनका साक्षात ज्ञान कभी नहीं हो सकता है और काल भी अधिकरणस्वरूप मात्र है। अनादि, अनंत, काल इत्यादि शब्दों से एक प्रकार का ज्ञान (अर्थात् विकल्प) भले ही हो, किन्तु वस्तुतः ज्ञानगोचर (ज्ञेय) कोई भी वस्तु उसके मूल में नहीं रहती है। अतएव शब्दसहायक ज्ञान अधिकतर अलीक विकल्प मात्र है। अतः इस प्रकार का ज्ञान ऋत वा साक्षात अधिगत सत्य नहीं होता, किन्तु सत्य का आभासमात्र होता है। * आगम तथा अनुमान-प्रमाण शब्द-सहायक ज्ञान होता है, अतः आगम और अनुमान से प्रमित सत्य-समूह ऋत नहीं होते हैं। मान लो कि आगम और अनुमान के द्वारा प्रमाणित हुआ **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। सत्य का अर्थ यथार्थ है। 'यथार्थ' 'अनन्त' इत्यादि शब्दों का अर्थ धारणा (धारणा = ऐन्द्रियिक तथा मानस प्रत्यक्ष) योग्य नहीं है। अतः इन शब्दों के अतिरिक्त 'अंत न रहना' 'यथार्थ होना' इत्यादि रूप कोई अर्थ (ध्येय विषय) नहीं है जिसका साक्षात्कार होगा। वस्तुतः इन शब्दों के साथ वाचक ब्रह्म का कुछ संपर्क नहीं है। उन शब्दों को भूलने पर ही ब्रह्मपदार्थ की उपलब्धि होती है।

अतएव श्रुतानुमानजनित ज्ञान तथा साधारण शब्द सहायकृत प्रत्यक्षज्ञान विकल्पहीन विशुद्ध ऋत नहीं है, किन्तु शब्द-सहाय-शून्य केवल अर्थ-मात्र-निर्भासक जो निर्वितर्क ज्ञान है वही प्रकृत ऋत ज्ञान होता है।

४३—(२) निर्वितर्क और निर्विचार दोनों ही एक प्रकार के दर्शन हैं। परमार्थ साक्षात्कारी ऋषि उस प्रकार का निर्वितर्क तथा निर्विचार ज्ञान प्राप्त कर शब्दों के द्वारा (अर्थात् सवितर्क भाव से) उपदेश करते हैं, इस प्रकार प्रचलित परमार्थ तथा तत्त्व-विषयक-प्रतिज्ञा और युक्ति स्वरूप मोक्षशास्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं।

४३—(३) स्वरूप शून्य के समान 'मैं जान रहा हूँ' इस प्रकार भाव शून्य के समान अर्थात् इस प्रकार का भाव सम्यक् विस्मृत होकर। स्व+रूप = स्वरूप; स्व = ग्रहणात्मक

---

* ऋत तथा सत्य के भेद समझना चाहिये। ऋत का अर्थ गत या साक्षात अधिगत, वह एक प्रकार सत्य है किन्तु उसके सिवाय अन्य सत्य भी हैं जो वाक्यों के द्वारा व्यक्त होता है। यथा—'धूम के नीचे अग्नि है' इत्यादि सत्य है और अग्नि को साक्षात् करने के बाद जो ज्ञान होता है वह ऋत है। ऋत = Perceptual fact, सत्य = Conceptual fact.

प्रज्ञा; वही प्रज्ञारूप = स्वरूप। अर्थात् प्रज्ञेय विषय में अतिमात्र स्थिति होने के कारण जब 'मैं प्रज्ञाता' या 'मैं जान रहा हूँ' इस भाव की सम्यक् विस्मृति हो जाती है, तभी अर्थमात्र निर्भासा स्वरूप शून्य सी प्रज्ञा होती है।

शब्दादिपूर्वक विषय प्रज्ञात होते रहने पर भी बहुत से करण की क्रियाएँ या क्रिया के संस्कार रहते हैं अतः उस समय सम्यक् आत्मविस्मृति या स्वरूप शून्य सा भाव नहीं होता है।

शंका हो सकती है कि जब समाधि **'तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव'** है, तब सवितर्का समापत्ति क्या समाधि नहीं होती है? नहीं होती, सवितर्का समापत्ति समाधि-मात्र नहीं है, पर वह समाधिज प्रज्ञा की स्थिति-रूप अवस्था होती है। समाधि स्वरूपशून्य के समान होने पर भी तत्पूर्वक जो प्रज्ञा होती है वह प्रज्ञा साधारण ज्ञान के जैसी शब्द-सहाया हो सकती है; फलतः उस शब्दसहायक समाधिप्रज्ञा के द्वारा जब चित्त सदा पूर्ण रहता है तब उस अवस्था को सवितर्का समापत्ति कहा जाता है। और जब शब्दादि से निर्मुक्त समाधि के अनुरूप, स्वरूपशून्य के समान ज्ञानावस्था के सब संस्कार संचित होकर चित्त को पूर्ण करते हैं, तब उसे निर्वितर्का समापत्ति कहा जाता है। अतः समाधि की ज्यों की त्यों प्रतिमूर्ति-रूप अवस्था ही निर्वितर्का है और समाधिज ज्ञान को भाषा के द्वारा अनुभव करना सवितर्का है।

शब्द उच्चारित होने से भी विकल्पहीन निर्वितर्क और निर्विचार ध्यान हो सकते हैं; जैसे—जब शब्दार्थ का ज्ञान नहीं रहता, पर शब्द केवल ध्वनिमात्ररूप से ज्ञात होता है, तब। अथवा अभ्यंतर में शब्द का उच्चारण-जनित जो प्रयत्न होता है केवल उसी पर ही जब लक्ष्य होता है तब उसमें विकल्पहीन ग्राह्य ध्यान हो सकता है। और यदि लक्ष्य केवल उस प्रयत्न ज्ञान के ग्रहण में अथवा ग्रहीता में रहे, तो उस प्रकार के शब्दोच्चारण काल में भी विकल्पहीन ध्यान होता है।

४३—(४) निर्वितर्का समापत्ति का जो विषय है अर्थात् निर्वितर्का में स्थूल विषय का जिस प्रकार ज्ञान होता है वही स्थूल का चरम सत्यज्ञान है। स्थूल विषय उसकी अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से नहीं जाने जा सकते। कारण, चित्त इन्द्रिय को सम्यक् स्थिर करके तथा विकल्पशून्य करके निर्वितर्क ज्ञान होता है, अतः वह स्थूल विषयक चरम सत्यज्ञान है। सांख्य मत में समस्त दृश्य पदार्थ सत् हैं, किन्तु विकारशील हैं। विकारशील होने के कारण वे भिन्न-भिन्न रूप से सत् होकर ज्ञात होते रहते हैं। वे कभी असत् नहीं होते तथा असत् थे भी नहीं। इस कारण से वे हैं—यह सदा के लिए ही सत्य है, कहा जा सकता है। अवश्य जो जिस हालत में सद्रूप से ज्ञात होता है, सो उस हालत में सत्य है अर्थात् 'वे उस दशा में सत् हैं' यह बात सत्य है। किसी एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ समझना विपर्यय या मिथ्या है। मिथ्या का अर्थ असत् नहीं। स्थूल पदार्थ साधारणतः जिस अवस्था में सत् रूप से ज्ञात होते हैं वह (ज्ञानशक्ति की) अति चंचल तथा समल अवस्था होती है; अतः साधारण अवस्था में प्रायः एक पदार्थ का अन्य रूप से ज्ञान होता है या मिथ्या ज्ञान होता है। किन्तु निर्वितर्क समाधि स्थूलविषयिणी ज्ञानशक्ति की अत्यन्त स्थिर तथा स्वच्छ अवस्था है अतः उसमें जो ज्ञान होता है वह तद्विषयक चरम सत्यज्ञान है।

अपेक्षाकृत सूक्ष्मज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान हटने पर ही, यह ज्ञान सत्य है और पहला ज्ञान

मिथ्या था, ऐसा निश्चय होता है। किन्तु निर्वितर्क समाधिज ज्ञान जब (स्थूल विषय के संबंध में) सूक्ष्मतम ज्ञान होता है तब वह हटने योग्य नहीं होता है, अतः वह उस विषय का चरम सत्य ज्ञान है।

जो वैनाशिक बौद्ध लोग वाह्य पदार्थों को मूलतः शून्य वा असत् कहते हैं उनकी अयुक्तता भाष्यकार दिखा रहे हैं। पाठकों के सुगम बोध के लिए पहिले पदों का अर्थ व्याख्यात हो रहा है। एक बुद्ध्युपक्रम वा एक बुद्धाचारम्भक अर्थात् 'यह एक' इस प्रकार बुद्धि का आरम्भक या ज्ञापक है अर्थात् यद्यपि विषय-समूह बहुत अवयवों की समष्टि हैं तथापि वे "यह एक अवयवी है" इस तरह से बोधगम्य होते हैं।

अर्थात्मा = दृश्य स्वरूप, अर्थात् विषय की पृथक् सत्ता है। यह वैनाशिकों के मतानुसार विज्ञान-धर्म-मात्र अथवा शून्यात्मा नहीं है। अणुप्रचयविशेषात्मा = प्रत्येक विषय अन्य विषय से भिन्न या विशिष्ट एक एक अणुसमष्टि है।

निर्वितर्का समापत्ति के विषय जो गवादि (चेतन भूत) या घटादि हैं वे उक्त त्रिविध लक्षणान्तर्गत सत् पदार्थ हैं। अर्थात् अणु के समष्टिभूत एक एक विषय जो निर्वितर्का द्वारा प्रज्ञात होते हैं वे (बौद्धमत के) अलीक पदार्थ नहीं, पर सत्यपदार्थ हैं।

४३––(५) भूतसूक्ष्म का संस्थान विशेष, आत्मभूत इत्यादि विशेषणों के द्वारा प्रागुक्त अवयवी के विषय भाष्यकार ने विशद किए हैं। इन सब हेतुगर्भ विशेषणों द्वारा इस सम्बन्ध के सभी भ्रांत मत निराकृत हुए हैं।

घट का उदाहरण देकर इसकी व्याख्या की गई है। एक घट शब्दादि परमाणु का संस्थान-विशेष-स्वरूप है। और वह शब्दादि परमाणु का साधारण धर्म है अर्थात् शब्दस्पर्शादि प्रत्येक तन्मात्र का ही घटाकार धर्म है। घट के जो घटरूप, घटरस, घटस्पर्श इत्यादि धर्म हैं वे एक दूसरे के अनपेक्षित एक एक तन्मात्र के धर्म हैं। रूपधर्म स्पर्शादि की अपेक्षा नहीं रखता है, स्पर्शधर्म भी वैसे ही शब्दादि तन्मात्र की अपेक्षा नहीं करते हैं, इत्यादि। इसके द्वारा यह जान पड़ता है कि वस्तुतः घट शब्दरूपादि परमाणु से उत्पन्न एक संपूर्ण अतिरिक्त द्रव्य नहीं है परंतु वह उन परमाणुओं का "आत्मभूत" या अनुगत द्रव्य है अर्थात् शब्दादि गुण जिस प्रकार परमाणु में हैं, उस प्रकार घट में भी। (२। १९ (३) द्रष्टव्य।) अतः घट धर्म सचमुच परमाणु धर्म का अनुगत है। पाषाणमय पर्वत तथा पाषाण में जो संबन्ध रहता है, घट में तथा परमाणु में भी वही संबंध रहता है। और यद्यपि घट शब्दादि परमाणु युक्त है, तथापि वह ठीक परमाणु नहीं, पर परमाणु का संस्थान विशेष है, यह "व्यक्त फल-द्वारा अनुमित होता है"। अर्थात् घट इस प्रकार के अनुभव तथा घट के व्यवहार-द्वारा घट परमाणु मात्र नहीं है; यह अनुमान होता है।

और घट अपने व्यंजक निमित्तों के द्वारा (जैसे कुलालचक्र, कुम्भकार आदि) अञ्जित या व्यक्त रूप से प्रादुर्भूत होता है एवं यथायोग्य निमित्त (जैसे कि चूर्णीकरण) द्वारा अन्य चूर्णरूप धर्म का उदय होने पर घट और व्यक्त नहीं रहता है।

अतएव घट नामक अवयवी को (तथा उस जाति के समस्त स्थूल पदार्थों को, अतः स्थूल शब्दादि गुणों को) निम्नलिखित लक्षण से लक्षित करना उचित है :—एक, महान् या अणीयान् (अर्थात् बड़ा या अपेक्षाकृत छोटा), स्पर्शवान् या चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय के

विषय, क्रियाधर्मक या अवस्थान्तर प्रापक क्रियाशीलता युक्त (यह कर्मेन्द्रिय के सहायक अनुभव का विषय है), अतः अनित्य या आविर्भाव तथा तिरोभाव युक्त पदार्थ।

इन सब लक्षणों से लक्षित पदार्थ ही स्थूल अवयवी के रूप में हमारे द्वारा व्यवहृत होते हैं। यही निर्वितर्का समापत्ति का विषय है। निर्वितर्का समाधि द्वारा अवयवी जैसे विज्ञात होता है वही उस विषय का सम्यक् ज्ञान है।

४३—(६) वैनाशिक बौद्धमत में घटादि पदार्थ रूपधर्म मात्र है, तथा रूप धर्म मूलतः शून्य है; अतः घट इत्यादि मूलतः अवस्तु होते हैं। इस प्रकार का मत सत्य होने पर "सम्यक् ज्ञान" कुछ भी नहीं रहता। बौद्ध बोलते हैं 'रूपी रूपाणि पश्यति शून्यम्' अर्थात् समापत्ति में रूपी रूप को शून्य देखते हैं। इस शून्य का अर्थ अगर अवस्तु हो जाय, तो रूप को न देखना ही (अर्थात् ज्ञानाभाव ही) सम्यक् ज्ञान हो जाय किन्तु यह सर्वथा असंगत है, और शून्य यदि ज्ञेय पदार्थ-विशेष हो तो वह अवयवी विशेष होगा। अतएव सांख्यीय दर्शन ही सर्वथा न्याय्य होता है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ ४४॥

भाष्यम्—तत्र भूतसूक्ष्मष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते। या पुनः सर्वथा सर्वतश्शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्व्विचारेत्युच्यते। एवं स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्मम्, एतेनैव स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति, प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते। तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मविषया सविचारा निर्विचारा च। एव मुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्याता इति॥ ४४॥

४४—इसके द्वारा सूक्ष्मविषया सविचारा और निर्विचारा नामक समापत्ति भी व्याख्यात हो गईं।

भाष्यानुवाद—उनमें (१) अभिव्यक्तधर्मवाले सूक्ष्मभूत में देश, काल तथा निमित्त के अनुभव द्वारा जो अवच्छिन्न समापत्ति होती है वह सविचारा है। इस समापत्ति में भी एक बुद्धिरूप से ग्रहणयोग्य उदित-धर्म-विशिष्ट सूक्ष्मभूत आलंबन-स्वरूप होकर समाधि-प्रज्ञा में आरूढ़ होता है। और शांत, उदित तथा अव्यपदेश्य, इस धर्मत्रय द्वारा अनवच्छिन्न (२) सर्वधर्मानुपाती, सर्वधर्मात्मक (सूक्ष्मभूत में) एवं सर्वतः—इस प्रकार की जो सर्वथा (वा सब तरह से) समापत्ति होती है वह निर्विचारा है। 'सूक्ष्मभूत ऐसा' 'इस तरह से वह आलंबन स्वरूप हुआ है'—इस प्रकार का शब्दमय विचार सविचारा में समाधि-प्रज्ञा-स्वरूप को उपरंजित करता है। और जब वह प्रज्ञा स्वरूपशून्य के समान अर्थमात्र निर्भासा होती, तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहा जाता है। उक्त समापत्तियों में महद्वस्तुविषया समापत्ति

(३) सवितर्का तथा निर्वितर्का होती है एवं सूक्ष्मवस्तुविषया समापत्ति सविचारा तथा निर्विचारा होती है। ऐसे इस निर्वितर्का के द्वारा अपनी और निर्विचारा की विकल्पशून्यता व्याख्यात हुई है।

टीका ४४—(१) सविचार क्या है वह पहिले कहा जा चुका है। (१।४१)। भाष्यकार ने यहाँ पर विशेषरूप जो कुछ कहा है सो व्याख्यात हो रहा है। अभिव्यक्तधर्मक = जो घटादिरूप से अभिव्यक्त है। जो शांत रूप से अनभिव्यक्त है ऐसा नहीं। अतः सूक्ष्मभूत में समाहित होने के लिए घटादि अभिव्यक्त धर्म को लेकर ही होना पड़ता है।

देश, काल तथा निमित्त:—घटादिधर्म लेकर उसके कारण सूक्ष्मभूत की उपलब्धि करना हो तो घटादि-लक्षित देश भी ग्राह्य होगा और उस तन्मात्र की उपलब्धि उस देश-विशेष के अनुभव से अवच्छिन्न हो जायगी। और वह केवल वर्तमानकाल में उदित धर्म के अनुभव से अवच्छिन्न हो जायगी। अर्थात् अतीत तथा अनागता-अर्थात् तन्मात्र से जो हुआ है तथा हो सकता है, एतद् विषयक ज्ञान से रहित होगी।

निमित्त = जिस धर्म को लेकर जिस तन्मात्र की उपलब्धि होती है वही निमित्त है। अथवा धर्म विशेष को लेकर तन्मात्र विशेष में जाने का भाव ही निमित्त होता है। निमित्त से अवच्छिन्न का अर्थ है किसी एक विशेष निमित्त से उपलब्ध। प्रज्ञा सर्वधर्म के अनुपाती होने पर निमित्त से अवच्छिन्न नहीं होती है। ×

सविचार समाधि में सवितर्क के समान विषय एक बुद्धि द्वारा व्यपदिष्ट होता है; अर्थात् 'यह इतर से भिन्न एक या एक जातीय अणु' इत्यादि रूप में ज्ञात होता है। सविचारा समापत्ति की प्रज्ञा शब्दार्थ ज्ञान विकल्प से संकीर्ण होती है, कारण कि वह शब्दमय विचार से युक्त है। उस विचार के द्वारा 'एक एक प्रकार का किन्तु फिर भी वर्तमान' जो सूक्ष्मभूत है तद्विषयक प्रज्ञा होती है।

४४—(२) पहिले निर्विचारा समापत्ति का विषय कहकर पीछे भाष्यकार ने उसका स्वरूप कहा है; शब्दादि विकल्पशून्य, स्वरूपशून्य के समान सूक्ष्मभूतमात्र-निर्भास समाधि का जो संस्कार है, उससे यदि सूक्ष्मभूत विषयवाली प्रज्ञायुक्त हो अर्थात् स्मृति से युक्त हो, तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहा जाय।

सविचार में जैसे देशविशेष से अवच्छिन्न विषय की प्रज्ञा होती इसमें उस प्रकार नहीं परन्तु सार्वदैशिक रूप से प्रज्ञा होती है। और, इस प्रकार वर्तमान कालमात्र में उदित ज्ञान-द्वारा अवच्छिन्न न होकर भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीन अवस्थाओं के क्रम के बिना ही प्रज्ञा होती है एवं किसी एक धर्मरूप निमित्त विशेष के द्वारा अवच्छिन्न प्रज्ञा न होकर सर्वधार्मिक प्रज्ञा होती है। निर्वितर्का समापत्ति जैसा शब्दार्थ ज्ञान विकल्प से हीन है, विचार

× विज्ञानभिक्षु कहते हैं, निमित्त = परिणाम प्रयोजक पुरुषार्थ विशेष। इस प्रकार के निमित्त के साथ इस विषय का कुछ संपर्क नहीं है। मिश्र कहते हैं, निमित्त = पार्थिव परमाणु के गन्ध तन्मात्र से प्रधानतः एवं रस आदि के सहाय से गौणतः उत्पत्ति इत्यादि। यह आंशिक व्याख्यान है।

भाष्यकार ने निर्विचार के लक्षण में देश, काल और निमित्त की अनवच्छिन्नता दिखाई है। इसी से उक्त तीन पदार्थ स्पष्ट हुए हैं। दैशिक अनवच्छिन्नता = सर्वतः। कालिक अनवच्छिन्नता = शांत तथा उदित और अव्यपदेश्य धर्म से अनवच्छिन्न। निमित्त द्वारा अनवच्छिन्न = सर्व धर्म के अनुपाती सर्वधर्मात्मक। अतएव वह प्रज्ञा सर्वथा है। अगले उदाहरण में यह स्पष्ट होगा।

के अभाव से निर्विचार भी वैसा है। सर्वधर्मानुपाती = सूक्ष्म विषय के जितने परिणाम हो सकते हैं उन सब धर्मों में बिना बाधा से उत्पन्न होने की शक्तिवाली प्रज्ञा।

४४—(३) समापत्तियों के उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१ ला) सवितर्का समापत्ति यथा :—सूर्य एक स्थूल आलम्बन है। उसमें समाधि लगाने से सूर्यमात्र निर्भासा चित्तवृत्ति होगी तथा सूर्य सम्बन्धी सब ही ज्ञान (उसके आकार, दूरत्व, उपादान इत्यादि का सम्यक् ज्ञान) होगा। वह ज्ञान शब्दादि से संकीर्ण होगा, यथा—सूर्य गोल है, उसका दूरत्व इतना है इत्यादि। इस प्रकार शब्दार्थज्ञान विकल्प से संकीर्ण स्थूल-विषयिणी प्रज्ञा-द्वारा जब चित्त पूर्ण होता है—उस प्रकार के ज्ञान से चित्त जब सदा उपरंजित रहता है—तब उसे सवितर्का समापत्ति कहते हैं।

(२ रा) निर्वितर्का समापत्ति यथा:—सूर्य में समाहित होने से सूर्य का रूपमात्र निर्भासित रहेगा। केवल वह रूपमात्र ज्ञान-गोचर रहने से सूर्यसंबंधी अन्य विषयों की (नाम आदि की) विस्मृति हो जायगी। उसी प्रकार अन्य विषय से शून्य (अतः शब्द, अर्थ, ज्ञान तथा विकल्प की संकीर्णता से शून्य) सूर्यरूपमात्र को स्वरूप शून्य के समान होकर ध्यान करने पर ठीक जिस प्रकार का भाव होता है, वह भावमात्र ही-निर्वितर्क प्रज्ञान होता है। समस्त स्थूल पदार्थों को इस प्रकार से देखने पर योगी बाह्य द्रव्य को सिर्फ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन कुछ गुणों से युक्त ही देख पायेंगे। वाक्यमय चिंतन से उत्पन्न जिस व्यवहारिक गुण-समूह को वाह्य पदार्थ में आरोप कर लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है उसी की भ्रांति उस समय योगी को हृदयंगम होगी। स्थूल द्रव्यों में से केवल शब्दादि पांच गुण विकल्पशून्य भाव से उस समय प्रज्ञारूढ़ रहेंगे। उस प्रकार का प्रज्ञामय चित्त की अवस्था अर्थात् जो केवल उस प्रकार की प्रज्ञा के भाव से समापन्न हो उसको निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। यही स्थूल भूत का चरम साक्षात्कार है। इसके द्वारा स्त्री, पुत्र, कांचन आदि संबन्धों की लौकिकमोहकर दृष्टि सम्यक् रूपेण हट जाती है। कारण यह है कि तब स्त्री आदि केवल रूपरस आदि के समावेश रूप में साक्षात् होते हैं सदा उपलब्ध होते हैं। स्थूल विषयक वाक्यहीन चिंतन निर्वितर्क ध्यान होता है। उस प्रकार के ध्यान से जब चित्त पूर्ण रहता है तब उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं।

(३ रा) सविचारा समापत्ति यथा:—निर्वितर्का के विकल्पशून्य ध्यान द्वारा सूर्यरूप साक्षात् कर उसकी सूक्ष्म अवस्था की उपलब्धि करने की इच्छा से प्रक्रिया विशेष द्वारा ❀ चित्तेन्द्रियों को स्थिरतर से स्थिरतम करने पर योगी को सूर्यरूप की परम सूक्षावस्था की उपलब्धि होगी। वही रूपतन्मात्र साक्षात्कार होता है। पहिले पहल श्रुतानुमानपूर्वक 'भूत का कारण तन्मात्र है' यह जानकर उसके विचारद्वारा चित्त को स्थिर करके सूक्ष्म भूत की उपलब्धि की ओर प्रवर्त्तित करना पड़ता है इस कारण, सविचारा समापत्ति शब्दार्थज्ञान विकल्प से संकीर्ण है। यह देश, काल और निमित्त से अवच्छिन्न होकर होता है। अर्थात् सूर्य की

❀ दो प्रकार से सूक्ष्मावस्था में पहुँचा जाता है। प्रथम, ध्येय ग्राह्य विषय के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अंश में चित्त का समाधान करके शेष परमाणु में पहुँचना चाहिये। द्वितीय, इन्द्रियों को क्रमशः अधिकतर स्थिर करते करते जब ये अत्यन्त स्थिर हो जाँय—जिससे अधिक स्थिर होने पर वाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है तब जो सूक्ष्मरूप से सूक्ष्मतम विषय का ज्ञान होता है वही परमाणु है। शब्दादि गुण की सूक्ष्म अवस्था ही परमाणु है। इसे स्मरण रखना चाहिए।

स्थिति के देश में (सर्वत्र नहीं), सूर्य के वर्तमान या व्यक्त रूप-द्वारा (अतीत, अनागत रूप द्वारा नहीं) तथा सूर्य के चक्षु से ग्राह्य ज्योतिधर्म रूप निमित्त के द्वारा ही यह प्रज्ञा होती है।

योगी रूपतन्मात्र का साक्षात्कार करने पर नील पीत आदि असंख्य रूपों में से केवल एकाकार रूप-परमाणु का ही प्रत्यक्षानुभव करते हैं। शब्दादि के विषय में भी ऐसा ही है। बाह्य विषय से हमको जो सुख, दुःख तथा मोह होते हैं, वे स्थूल विषय के अवलंबन से होते हैं, क्योंकि स्थूल विषय के नाना भेद हैं एवं उन भेदों से ही सुख-करत्व आदि घटते हैं। सुतरां एकाकार सूक्ष्म विषय की उपलब्धि होने पर वैषयिक सुख, दुःख तथा मोह सम्यक् दूर हो जायेंगे।

'यह सुखादिशून्य तन्मात्र' 'इसकी इसप्रकार उपलब्धि करनी चाहिये' इत्यादि शब्दादिविकल्प से संकीर्ण प्रज्ञा-द्वारा जब चित्त पूर्ण रहता है, तब उसे सूक्ष्मभूत-विषयक सविचारा समापत्ति कहा जाता है।

केवल तन्मात्र ही सविचारा समापत्ति का विषय नहीं होता है। तन्मात्र, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त ये सभी सूक्ष्म पदार्थ सविचारा के विषय हैं।

(४ था) निर्विचारा समापत्तिः—सविचारा में कुशलता होने पर जब शब्दादि की संकीर्ण स्मृति हट जाती है तब केवल सूक्ष्म विषयमात्र की निर्भासक समाधि होती है—इस प्रकार के विकल्पहीन समाधिभावों से चित्त जब पूर्ण रहता है—तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहते हैं।

निर्विचारा देश, काल तथा निमित्त से अनवच्छिन्न होकर निष्पन्न होती है। अर्थात् वह सर्व देशस्थ, सर्वकाल व्यापी विषय की एवं साथ ही साथ सर्वधर्म की भी निर्भासक है। सविचारा में धर्मविशेष को निमित्त कर उसके नैमित्तिक-स्वरूप एक-विषय की प्रज्ञा होती है। निर्विचारा में सर्वधर्म के साथ ही साथ ज्ञान होने के कारण पूर्वोत्तर या निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं रहता है। यही निमित्त से अनवच्छिन्न होने का अर्थ है।

सूक्ष्मभूतमात्र निर्भासा निर्विचारा समापत्ति ग्राह्य विषयिका है। इन्द्रियगत (**मन को भी इन्द्रिय ही मानना पड़ेगा**) प्रकाशशील अभिमान (अहंकार) वा **आनन्दमात्र विषयिणी समापत्ति** ग्रहणविषयक है। यही इन्द्रिय के कारणभूत अस्मिताख्य **अभिमान-विषयक** है और अस्मीतिमात्र वा अस्मितामात्र भाव-विषयिणी समापत्ति ग्रहीतृविषयक निर्विचारा है।

अलिंग वा अव्यक्त प्रकृति को ध्येय विषय कर निर्विचारा समापत्ति नहीं होती। कारण यह है कि अव्यक्त ध्येय आलंबन नहीं होता है पर वह लीन अवस्था है। महाभारत में (अश्वमेध पर्व) कहा है—**'अव्यक्तं क्षेत्रलिङ्गस्थं गुणानां प्रभवाप्ययम्। सदा पश्याम्यहं लीनं विजानामि शृणोमि च ॥"**

'अव्यक्तमात्र निर्भास' ऐसी समाधि नहीं हो सकती। अतः इस प्रकार की प्रज्ञा भी नहीं होती। परन्तु प्रकृतिलय को 'अव्यक्ततापत्ति' कहा जा सकता है वरन्, वह समापत्ति के समान सम्प्रज्ञात योग नहीं होता वरन्, अव्यक्त विषयक सविचारा समापत्ति हो सकती है। चित्त की सम्यक् लीनावस्था प्राप्त होने पर तदनुस्मृतिपूर्वक अव्यक्त विषयक जो

सविचारा प्रज्ञा होती है वही अव्यक्तविषयक सविचारा समापत्ति है । (सांख्य तत्त्वालोक—तत्त्वसाक्षात्कार देखिये) ।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः आप्यस्य रसतन्मात्र तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्, आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति । तेषामहंकारः अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः, लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो विषयः, न चालिङ्गात्परं सूक्ष्म-मस्ति । नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति ? सत्यं, यथा लिङ्गात् परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य, किन्तु लिङ्स्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥४५॥

४५—सूक्ष्मविषयत्व अालिंग (१) या अव्यक्त में पर्यवसित होता है । सू

भाष्यानुवाद—पार्थिव अणु का (२) गन्धतन्मात्र (रूप अवस्था) सूक्ष्म विषय होता है । जलीय अणु का रसतन्मात्र, तैजस का रूपतन्मात्र, वायवीयका स्पर्शतन्मात्र और आकाश का शब्दतन्मात्र सूक्ष्म विषय है । तन्मात्र का अहंकार, अहंकार का लिंगमात्र (या महत्तत्व) सूक्ष्म विषय है । लिंगमात्र का सूक्ष्म विषय अलिंग है । अलिंग से और अधिक सूक्ष्म नहीं है । यह यदि कहो कि उससे पुरुष सूक्ष्म है ? ठीक है, पर लिंग से अलिंग जैसे सूक्ष्म होता है पुरुष की सूक्ष्मता वैसी नहीं; क्योंकि पुरुष लिंगमात्र का अन्वयीकरण (उपादान) नहीं होता है, किन्तु उसका हेतु या निमित्त कारण (३) है । अतः प्रधान में ही सूक्ष्मता निरतिशयत्व प्राप्त हुई है, इस प्रकार व्याख्यात हुआ है ।

टीका—४५ । (१) अलिङ्ग = जो किसी में लय होता है वह लिंग है; जिसका लय नहीं है वह अलिंग होता है । अथवा जिसका कोई कारण न होने से जो किसी का भी (अपने कारण का) अनुमापक नहीं होता है वही अलिंग है । **'न वा किंचिल्लिङ्गयति गमयतीति अलिङ्गम्'** । प्रधान ही अलिंग होता है ।

४५—(२) पार्थिव अणु दो प्रकार का है । एक प्रचित अवस्था जो नाना प्रकार के गन्धरूप से अवभात होता है दूसरी सूक्ष्म, नाना-भाव से शून्य, गन्धमात्र अवस्था । अतः गन्धतन्मात्र ही पार्थिव अणु का सूक्ष्म विषय है । जल आदि अणु का भी उसी प्रकार का नियम है ।

समस्त तन्मात्र इन्द्रियगृहीत ज्ञानस्वरूप होते हैं । इस प्रकार के ज्ञान का वाह्य हेतु भूतादि नाम के विराट् पुरुष का अभिमान है किन्तु शब्द आदि वस्तुतः अन्तःकरण के विकार विशेष हैं । तन्मात्रज्ञान कालिक प्रवाह रूप है (क्योंकि परमाणु में दैशिक विस्तार स्फुट भाव से नहीं रहता है) । कालिक प्रवाहस्वरूप ज्ञान होने पर उसमें स्फुट चित्तक्रिया रहा करती है । अतः तन्मात्रज्ञान क्रियाशील और अंतःकरणमूलक या अहंकारमूलक है । अतएव तन्मात्र का सूक्ष्म विषय अहंकार है । ज्ञान का विकार या अवस्थांतर का प्रवाह अथवा मन को विकारप्रवाह ज्ञान का अवलंबन करके ('मैं जान रहा हूँ, जान रहा हूँ'—इस प्रकार)

अहंकार की उपलब्धि करनी पड़ती है। अहंकार का सूक्ष्म विषय महत्तत्त्व या अस्मितामात्र है। महत् का सूक्ष्म विषय प्रकृति होती है।

४५। (३) अर्थात् प्रकृति जैसे विकार प्राप्तकर महदादि रूप में परिणत होती है, पुरुष उस प्रकार नहीं होते हैं। परंतु पुरुष के द्वारा उपद्रष्ट न होने पर भी प्रकृति का व्यक्त परिणाम नहीं होता अतः पुरुष महदादि का निमित्त-कारण है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजस्तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥४६॥

४६। वे ही सबीज समाधि हैं॥

भाष्यानुवाद—वे चार प्रकार की समापत्तियाँ वहिर्वस्तुबीजा (१) हैं, अतएव वे समाधि हैं किन्तु सबीज समाधि होती हैं। उनमें स्थूल विषय पर सवितर्का तथा निर्वितर्का और सूक्ष्म विषय पर सविचारा तथा निर्विचारा इस प्रकार समाधि के चार भेद गिने गये हैं।

टीका—४६। (१) वहिर्वस्तु=समस्त दृश्य वस्तु (ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य) या प्राकृत वस्तु। सब समापत्तियां दृश्य पदार्थों का अवलंबन करके उत्पन्न होती हैं अतः वे वहिर्वस्तुबीज युक्त हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धि सत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते, तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थ विषयः क्रमाननुरोधी स्फुटप्रज्ञालोकस्तथा चोक्तम् 'प्रज्ञा प्रासादमारु ह्याऽशोच्यश्शोचतो जनान्। भूमिष्ठानिव शैलस्थस्सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति' ॥ ४७ ॥

४७—निर्विचार का वैशारद्य होने से अध्यात्मप्रसाद (१) होता है। सू

भाष्यानुवाद—अशुद्धि (रजस्तमो-बाहुल्य) आरूप आच्छादकमल से मुक्त, प्रकाश-स्वभाव बुद्धिसत्त्व का जो रजस्तम से अनभिभूत, स्वच्छ स्थितिप्रवाह है वही वैशारद्य होता है। जब निर्विचार समाधि में इस प्रकार का वैशारद्य उत्पन्न होता है; तब योगी का अध्यात्मप्रसाद होता है अर्थात् यथाभूत वस्तु विषयक, क्रमहीन या युगपत् सर्वप्रकाश स्फुट प्रज्ञालोक या साक्षात्कार जनित विज्ञानालोक होता है (२)। इस विषय में यह कहा गया है कि

पर्वतस्थ पुरुष जैसे भूमिष्ठ व्यक्ति को देखते हैं, वैसे ही प्रज्ञारूप प्रासाद पर चढ़े हुए स्वयं अशोच्य, प्राज्ञ व्यक्ति समस्त शोकाकुल व्यक्तियों को देखते हैं।

टीका—४७। (१) (२) अध्यात्मप्रसाद। अध्यात्म=ग्रहण वा करणशक्ति; उसका प्रसाद या नैर्मल्य। रजस्तमोमल से शून्य होने पर बुद्धि में प्रकाशगुण का जो उत्कर्ष होता है वही अध्यात्मप्रसाद है। बुद्धि ही प्रधानतया आध्यात्मिक भाव है अतः उसका प्रसाद होने पर ही समस्त करण प्रसन्न हो जाता है। ज्ञानशक्ति का चरम उत्कर्ष होने के कारण उस समय जो कुछ प्रज्ञात होता है वह संपूर्ण सत्य होता है, और वही ज्ञान साधारण अवस्था के ज्ञान के समान क्रमशः उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसमें ज्ञेय विषय का समस्त धर्म एक साथ प्रकाशित होता है। पुनः यह प्रज्ञा श्रुतानुमानिक प्रज्ञा नहीं किन्तु साक्षात्कारजनित है। अनुमान और आगम का ज्ञान सामान्यविषयक है, यह कहा जा चुका है। प्रत्यक्ष विशषविषयक है, यह समाधि प्रत्यक्ष का चरम उत्कर्ष होता है; अतः इससे सब चरम विशेषों का ज्ञान होता है। महर्षियों ने इस प्रकार की प्रज्ञा प्राप्त कर जो उपदेश किया है वही श्रुति है। पहले उस अलौकिक विषय का प्रज्ञान प्राप्त कर लौकिक दृष्टि से अनुमान ही द्वारा किस प्रकार अलौकिक विषय का सामान्यज्ञान होता है, ऋषिगण यह भी प्रदर्शित कर गय हैं। यही मोक्षदर्शन है।

फलतः निर्विचारा समापत्ति की ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा श्रुत और अनुमान जनित साधारण प्रज्ञा अत्यंत पृथक् पदार्थ हैं। पङ्किलजल और ओले के जल में जैसे भेद है वैसे के इन में भी भेद है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतंभरेति संज्ञा भवति, अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्त्ति न तत्र विपर्य्यासगन्धोऽप्यस्तीति, तथा चोक्तम् 'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्" इति ॥ ४८ ॥

४८। उस अवस्था में जो प्रज्ञा होती है उसका नाम ऋतंभरा है। सू

भाष्यानुवाद—अध्यात्मप्रसाद होने से समाहितचित्त व्यक्ति को जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतंभरा या सत्यपूर्णा है। वह प्रज्ञा अन्वर्था (चरितार्थ-नामा) है। वह सत्य को ही धारण करती है, उसमें विपर्य्यास की महक भी नहीं है। इस पर यह उक्त हुआ है—'आगम, अनुमान और आदरपूर्वक ध्यानाभ्यास इन तीन प्रकारों से प्रज्ञा को भली भाँति उत्पन्न करने पर उत्तम योग वा निर्वीज समाधि प्राप्त होती है' (१)]

टीका—४८। (१) श्रुति भी कहती है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन या ध्यान के द्वारा साक्षात्कार या दर्शन होता है। वास्तव में श्रवण करके यदि जान ले कि 'आत्मा बुद्धि से पृथक् होती है; अथवा समूचे तत्त्व ऐसे एसे हैं; अथवा इस प्रकार की अवस्था मोक्ष (दुःखनिवृत्ति) है' तो उसको विशेष कुछ लाभ नहीं होता है। इस प्रकार

के अनुमान द्वारा पुरुष और अन्य तत्त्वों की सत्ता का निश्चय होने पर भी केवल उसी से दुःखनिवृत्त होने की कुछ भी आशा नहीं होती।

पर 'मैं शरीर आदि नहीं हूँ', वाह्य विषय दुःखमय तथा त्याज्य है', 'वैषयिक संकल्प करूँगा नहीं' इत्यादि विषय की बारम्बार भावना या ध्यान करते करते जब उनकी सम्यक् उपलब्धि हो जायगी, तभी मोक्ष का प्रकृत साधन होगा। 'मैं शरीर नहीं हूँ' इसे यदि सौ युक्तियों से कोई जान भी जाय, किन्तु शरीर के दुःख-सुखों से यदि वह विचलित हो; तो उसके ज्ञान एवं अन्य अज्ञानी व्यक्तियों के ज्ञान में भेद ही क्या है? उभय ही समान रूप से बद्धजीव हैं, मुक्त नहीं।

निर्विचार समाधि के द्वारा विषय का जो ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा उत्तम ज्ञान और किसी से नहीं हो सकता है। अतएव यह सम्पूर्णतया सत्यज्ञान होता है। ऋत का अर्थ साक्षात् अनुभूत सत्य है (१।४३ द्रष्टव्य)।

भाष्यम्—सा पुनः—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वाद् ॥ ४६ ॥

श्रुतमागमविज्ञानन्तत्सामान्यविषयं न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मात्? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति। तथानुमानं सामान्यविषयमेव, यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम्, अनुमानेन च सामान्येनोपसंहार स्तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति, न चास्य सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणन्न चास्य विशेषस्याप्रामाणिकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा, तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥ ४६ ॥

भाष्यानुवाद—और वह प्रज्ञा—

४६—श्रुत और अनुमान-जात प्रज्ञा से भिन्न-विषय है, विशेष-विषय होने के कारण।

श्रुत = आगमविज्ञान, (१।७ सूत्र द्रष्टव्य) वह सामान्य-विषयक है। आगम से कोई विषय विशेषरूप से अभिहित नहीं हो सकता है, क्योंकि शब्द विशेष अर्थ में संकेत किया हुआ नहीं होता है। उसी प्रकार अनुमान भी सामान्यविषय है; जहाँ प्राप्ति वा हेतु प्राप्ति है वहाँ गति (१) अर्थात् अवगति है, और जहाँ अप्राप्ति है वहाँ अगति है; यह पहले ही कहा जा चुका है। अतः अनुमान के द्वारा सामान्यमात्र उपसंहार होता है। अतएव श्रुतानुमान का कोई भी विषय विशेष नहीं होता तथा इस सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु का लोक प्रत्यक्ष-द्वारा ग्रहण नहीं होता है। किन्तु अप्रामाणिक (आगम अनुमान और लोकप्रत्यक्ष इन तीन प्रमाणों से शून्य) इस विशेषार्थ की सत्ता नहीं है यह

कहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि वह सूक्ष्मभूतगत या पुरुषगत (ग्रहीतृगत) विशेष समाधिप्रज्ञा-द्वारा पूर्णतया ग्राह्य है। अतएव विशेषार्थता के कारण (सामान्यविषया) श्रुतानुमान प्रज्ञा से वह भिन्न विषयवाली है।

टीका—। ४९। (१) अर्थात् जितने अंश का हेतु मिलता है, उतने ही का ज्ञान होता है, अन्य अंश का नहीं। धूम देख करके 'अग्नि है' इतने का ही ज्ञान होता है, पर अग्नि की आकार प्रकार आदि जो विशेषताएँ हैं उनके आनुमानिक ज्ञान के लिये असंख्य हेतु जानना आवश्यक है। लेकिन उन्हें जानने की संभावना नहीं है, अतः अनुमान द्वारा अल्पांश मात्र का ही ज्ञान होता है।

श्रुतज्ञान तथा आनुमानिक ज्ञान शब्दों की सहायता से होता है। किन्तु सब शब्द विशेषतः गुणवाची शब्द-जाति के या सामान्य के नाम हैं। अतः शब्द ज्ञान सामान्यज्ञान है।

भाष्यम्—समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थान संस्काराशयं बाधते, व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति, प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते, ततस्समाधिप्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवोनवस्संस्काराशयो जायते, ततः प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति। कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति, न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेश-क्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टङ् कुर्व्वन्ति, चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति, ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥

भाष्यानुवाद—समाधिप्रज्ञा प्राप्त होने पर योगी के नये नये प्रज्ञाकृत संस्कार उत्पन्न होते हैं—

५०। तज्जात संस्कार (१) अन्य संस्कारु का प्रतिबन्धी है ॥

समाधिप्रज्ञा प्रसूत संस्कार व्युत्थान-संस्काराशय को रोकता है। व्युत्थान संस्कार-समूह अभिभूत हो जाने पर तज्जात सब प्रत्यय और नहीं होते हैं। प्रत्ययों के निरुद्ध होने पर समाधि उपस्थित होती है। उसी से पुनः समाधि-प्रज्ञा, और समाधि-प्रज्ञा से प्रज्ञा-कृत संस्कार। इस प्रकार से नये नये संस्काराशय पैदा होते हैं। समाधि से प्रज्ञा, और प्रज्ञा से प्रज्ञासंस्कार उत्पन्न होता है। यह संस्कार की अधिकता चित्त को अधिकार विशिष्ट क्यों नहीं करती?—वह प्रज्ञाकृत संस्कार क्लेशक्षयी होने के कारण चित्त को अधिकार विशिष्ट नहीं करती। वे चित्त को स्वकार्य से छूटकारा देते हैं। चित्त चेष्टा (विवेक-)ख्याति तक ही रहा करती है (२)।

टीका ५०—(१) चित्त का कोई ज्ञान या चेष्टा होने से उस पर जो प्रभाव

(छाप) या धृत-भाव (Impression) रह जाता है उसे संस्कार कहा जाता है। ज्ञान-संस्कार के अनुभव का नाम स्मृति और क्रिया संस्कार के उत्थान का नाम स्वारसिक (आप-ही-आप) चेष्टा (automatic action) है। प्रत्येक ज्ञायमान ज्ञान और क्रियमाण कर्म संस्कार की सहायता से उत्पन्न होते हैं। साधारण देही-द्वारा पूर्व-संस्कार को पूर्णतया त्यागकर किसी भी विषय को जानने की या कर्म करने की संभावना नहीं है।

सब संस्कार दो भागों में विभक्त होते हैं—क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट अर्थात् अविद्यामूलक तथा विद्यामूलक। विद्या अविद्या की शत्रु है, इसलिये विद्यासंस्कार अविद्यासंस्कारों का नाश कर देते हैं। संप्रज्ञात समाधि-जात प्रज्ञासमूह विद्या का उत्कर्ष है, और विवेकख्याति विद्या की चरम अवस्था है। अतः समाधिज प्रज्ञा के संस्कार अविद्यामूलक संस्कारों का समूल नाश करने में समर्थ हैं। समस्त अविद्यामूलक संस्कार क्षीण होने पर चित्त की सब चेष्टायें भी क्षीण होती हैं, कारण, राग-द्वेष आदि अविद्याएँ ही साधारण चित्त-चेष्टा की हेतु होती हैं।

"ज्ञान की पराकाष्ठा वैराग्य है" इसे भाष्यकार अन्यत्र (१।१६ सू) कह चुके हैं। अतः संप्रज्ञात योग की प्रज्ञा (तत्त्वज्ञान) और विवेकख्याति से विषय-वैराग्य ही सम्यक सिद्ध होता है। ऐसा होने पर वैराग्य संस्कार व्युत्थान संस्कार का प्रतिबन्धी है।

५०—(२) अधिकार = विषय का उपभोग या व्यवसाय। साधारणतः चित्त संस्कार द्वारा विषयाभिमुख होता है, अतएव संशय हो सकता है कि संप्रज्ञात संस्कार भी चित्त को अधिकारयुक्त करेगा; किन्तु, यह नहीं होता। संप्रज्ञात संस्कार का अर्थ ही यह है कि जिससे चित्त के विषयग्रहण का रोध होता हो ऐसा क्लेश-विरोधी सत्यज्ञान का संस्कार। ऐसा संस्कार जितना प्रबल होगा उतना ही चित्त का कार्य रुद्ध होगा।

५०—(३) संप्रज्ञान की चरम अवस्था विवेकख्याति के उत्पन्न होने पर चित्त का व्यवसाय सम्यक् निवृत्त हो जाता है। उसके द्वारा सर्वदुःख की आधारस्वरूपा विकारशील बुद्धि और पुरुष या शांत आत्मा के पार्थक्य की उपलब्धि होती है और फिर परवैराग्य-द्वारा चित्त प्रलीन होने पर द्रष्टा को कैवल्य सिद्धि होती है।

भाष्यम्—किञ्चास्य भवति—

तस्यापि निरोधे सर्व्वनिरोधान्निर्बीजस्समाधिः ॥ ५१ ॥

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति। कस्मात्; निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान्बाधत इति। निरोधस्थिति-काल-क्रमानुभवेन निरोध-चित्त-कृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम्। व्युत्थान-निरोधसमाधि-प्रभवैः सह कैवल्य-भागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्याम्प्रकृतावविस्थितायाम्प्रविलीयते, तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न

स्थितिहेतवो यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं विनिवर्त्तते । तस्मिन्नि- वृत्ते पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठः अतः शुद्धमुक्त इत्युच्यते ॥ ५१ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने वैयासिके समाधिपादः प्रथमः ।

भाष्यानुवाद—और उस प्रकार के चित्त का क्या होता है ?—

५१ । उसका भी (सम्प्रज्ञान का भी संस्कारक्षय होने के कारण) निरोध होने पर सर्वनिरोध हो जाने से निर्बीज समाधि उत्पन्न होती है ॥

वह (निर्बीज समाधि) केवल सम्प्रज्ञान समाधि की ही विरोधी नहीं अपितु प्रज्ञाकृत संस्कारों की भी प्रतिबंधी है, क्योंकि निरोध-जात या पर वैराग्य-जात संस्कार सम्प्रज्ञात-समाधि के संस्कारों का नाश कर देते हैं। निरोध-स्थिति का जो कालक्रम है उसके अनुभव से निरुद्धचित्त-कृत संस्कार का अस्तित्व अनुमान योग्य होता है । व्युत्थान-निरोधि का संप्रज्ञात समाधि से उत्पन्न हुए संस्कारों और कैवल्यभागीय (२) संस्कारों के साथ चित्त अपनी अवस्थिता या नित्य प्रकृति में विलीन होता है। इस कारण ये प्रज्ञासंस्कार समूह चित्ताधिकार के विरोधी होते हैं, किन्तु स्थिति के हेतु नहीं होते हैं। कारण यह है कि अधिकार शेष हो जाने से कैवल्य-भागीय संस्कारों के साथ चित्त निवृत्त हो जाता है। चित्त निवृत्त होने पर पुरुष स्वरूप-प्रतिष्ठ होते हैं, अतः उन्हें शुद्धमुक्त कहा जाता है ।

यह श्रीपातजंलयोगशास्त्रीय-वैयासिक-सांख्यप्रवचन के समाधिपाद का अनुवाद समाप्त हुआ ।

टीका—५१ । (१) संप्रज्ञात समाधि का या संप्रज्ञान का संस्कार तत्त्वविषयक है । तत्त्वसमूह के स्वरूप की प्रज्ञा होने के बाद दृश्यतत्त्व से पुरुष की भिन्नता-ख्याति तथा दृश्य की हेयता की चरमप्रज्ञा होने पर वैराग्य के द्वारा दृश्य की प्रज्ञा और उसके संस्कार भी हेय मालूम पड़ते हैं । अतएव निरोध समाधि का संस्कार संप्रज्ञान और उसके संस्कार का विरोधी या निवृत्तिकारी है ।

निरोध प्रत्ययस्वरूप नहीं होता इसलिये उसका संस्कार कैसे होता है ?—इस प्रकार की शंका हो सकती है । इसका समाधान यह है—निरोध सचमुच भग्न-व्युत्थान है, उसी के संस्कार होते हैं । जैसे जगह-जगह पर टूटी हुई एक रेखा की छाप, उसे एक रेखा की भग्नावस्था भी कहा जा सकता है अथवा अरेखा की भग्नता भी । पर वैराग्य के भी संस्कार हो सकते हैं । उसका कार्य है केवल निरोध को ले आना । वह चित्त को उठने नहीं देता है । वृत्तियों के लय और उदय के बीच में जो क्षणिक निरोध सदा हो रहा है, वही निरोध समाधि में बढ़ जाता है । तब प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति धर्म का नाश नहीं होता परन्तु पुरुषोपदर्शनरूप हेतु से उनकी जो विषम क्रिया होती थी वह (उस हेतु अर्थात् संयोग के अभाव से) नष्ट हो जाती है ।

एक बार असंप्रज्ञात निरोध होने से ही वह सदा के लिये स्थायी नहीं होता, किन्तु वह अभ्यास के द्वारा बढ़ता रहता है । अतः उसका भी संस्कार होता है, उस संस्कारजनित चित्तलय को निरोधक्षण कहा जाता है । वह चित्त की परवैराग्यमूलक लीन अवस्था है । दृश्य-विराग सम्यक् सिद्ध होने पर तथा सदाकालीन निरोध का संकल्प पूर्वक निरोध करने से चित्त पुनरुत्थित नहीं होता है । इस प्रकार निरोध करने की सामर्थ्य होने पर भी जो निर्माणचित्त द्वारा

भूतानुग्रह करने के लिये चित्त को निर्दिष्ट काल तक निरुद्ध करते हैं उनका चित्त उस काल के बाद निर्माणचित्त के रूप में उठता है। ईश्वर इस प्रकार ग्राकल्प निरोध कर कल्प के ग्रंत में, भक्त संसारी पुरुषों का ज्ञानधर्मोपदेश द्वारा उद्धार करते हैं, यह योगसंप्रदाय का मत है। इस विषय की विवृत्ति पहिले की गयी है।

५१—(२) व्युत्थान की या विक्षिप्त ग्रवस्था की जो निरोधरूप समाधि है वह संप्रज्ञात समाधि है; उसका संस्कार, कैवल्य भागीय संस्कार—निरोधजात संस्कार है। साधिकार—भोग तथा ग्रपवर्ग का जनक चित्त साधिकार होता है। ग्रपवर्ग हो जाने पर ग्रधिकार समाप्ति होती है।

संप्रज्ञातज व्युत्थान को नष्ट करता है। विक्षिप्त व्युत्थान सम्यक् दूर होने पर भी चित्त में सम्प्रज्ञान या विवेकख्याति रहती है। प्रांतभूमिता (२। २७ सू) प्राप्त होकर विषयाभाव में सम्प्रज्ञान (तथा उसका संस्कार) विनिवृत्त हो जाता है। संप्रज्ञान की विनिवृत्ति ही निर्वीज ग्रसंप्रज्ञात है। इस प्रकार निरोध के संपूर्ण होजाने से चित्त लीन होजाने की ग्रवस्था को कैवल्य कहा जाता है।

ग्रतः प्रज्ञा ग्रौर निरोधसंस्कार चित्त के ग्रधिकार या विषय-व्यापार के विरोधी हैं। उनके क्रम से चित्त सम्यक् निरुद्ध होता है, सम्यक् निरोध ग्रौर चित्त का ग्रपने कारण में सदाकाल के लिये प्रलय (विनिवृत्ति) एक ही बात है।

यद्यपि द्रष्टा सुख तथा दुःख से भिन्न ग्रविकारी पदार्थ हैं, तथापि चित्त निरुद्ध होन पर द्रष्टा को शुद्ध कहा जाता है, ग्रौर चित्त-निरोध-जनित दुःखनिवृत्ति के कारण द्रष्टा को मुक्त कहा जाता है सचमुच यह शुद्ध मुक्त पद केवल चित्त के भेद से पुरुष का नाममात्र है। द्रष्टा द्रष्टा ही हैं तथा रहते हैं; चित्त व्युत्थान को पाकर उपदृष्ट ग्रौर शांत होने से उपदृष्ट नहीं होता है; इस चित्तभेद को लेकर ही लौकिक दृष्टि से पुरुष को बद्ध ग्रौर मुक्त कहा जाता है।

पहिला पाद समाप्त

साधन पादः

भाष्यम्—उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः, कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

नातपस्विनो योगः सिध्यति । अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थित विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम्, तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद—समाहितचित्त योगी का योग उद्दिष्ट हो चुका है, अब व्युत्थितचित्त साधक भी किस प्रकार योगयुक्त हो सकते हैं यह बताने के लिये यह सूत्र आरम्भ किया जा रहा है—

१ । तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान ये क्रिया योग हैं (१) ॥

योग अतपस्वी को सिद्ध नहीं होता, अनादिकालीन कर्म और क्लेश की वासना-द्वारा विचित्र (सुरक्षित अर्थात् सहज भावापन्न), विषय-जाल-युक्त अशुद्धि या योगान्तराय चित्तमल तपस्या के बिना सम्यक् भिन्न अर्थात् विरल या छिन्न नहीं होते हैं । अतएव तपस्या करनी चाहिये। चित्त प्रसादिका विघ्न-रहित तपस्या ही (योगियों द्वारा) सेव्य है ऐसा (आचार्य लोग) मानते हैं । प्रणवादि पवित्र मंत्रों का जप अथवा मोक्षशास्त्र का अध्ययन स्वाध्याय है । ईश्वर प्रणिधान = परमगुरु ईश्वर को समस्त कार्य का अर्पण अथवा कर्मफलाकांक्षा का त्याग।

टीका—१ । (१) योग या चित्तस्थैर्य को उद्देश्य कर जो सब क्रियाएँ की जाती हैं अथवा जो सब क्रियाएँ वा कर्म योग के गौण साधक होते हैं वे ही क्रियायोग हैं । वे कर्म प्रधानतः तीन प्रकार के हैं, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान।

तपस्या—विषय सुख के त्याग अर्थात् कष्टसहन के साथ जिन कर्मों से आपाततः सुख होता है उन कर्मों के निरोध की चेष्टा करना । ऐसी तपस्या ही योग के अनुकूल होती है जिसके द्वारा धातु की विषमता न हो एवं जिसके फलस्वरूप रागद्वेषादिमूलक सहज कर्मों का निरोध हो जाय । तपस्या आदि का विवरण २ । ३२ सूत्र में देखिये ।

क्रियारूप योग = क्रियायोग । अर्थात् योग या चित्तनिरोध को उद्देश्य कर क्रिया

करना = क्रियायोग । सचमुच तपस्या आदि (मौन, प्राणायाम, ईश्वर और कर्मफल का अर्पण इत्यादि) सहज क्लिष्ट कर्मों के निरोध के लिए प्रयत्न स्वरूप होते हैं। तपस्या, शरीर क्रिया योग; स्वाध्याय, वाचिक और ईश्वरप्रणिधान, मानस क्रियायोग हैं। अहिंसा आदि ठीक क्रियायोग नहीं है पर क्रिया का अकरण या क्रिया को न करने के समान हैं। इसमें जो कष्ट का सहन होता है सो तपस्या के अन्तर्गत है।

भाष्यम्—स हि क्रिया-योगः—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

स ह्यासेव्यमानस्समाधिम्भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति । प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति, तेषान्तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥२॥

भाष्यानुवाद—वह क्रियायोग—

२—समाधिभावना तथा क्लेशों को क्षीण करने के लिए (कर्त्तव्य) है।

क्रियायोग भलीभाँति (१) आचरित होने पर समाधि अवस्था को भावित करता है और सब क्लेशों को प्रकृष्टरूप से क्षीण करता है। प्रक्षीणीकृत क्लेशों को प्रसंख्यान रूप अग्नि के द्वारा दग्ध कर दग्धबीज के समान उत्पादक शक्तिहीन कर देता है। इनके क्षीण होने पर क्लेश से अपरामृष्ट (अनभिभूत), बुद्धि तथा पुरुष की भिन्नताख्यातिरूप, सूक्ष्म योगजात प्रज्ञा गुणचेष्टाशून्यत्व के कारण प्रलय प्राप्त करती है।

टीका २—(१) क्रियायोग से अशुद्धि का क्षय होता है। अशुद्धि सब करणों की राजस चंचलता और तामस जड़ता है। अतः अशुद्धि के क्षय से चित्त समाधि के अभिमुख होता है। अशुद्धि ही क्लेश की प्रबल अवस्था है, अतः अशुद्धि क्षीण होने पर क्लेश क्षीण हो जाता है।

क्लेशसमूह क्षीण होने पर नाश के योग्य होते हैं। सम्यक् क्षीणीकृत क्लेश प्रसंख्यान के या संप्रज्ञान के या विवेक के द्वारा उत्पादक शक्ति-शून्य होते हैं। दग्धबीज जैसे अंकुरित नहीं होता वैसे ही संप्रज्ञान द्वारा दग्ध क्लेश भी दुबारा चित्त म नहीं उठते। उदाहरणार्थ—"मैं शरीर हूँ" यह एक अविद्यामूलक क्लिष्टा वृत्ति है। समाधिबल में महत्तत्व का साक्षात्कार होने पर 'मैं शरीर नहीं हूँ' इसकी सम्यक् उपलब्धि होती है। उसी से—**'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'** इस प्रकार की अवस्था प्राप्त होती है। समापत्ति की अवस्था में इस प्रज्ञा से चित्त सदा समापन्न रहता है, तब 'मैं शरीर हूँ' यह क्लेशवृत्ति दग्धबीज सी हो जाती है। क्योंकि उस समय 'मैं शरीर हूँ' ऐसी वृत्ति के संस्कार से तदाकार चित्तवृत्ति नहीं होती। उस समय "मैं शरीर हूँ" इस तरह के अभिमानमूलक समस्त भाव सदा के लिये निवृत्त हो जाते हैं।

'मैं शरीर हूँ' इसका संस्कार क्लिष्ट संस्कार, और 'मैं शरीर नहीं हूँ' इसका संस्कार अक्लिष्ट या विद्यामूलक संस्कार है। इसीका दूसरा नाम प्रज्ञा संस्कार है। बुद्धि और पुरुष की भिन्नताख्याति-(विवेकख्याति-) पूर्वक परवैराग्य-द्वारा चित्त विलीन होने से

ये प्रज्ञा संस्कार या क्लेशों के दग्धबीज भाव भी विलीन हो जाते हैं (१।५० और २।१० सूत्र देखिए)। दग्ध-वीज अवस्था ही क्लेश की सूक्ष्म अवस्था है जो सम्प्रज्ञा-द्वारा निष्पन्न होती है। क्लेश की क्षीण अवस्था क्रियायोग द्वारा निष्पन्न होती है।

उक्त उदाहरण में 'मैं शरीर नहीं हूँ' ऐसे समाधिलभ्य ज्ञान का हेतु समाधि तथा उसकी सहायिका क्लेश की क्षीणता है। समाधि का और क्लेशक्षय का हेतु क्रियायोग है। अर्थात् तपस्या से शरीर-इन्द्रिय की स्थिरता, स्वाध्याय (श्रवण और मननजात प्रज्ञा का अभ्यास) से साक्षात्कार करने के लिए उत्सुकता एवं ईश्वरप्रणिधान द्वारा चित्तस्थिरता साधित होकर समाधि भावित (उद्भूत) होती है और प्रबल क्लेश क्षीण होता है।

भाष्यम्—अथ के ते क्लेशाः कियन्तो वेति ?—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ॥ ३ ॥

क्लेशा इति पंचविपर्यया इत्यर्थः, ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं द्रढ़यन्ति परिणामवस्थामयन्ति कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति परस्परानुग्रहतन्त्रा भूत्वा (तन्त्रीभूत्वेति पाठान्तरम्) कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद—उन क्लेशों के नाम क्या हैं और वे कितने हैं ?—

३—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। सू॥

क्लेश अर्थात् पांच विपर्य्यय (१)। वे स्पंदमान अर्थात् समुदायुक्त या वृत्तिमान् होकर गुणाधिकार को दृढ़ करते हैं, परिणाम को अवस्थापित करते हैं, कार्य-कारण-स्रोत को उद्भावित करते हैं, परस्पर मिलकर या सहायता कर कर्मविपाक निष्पादन करते हैं।

टीका—३। (१) सब क्लेशों का साधारण लक्षण है कष्टदायक विपर्यस्त ज्ञान। क्लेश का स्पंदन अर्थात् क्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न होते रहने पर आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता है, अतः गुणव्यापार सुदृढ़ रहता है। ये वृत्तियाँ परिणामक्रम से अव्यक्त-महत्-अहंकार इत्यादि कार्य-कारण-भाव को प्रवर्त्तित करती हैं अर्थात् प्रतिक्षण सब गुण महत् आदि के क्रम से परिणत होते रहते हैं। महदादि के क्रियारूप कर्म-मूल में सम्मिलित क्लेशसमूह कर्मविपाक निष्पादन करते हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधकल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्ति यात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमस्तस्य

करना = क्रियायोग । सचमुच तपस्या आदि (मौन, प्राणायाम, ईश्वर और कर्मफल का अर्पण इत्यादि) सहज क्लिष्ट कर्मों के निरोध के लिए प्रयत्न स्वरूप होते हैं । तपस्या, शारीर क्रिया योग; स्वाध्याय, वाचिक और ईश्वरप्रणिधान, मानस क्रियायोग हैं । अहिंसा आदि ठीक क्रियायोग नहीं है पर क्रिया का अकरण या क्रिया को न करने के समान हैं । उसमें जो कष्ट का सहन होता है सो तपस्या के अन्तर्गत है ।

भाष्यम्—स हि क्रिया-योगः—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

स ह्यासेव्यमानस्समाधिम्भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति । प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्याग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति, तेषान्तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥२॥

भाष्यानुवाद—वह क्रियायोग—

२—समाधिभावना तथा क्लेशों को क्षीण करने के लिए (कर्त्तव्य) है ।

क्रियायोग भलीभाँति (१) आचरित होने पर समाधि अवस्था को भावित करता है और सब क्लेशों को प्रकृष्टरूप से क्षीण करता है । प्रक्षीणीकृत क्लेशों को प्रसंख्यान रूप अग्नि के द्वारा दग्ध कर दग्धबीज के समान उत्पादक शक्तिहीन कर देता है । इनके क्षीण होने पर क्लेश से अपरामृष्ट (अनभिभूत), बुद्धि तथा पुरुष की भिन्नताख्यातिरूप, सूक्ष्म योगजात प्रज्ञा गुणचेष्टाशून्यत्व के कारण प्रलय प्राप्त करती है ।

टीका २—(१) क्रियायोग से अशुद्धि का क्षय होता है । अशुद्धि सब करणों की राजस चंचलता और तामस जड़ता है । अतः अशुद्धि के क्षय से चित्त समाधि के अभिमुख होता है । अशुद्धि ही क्लेश की प्रबल अवस्था है, अतः अशुद्धि क्षीण होने पर क्लेश क्षीण हो जाता है ।

क्लेशसमूह क्षीण होने पर नाश के योग्य होते हैं । सम्यक् क्षीणीकृत क्लेश प्रसंख्यान के या संप्रज्ञान के या विवेक के द्वारा उत्पादक शक्ति-शून्य होते हैं । दग्धबीज जैसे अंकुरित नहीं होता वैसे ही संप्रज्ञान द्वारा दग्ध क्लेश भी दुबारा चित्त म नहीं उठते । उदाहरणार्थ—"मैं शरीर हूँ" यह एक अविद्यामूलक क्लिष्टा वृत्ति है । समाधिबल में महत्तत्व का साक्षात्कार होने पर 'मैं शरीर नहीं हूँ' इसकी सम्यक् उपलब्धि होती है । उसी से—**'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'** इस प्रकार की अवस्था प्राप्त होती है । समापत्ति की अवस्था में इस प्रज्ञा से चित्त सदा समापन्न रहता है, तब 'मैं शरीर हूँ' यह क्लेशवृत्ति दग्धबीज सी हो जाती है । क्योंकि उस समय 'मैं शरीर हूँ' ऐसी वृत्ति के संस्कार से तदाकार चित्तवृत्ति नहीं होती । उस समय "मैं शरीर हूँ" इस तरह के अभिमानमूलक समस्त भाव सदा के लिये निवृत्त हो जाते हैं ।

'मैं शरीर हूँ' इसका संस्कार क्लिष्ट संस्कार, और 'मैं शरीर नहीं हूँ' इसका संस्कार अक्लिष्ट या विद्यामूलक संस्कार है । इसीका दूसरा नाम प्रज्ञा संस्कार है । बुद्धि और पुरुष की भिन्नताख्याति-(विवेकख्याति-) पूर्वक परवैराग्य-द्वारा चित्त विलीन होने से

ये प्रज्ञा संस्कार या क्लेशों के दग्धबीज भाव भी विलीन हो जाते हैं (१।५० और २।१० सूत्र देखिए)। दग्ध-बीज अवस्था ही क्लेश की सूक्ष्म अवस्था है जो सम्प्रज्ञा-द्वारा निष्पन्न होती है। क्लेश की क्षीण अवस्था क्रियायोग द्वारा निष्पन्न होती है।

उक्त उदाहरण में 'मैं शरीर नहीं हूँ' ऐसे समाधिलभ्य ज्ञान का हेतु समाधि तथा उसकी सहायिका क्लेश की क्षीणता है। समाधि का और क्लेशक्षय का हेतु क्रियायोग है। अर्थात् तपस्या से शरीर-इन्द्रिय की स्थिरता, स्वाध्याय (श्रवण और मननजात प्रज्ञा का अभ्यास) से साक्षात्कार करने के लिए उत्सुकता एवं ईश्वरप्रणिधान द्वारा चित्तस्थिरता साधित होकर समाधि भावित (उद्भूत) होती है और प्रबल क्लेश क्षीण होता है।

भाष्यम्—अथ के ते क्लेशाः कियन्तो वेति ?—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ॥ ३ ॥

क्लेशा इति पंचविपर्यया इत्यर्थः, ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं द्रढ़यन्ति परिणामवस्थापयन्ति कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति परस्परानुग्रहतन्त्रा भूत्वा (तन्त्रीभूत्वेति पाठान्तरम्) कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद—उन क्लेशों के नाम क्या हैं और वे कितने हैं ?—

३—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। सू॥

क्लेश अर्थात् पांच विपर्य्यय (१)। वे स्पंदमान अर्थात् समुदायुक्त या वृत्तिमान् होकर गुणाधिकार को दृढ़ करते हैं, परिणाम को अवस्थापित करते हैं, कार्य-कारण-स्रोत को उद्भावित करते हैं, परस्पर मिलकर या सहायता कर कर्मविपाक निष्पादन करते हैं।

टीका—३। (१) सब क्लेशों का साधारण लक्षण है कष्टदायक विपर्यस्त ज्ञान। क्लेश का स्पंदन अर्थात् क्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न होते रहने पर आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता है, अतः गुणव्यापार सुदृढ़ रहता है। ये वृत्तियाँ परिणामक्रम से अव्यक्त-महत्-अहंकार इत्यादि कार्य-कारण-भाव को प्रवर्तित करती हैं अर्थात् प्रतिक्षण सब गुण महत् आदि के क्रम से परिणत होते रहते हैं। महदादि के क्रियारूप कर्म-मूल में सम्मिलित क्लेशसमूह कर्मविपाक निष्पादन करते हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधकल्पितानां प्रसुप्त तनुविच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्ति यात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमस्तस्य

प्रबोध आलम्बने सम्मुखीभावः । प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इत्यतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते । तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति, सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च । तनुत्वमुच्यते प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः, कथं ? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्, न हि रागकाले क्रोधस्समुदाचरति, रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति, नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्त इति, किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति, स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति । विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः ।

सर्वे एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति । कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इति ? उच्यते, सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम् । यथैव प्रतिपक्ष-भावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति । सर्व एवामी क्लेशा अविद्या भेदाः कस्मात् ? सर्वेषु अविद्यैवाभिप्लवते यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्य्यास-प्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्ते इति ॥ ४ ॥

४ । प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार रूप से रहते हुए अस्मितादि क्लेशों की प्रसवभूमि अविद्या है ॥ सू

भाष्यानुवाद—यहाँ अविद्या क्षेत्र या प्रसवभूमि है अन्य सबों की अर्थात् प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार प्रकार के अस्मिता आदि की (१) । उनमें प्रसुप्ति क्या है ?—चित्त म शक्तिमात्र रूप से अवस्थित क्लेश की जो बीजभावप्राप्ति है वह प्रसुप्ति है । प्रसुप्त क्लेश का आलम्बन में (अपने विषय में) सम्मुखीभाव या अभिव्यक्ति ही प्रबोध है । प्रसंख्यान युक्त का क्लेशबीज दग्ध होने पर वह सम्मुखीभूत-आलम्बन अर्थात् विषय-सन्निकृष्ट होने पर भी अंकुरित या प्रबुद्ध नहीं होता । कारण दग्धबीज अंकुरित कैसे हो सकता है ? अतः क्षीण क्लेश योगी को कुशल, चरमदेह कहा जाता है (२) । उस प्रकार के योगियों की ही दग्धबीज-भावा पंचमी क्लेशावस्था होती है ; दूसरों की (विदेह आदियों की) नहीं । उस समय विद्यमान क्लेशसमूह की कार्योत्पादक सामर्थ्य भी दग्ध हो जाती है ; अतएव विषय सन्निकर्ष से भी उनको प्ररोह नहीं होता । इस प्रकार की प्रसुप्ति और क्लेशों के दग्ध बीजभाव के कारण जो प्ररोहाभाव होता है वह व्याख्यात हुआ । अब तनुत्व कहा जा रहा है—प्रतिपक्ष की भावना द्वारा आक्रान्त क्लेश तनु हो जाते हैं, और जो समय समय पर विच्छिन्न होकर पुनः उसी प्रकार की वृत्ति पाते हैं वे विच्छिन्न हैं । किस प्रकार ? जैसे—राग के समय में क्रोध के अदर्शन होने के कारण, रागकाल में क्रोध वृत्तिमय नहीं होता, और राग किसी एक विषय पर देखा जाता है, इसलिये वह अन्य विषय पर नहीं रहता है ऐसा भी नहीं है । जैसे चैत्र एक स्त्री में अनुरक्त होने के कारण दूसरी में विरक्त नहीं होता वैसे ही । लेकिन उसमें (जिसमें अनुरक्त है) राग लब्धवृति और दूसरी में भविष्यद्वृत्ति है । उस समय वह प्रसुप्त या तनु या विच्छिन्न रहता है । विषय पर जो लब्धवृत्ति (वृत्तिमान्) है वह उदार होना है ।

ये सभी क्लेशजनत्व का अतिक्रमण नहीं करते । (ये सब यदि एकमात्र क्लेश जाति

के अन्तर्गत हों) तो फिर क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार (ऐसा विभाग) क्यों है ? इसका उत्तर यह है—ये एक मात्र क्लेश जाति के अन्तर्गत हैं यह ठीक है किन्तु अवस्था की विशेषता से ही विच्छिन्न आदि विभाग किया गया है। ये जैसे प्रतिपक्ष की भावना से निवृत्त होते हैं, वैसे ही अपनी अभिव्यक्ति के हेतु से प्रकट भी होते हैं। समस्त क्लेश ही अविद्या के भेद हैं, क्योंकि सभी में अविद्या व्यापक रूप से रहती है। जो वस्तु अविद्या द्वारा आकारित या समारोपित होती है, अन्य क्लेश भी उसका अनुगमन करते हैं (३)। क्लेश समूह विपर्य्यस्त प्रत्यय काल में उपलब्ध होते हैं, और अविद्या क्षीण होने पर क्षीण हो जाते हैं।

टीका—४। (१) वास्तव में अस्मिता आदि चारों क्लेश अविद्या के प्रकार भेद हैं। अस्मितादि क्लेशों के चार अवस्था भेद हैं, यथा—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। प्रसुप्ति=बीज या शक्तिरूप में स्थिति। प्रसुप्त क्लेश आलम्बन पाने पर पुनः उत्थित होता है। तनु = क्रिया योग द्वारा प्रक्षीण क्लेश। विच्छिन्न = अन्य क्लेश से विच्छिन्न भाव। उदार= व्यापारयुक्त, यथा—क्रोध काल में द्वेष उदार है, राग विच्छिन्न है। वैराग्य के अभ्यास से दमित राग को तनु बोला जाता है। संस्कार-अवस्था ही प्रसुप्ति है। जो सब निश्चिह्न या अलक्ष्य संस्कार वर्त्तमान से फलवान नहीं परन्तु भविष्य में होंगे, वे प्रसुप्त क्लेश हैं। क्लेशावस्था का अर्थ है एक एक क्लिष्ट वृत्ति की अवस्था।

प्रसुप्त क्लेश तथा समस्त दग्ध-बीज क्लेश कुछ सादृश्ययुक्त हैं, क्योंकि दोनों ही अलक्ष्य हैं। किन्तु प्रसुप्त क्लेश आलम्बन पाने से ही उदार हो जाते हैं और दग्धबीज क्लेश आलम्बन पाने से भी कभी नहीं उठते हैं। भाष्यकार ने दग्धबीज भाव को पांचवीं क्लेशावस्था कहा है। यह इन चारों अवस्थाओं से सचमुच संपूर्णतया-पृथक् अवस्था है।

इस विषय में शास्त्र में कहा है—'**बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः॥**' अर्थात् अग्निदग्ध बीज जैसे पुनः अंकुरित नहीं होता, वैसे ही क्लेश समूह ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध होने पर आत्मा उनके द्वारा पुनः क्लिष्ट नहीं होती (शान्तिपर्व)।

४। (२) क्लेश दग्धबीजवत् होने से ही तादृश योगी जीवन्मुक्त होते हैं। इसी जन्म में ही चित्त को लीन करके ये केवली होते हैं; अतएव उनके पुनर्जन्म के अभावसे वह देह चरम देह होती है।

४। (३) राग इत्यादि कैसे अविद्यामूलक वा मिथ्याज्ञान मूलक होते हैं यह आगे बतलाया जायगा।

भाष्यम्—**तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते**—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिस्तद्यथा ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारकाद्यौः, अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिरुक्तञ्च 'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भा-

न्निस्यन्दाधनादपि । कायमाधेयशौत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदु' रित्यशुचौ शुचिख्याति-दृश्यते, नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति, कस्य केनाभिसम्वन्धो भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यय-(र्यास) प्रत्यय इति । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्यय-स्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः ।

तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन' इति, तत्र सुखख्यातिरविद्या । तथाऽनात्मन्यात्मख्यातिर्वाह्योपकरणेषु चेतना-चेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोपकरणे वा मनसि अनात्मन्यात्मख्यातिरिति । तथैतदत्रोक्तं 'व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचति आत्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध' इति । एषा चतुष्पदा भवत्य-विद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति । तस्याश्चामित्रागोष्पदवद् वस्तु सतत्त्वंविज्ञेयं, यथा नामित्रो मित्रभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नस्तथाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरमेवमविद्या न प्रमाणन्न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद—उनमें से (इस सूत्र में) अविद्या का स्वरूप कहा जा रहा है—

५ । अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म विषय पर यथाक्रम नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मस्वरूपता की ख्याति अविद्या है ॥ सू

अनित्य कार्य में नित्य ख्याति, जैसे—पृथ्वी ध्रुव है, चन्द्रतारकायुक्त आकाश ध्रुव है, देवगण अमर हैं इत्यादि । 'पंडित व्यक्ति स्थान, बीज (१), उपष्टम्भ, निस्पन्द, निधन और आधेयशौचत्व के कारण शरीर को अशुचि कहते हैं ।' (शरीर को इस प्रकार से अशुचि कहा गया है) एसे परम वीभत्स अशुचि शरीर में शुचिख्याति देखी जाती है; (यथा) नव शशिकला सी कमनीय इस कन्या के अङ्गप्रत्यङ्ग मानो मधु या पीयूष-द्वारा निर्मित हैं कि मानो चन्द्रमा को भेद कर निकली हो, नेत्र मानो नील-कमल-दल जैसे आयत हों, पूर्व लोचनों (कटाक्ष) से मानो यह जीवलोक को आश्वासित कर रही है । इस प्रकार किसी का किसी के साथ संबन्ध (उपमा) होती है । और अशुचि में शुचिविपर्यास का ज्ञान होता है । इसी प्रकार अपुण्य में पुण्यप्रत्यय और अनर्थ में (जिससे हमारी अर्थ सिद्धि होने की संभावना नहीं है) अर्थप्रत्यय भी व्याख्यात होते हैं ।

दुःख में सुखख्याति आगे कहेंगे (२।१५ सूत्र में) ; 'परिणाम, ताप और संस्कार-दुःखों के तथा गुण वृत्तियों में परस्पर विरोध होने से विवेकी पुरुष के पास सभी दुःख होते हैं ।' इस प्रकार के दुःख में सुखख्याति अविद्या है । वैसे ही अनात्म वस्तु में आत्मख्याति है, यथा — चेतन अचेतन वाह्य उपकरण (पुत्र, पशु, शय्या आदि) वा भोगाधिष्ठानि शरीर या पुरुष के उपकरण मन आदि सब अनात्म विषयों में आत्मख्याति होती है । इस विषय में (पंचशिख आचार्य द्वारा) यह उक्ति है 'जो व्यक्त और अव्यक्त सत्त्व को (चेतन और अचेतन वस्तु को) आत्मरूप जानकर और उनकी संपदा को आत्मसंपदा सोचकर हर्षित होते हैं, और उनकी विपत्ति को आत्मविपत्ति सोचकर विषण्ण होते हैं; 'वे सभी मूढ़ हैं ।' यह अविद्या चतुष्पाद होती है । यह क्लेशप्रवाह और सविपाक कर्माशय की जड़ है । 'अमित्र' या 'अगोष्पद' की तरह

अविद्या में भी वस्तुतः रहती है जैसे 'अमित्र' मित्र का अभाव या मित्रमात्र नहीं पर मित्र से विरुद्ध शत्रु होता है; और जैसे 'अगोष्पद' गोष्पद का अभाव या गोष्पदमात्र नहीं पर कोई बड़ा भारी स्थान है जो उन दोनों से पृथक् वस्तु होता है; वैसे ही अविद्या न तो प्रमाण है और न प्रमाण का अभाव ही। अतएव विद्या विपरीत ज्ञानान्तर ही अविद्या (२) है।

टीका—५। (१)—शरीर का स्थान—अशुचि जरायु; बीज—शुक्र आदि; भुक्त पदार्थों का संघात होता है, उपष्टम्भ; निस्यन्द—प्रस्वेद आदि द्रव वस्तुएँ; निधन—मृत्यु; मृत्यु होने पर सभी शरीर अशुचि हो जाते हैं। आधेयशौचत्व—सदा शुचि या साफ करना पड़ता है। इन सब कारणों से शरीर अशुचि होता है। ऐसे शरीर को शुचि, रमणीय, प्रार्थनीय और संगयोग्य सोचना विपरीत ज्ञान होता है।

५। (२) अविद्या के चारों लक्षणों में, अनित्य में नित्यज्ञान अभिनिवेश क्लेश में प्रधान है; अशुचि में शुचिज्ञान राग में प्रधान है; दुःख में सुखज्ञान द्वेष में प्रधान है, क्योंकि द्वेष दुःखविशेष होने पर भी द्वेषकाल में सुखकर लगता है; और अनात्म में आत्मज्ञान अस्मिता क्लेश में प्रधान होता है।

भिन्न-भिन्न वादी अविद्या के अनेक लक्षण बताते हैं। उनमें से अधिकांश लक्षण ही तर्क तथा दर्शन के विरोधी होते हैं। योगोक्त यह लक्षण निर्विवाद सत्य है, यह पाठकमात्र को ही बोधगम्य होगा। रज्जु में सर्वज्ञान का कारण जो भी हो—यह एक द्रव्य में अन्य द्रव्यज्ञान है। (अतद्रूपप्रतिष्ठ ज्ञान) इसमें कोई भी 'न' नहीं कह सकता। यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान के विपरीत है, अतः अयथार्थज्ञान है। अतः 'यथार्थ' और 'अयथार्थ'—यह वैपरीत्य ही विद्या और अविद्या या ज्ञान और अज्ञान का वैपरीत्य होता है। इसमें विषय का वैपरीत्य नहीं होता। अर्थात् सर्प और रज्जु भिन्न भिन्न विषय हैं, किन्तु विपरीत विषय नहीं हैं। इसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान का या अविद्यामूलक वृत्ति का कारण—उस प्रकार के ज्ञान का संस्कार होता है। अतएव विपर्यय-ज्ञान और विपर्यय-संस्कारों का साधारण नाम अविद्या है। विपर्यासरूप अविद्या अनादि है। वैसे ही विद्या भी अनादि है। कारण यह है कि जैसे प्राणियों को अयथार्थ ज्ञान रहता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान भी। साधारण अवस्था में अविद्या की प्रबलता और विद्या की दुर्बलता तथा विवेकख्याति में विद्या की सम्यक् प्रबलता और अविद्या की अति दुर्बलता होती है। चित्तवृत्ति के सिवाय अविद्या नाम का कोई एक अतिरिक्त द्रव्य नहीं रहता है। वास्तव में चित्तवृत्तियाँ ही द्रव्य हैं। अविद्या एक प्रकार की चित्तवृत्ति (विपर्यय) ही होती है अतः अविद्या अनादि है इसका यह अर्थ हुआ कि चित्त वृत्ति का प्रवाह अनादि है।

जैसे आलोक और अंधकार परस्पर सापेक्ष हैं—आलोक म अँधेरे का भाग कम और अँधेरे में आलोक का भाग कम है ऐसा कहा जाता है, वैसे ही वास्तव म प्रत्येक वृत्ति ही विद्या और अविद्या की समष्टि होती है। विद्या में अविद्या का अंश स्वल्प और अविद्या में विद्या का अंश स्वल्प है यही दोनों में प्रभेद है। विद्या की पराकाष्ठा विवेकख्याति है, उसमें भी सूक्ष्म अस्मिता रहती है। साधारण अविद्या में 'मैं हूँ, जान रहा हूँ' इत्यादि दृष्ट-संबन्धी अनुभव भी रहता है। वास्तव में सम्पूर्ण ज्ञान ही कुछ यथार्थ, कुछ अयथार्थ होता है।

यथार्थता के आधिक्य देखने पर विद्या और अयथार्थता का आधिक्य देखने पर अविद्या कही जाती है। शुक्ति में रजतभ्रम आदि भ्रान्तियाँ अविद्या के लक्षण में नहीं आतीं। वे विपर्यय लक्षण के अन्तर्गत हैं। भ्रान्तिमात्र ही विपर्यय होता है, और अविद्या पारमार्थिक या योगसाधन सम्बन्धी नाशयोग्य भ्रान्ति होती है। यह भेद समझ रखना चाहिए ॐ।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेक स्वरूपापत्तिरिवाऽस्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृयोग्य शक्तयोरत्यन्त विभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभाग-प्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते, स्वरूपप्रतिलंभेतु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम् 'बुद्धितः परं पुरुषामाकारशील विद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्य्यात्तत्रात्मबुद्धि-म्मोहेन' इति ॥ ६ ॥

६—दृक् शक्ति तथा दर्शन शक्ति की एकात्मता ही अस्मिता है ॥

भाष्यानुवाद—पुरुष दृक्शक्ति, बुद्धि दर्शन शक्ति; इन दोनों की एक स्वरूपता ख्याति को ही 'अस्मिता' क्लेश कहा जाता है। अत्यंत विभक्त या भिन्न (अतएव) अत्यंत असंकीर्ण भोक्तृ शक्तितथा भोग्यशक्ति जब अविभाग प्राप्त के समान होती हैं (१) उन्ह भोग कहा जाता है, और उन दोनों की स्वरूप ख्याति होने पर कैवल्य ही होता है, भोग फिर कहाँ रहता है। यही कहा भी गया है (पंचशिख आचार्य द्वारा) 'बुद्धि से पर जो पुरुष है उसको स्वीय आकार, शील, विद्या आदि के द्वारा विभक्त या भिन्न न देखकर मोहपूर्वक उसमें (बुद्धि में) आत्मबुद्धि करते हैं' (२)।

टीका—६। (१) भोग्यशक्ति ज्ञानरूप और भोक्तृशक्ति चिद्रूप होती है। अतएव उनका अविभाग है बोधसंबंधी अविभाग। जल और नमक (अर्थात् विषय) जिस प्रकार अविभाग या संकीर्णता या मिश्रण है, द्रष्टा और दर्शन का संयोग उस प्रकार कल्पनीय नहीं है। अपृथक् रूप से पुरुष-संबंधी बोध और दर्शनसंबंधी बोध का उदय ही वह अविभाग होता है। 'सत्त्व और पुरुष का प्रत्ययाविशेष भोग' इस प्रकार का वाक्य प्रयोगकर सूत्रकार

ॐ आधुनिक वैदान्तिक इसे अख्यातिवाद कहते हैं, और अपने को अनिर्वचनीयवादी कहते हैं। वे कहते हैं कि मिथ्याज्ञान न प्रत्यक्ष [अर्थात प्रमाण] है और न स्मृति ही अतः वह अनिर्वचनीय है। फलतः अविद्या प्रमाण और स्मृति न होने के कारण, उसे विपर्य्यय नामक पृथक् वृत्ति कहा जाता है। और, समस्त वृत्ति जैसे परस्पर की सहायता से उत्पन्न होती है, विपर्यय भी वैसे ही प्रमाण तथा स्मृति आदि की सहायता से उत्पन्न होता है। वह अनिर्वचनीय नहीं 'परन्तु अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान है' इस प्रकार के निर्वचन से निर्वचनीय है। इस लक्षण का कोई अपलाप नहीं कर सकता। पहिले ही कहा जा चुका है कि अविद्या आदि विपर्यय के प्रकार भेद हैं। जो सब मिथ्याज्ञान हमें क्लेश देते हैं या दुखी करते हैं, वे ही अविद्या आदि क्लेश हैं। उनके नाश से ही परमार्थ सिद्धि होती है।

कार बुद्धि और पुरुष का संयोग कह चुके हैं। सुख तथा दुःख भोग्य हैं, वे अंतःकरण में ही रहते हैं, अतः अंतःकरण भोग्य शक्ति हैं।

करण में आत्मताख्याति ही अस्मिता है। बुद्धि प्रधान करण है, अतः वह स्वरूपतः अस्मितामात्र है। उसी की परिणाम स्वरूपा समस्त इंद्रिय-समष्टि में जो आत्मताख्याति है वह भी अस्मिता है। 'मैं चक्षु आदि शक्तिमान् हूँ' इस प्रकार अनात्म में आत्म प्रत्यय, अस्मिता का उदाहरण होता है।

अनात्म में आत्मख्याति बहुत प्रकार की हो सकती है। यथा—(१) अव्यक्त में आत्मख्याति, जैसे किसी किसी बौद्ध का 'मैं शून्य हूँ' ऐसा ज्ञान। प्रकृतिलीनों का भी ऐसा ही बोध है। (२) महत् में आत्मख्याति, जैसे आत्मा सर्वव्यापी, आनन्दमय इत्यादि कहना, जो कोई-कोई वेदांतवादी कहते हैं। (३) अहंकार में आत्मख्याति या परिच्छिन्न 'मैं पन' की उपलब्धि, जैसे जैनमत में शरीर में निर्मल ज्ञानरूप आत्मा। इनके सिवाय तन्मात्राभिमानी और स्थूलभूताभिमानी देवताओं को भी किसी-किसी अनात्म विषय में एक प्रकार की आत्मख्याति होती है।

६। (२) पंचशिख आचार्य ने इस वाक्य के 'आकार' आदि शब्दों का अर्थ दूसरे प्रकार से किया है। दार्शनिक परिभाषा की रचना से पूर्ववर्ती वचन होने से इसमें आकारादि शब्द का व्यवहार कर उससे पृथक् संपूर्ण पदार्थ समझा दिये गये हैं। आकार = सदा विशुद्धि। विद्या = चैतन्य या चिद्रूपता। शील = औदासीन्य वा साक्षिस्वरूपता। पुरुष के इन सब लक्षणों का विज्ञान न होने के कारण बुद्धि से उनका पृथक्त्व जान कर मोह या अविद्या वश लोग बुद्धि में ही आत्मबुद्धि करते हैं, अर्थात् बुद्धि या अभिमानयुक्त अहं बुद्धि एवं शुद्धि ज्ञाता पुरुष ये दोनों एक हैं, ऐसा विपर्य्यास करते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥ ७ ॥

७। सुखानुशयी क्लेश वृत्ति राग है ॥ सू०

भाष्यानुवाद—सुखाभिज्ञ जीव का सुखकी अनुस्मृतिपूर्वक सुख में या सुख के साधन में जो गर्द्ध (स्पृहा), तृष्णा तथा लोभ होते हैं, वे ही राग हैं (१)।

टीका—७। (१) सुखानुशयी = सुख के संस्कार से उत्पन्न आशययुक्त। तृष्णा = पानी की प्यास समान सुख के अभाव का अनुभव होना। लोभ = तृष्णाभिभूत होकर विषय प्राप्ति की इच्छा। लोभ से हिताहित ज्ञान प्रायः विपर्यस्त हो जाता है। अनुशयी का अर्थ है जो अनुशयन कर अवस्थित हो अर्थात् संस्काररूप से हो, जो इस प्रकार निर्वर्त्तन युक्त है वही अनुशयी है।

राग होने पर बिना वश के अथवा बिना जाने ही इच्छा, इन्द्रिय तथा विषय की ओर चली आती है। इच्छा को ज्ञानपूर्वक संयत करने की सामर्थ्य नहीं रहती है। अतः राग अज्ञान या विपरीत ज्ञान है। इसी से आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय के साथ बद्ध होती है। अनात्मभूत इन्द्रिय में स्थित, सुख-संस्कार के साथ निर्लिप्त आत्मा की आवद्धता का ज्ञान ही यहाँ विपरीत ज्ञान है। इसके अतिरिक्त बुरे को भला समझना भी राग का स्वभाव है।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः सद्वेष इति ॥ ८ ॥

८—दुःखानुशयी क्लेश वृत्ति द्वेष है। सू

भाष्यानुवाद—दुःखाभिज्ञ प्राणियों के दुःख की अनुस्मृतिपूर्वक दुःख में वा दुःख के साधनों में जो प्रतिघ, मन्यु, जिघांसा तथा क्रोध होते हैं वही द्वेष है (१)।

टीका—८। (१) प्रतिघ=प्रतिघात करने की इच्छा अथवा बाधा-भाव। जो अद्वेष्टा है उसके लिए तभी निर्बाध है, पर द्वेष्टा के लिए सदा बाधाएँ लगी रहती हैं। मन्यु= मानसिक द्वेष, क्षोभ। जिघांसा = हनन करने की इच्छा। राग के समान द्वेष से निर्लिप्त आत्म के साथ अनात्मभूत दुःख-संस्कार का संगज्ञान और अकर्त्ता आत्मा में कर्तृत्व बोध होते हैं अतएव यह भी विपर्यय है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, 'मान भूवं भूयासम्' इति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः, एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य, प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेदृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। यथा चायमत्यन्तमूढेष दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः कस्मात्, समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

९—अविद्वान् की भाँति विद्वान् की भी जो सहजात प्रसिद्ध क्लेश होता है वह अभिनिवेश (१) है।

भाष्यानुवाद—नित्य ही सभी प्राणियों की यह आत्माभिलाषा रहती है कि "मेरा

अभाव न हो; मैं जीवित रहूँ।" पहिले जिसने मरणत्रास का अनुभव नहीं किया,वह इस प्रकार का आत्माशीः नहीं कर सकता। इसी से पूर्वजन्म का अनुभव प्रतीत होता है। यह अभिनिवेश क्लेश स्वरसवाही है। यह जातमात्र कृमि के भी देखा जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम द्वारा असंपादित उच्छेदज्ञान स्वरूप मरणत्रास से पूर्वजन्मानुभूत मरणदुःख का अनुमान होता है (२)। जिस प्रकार अत्यंत मूढ़ में यह क्लेश देखा जाता है, उसी प्रकार विद्वान् में अर्थात् पूर्वापर कोटि के ('कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा') इसका ज्ञानी व्यक्ति में यही देखा जाता है, क्योंकि (संप्रज्ञानहीन) कुशल और अकुशल इन दोनों को ही मरणदुःखानुभव के कारण यह वासना समान-भाव से रहती है।

टीका—९ (१) स्वरसवाही = सहज या स्वाभाविक के समान जो संचितसंस्कार से उत्पन्न होता है और स्वाभाविक के समान क्रियाशील रहता है। तथारूढ़ = अकुशल या अविद्वान् और कुशल या श्रुतानुमानज्ञानसंपन्न विद्वान् दोनों को जो प्रभावित करता है वह प्रसिद्ध (रूढ़) क्लेश है।

राग सुखानुशयी, द्वेष दुःखानुशयी, और अभिनिवेश सुख-दुःख-विवेकहीन या मूढ़भाव के अनुशयी होते हैं। शरीर-इन्द्रिय की सहज क्रिया से उस प्रकार का मूढ़भाव होता है। उसी से शरीरादियों में अहमनुवंध सदा जागृत रहता है, उस अभिनिविष्ट भाव की हानि होने पर या घटने का उपक्रम होने पर जो भय होता है, यही अभिनिवेश क्लेश होता है। भय के रूप में वह क्लेश देता है।

वास्तविक 'मैं' अमर होने पर भी उसकी मृत्यु या नाश हो जायगा यह अज्ञानमूलक मरणभय ही प्रधान अभिनिवेश-क्लेश है। उससे किस प्रकार पूर्वजन्म का अनुमान होता है यह भाष्यकार ने बताया है। अन्यान्य भय भी अभिनिवेश क्लेश होते हैं। यह अभिनिवेश एक क्लेश है या परमार्थ-साधन सम्बन्धी क्षेतव्य भावविशेष है। अन्य प्रकार के अभिनिवेश पदार्थ भी हैं।

९—(२) कोई विषय पहले अनुभूत होने पर भी बाद म उसकी स्मृति हो सकती है। अनुभव होने पर वही विषय चित्त में अहित रहता है, उसका पुनः बोध ही स्मृति होती है। मरणभय आदि की स्मृति देखी जाती है। इह जन्म में मरणभय अनुभूत नहीं हुआ है। अतः वह पूर्वजन्म में अनुभूत हुआ है, ऐसा कहना चाहिये। इस प्रकार अभिनिवेश से पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

शंका हो सकती हो, 'मरणभय स्वाभाविक है; अतः इसमें पूर्व-अनुभव का प्रयोजन नहीं है'। मरणस्मृति को स्वाभाविक कहा जाय, तो सभी स्मृतियों को ही स्वाभाविक कहना चाहिये। परन्तु स्मृति स्वाभाविक नहीं होती वह निमित्त से उत्पन्न होती है। पूर्व-अनूभव ही उसका निमित्त है। जब बहुशः स्मृति को निमित्तजात देखा जाता है, तब उसके एक अंश को (मरणभय आदि को) स्वाभाविक कहना संगत नहीं है। स्वाभाविक वस्तु कभी निमित्त से उत्पन्न नहीं होती है, और स्वाभाविकधर्म वस्तु को कभी छोड़ता भी नहीं। मरण-भय ज्ञानाभ्यास-द्वारा निवृत्त होता है, यह देखा जाता है। इसलिये अज्ञानाभ्यास (पुनः पुनः अज्ञानपूर्वक मरणदुःख का अनुभव) उसका हेतु है। इस प्रकार से मरणभयादि से पूर्वानुभव अतः पूर्वजन्म सिद्ध होता है। पुनः शंका हो सकती है 'मरणभय एक प्रकार की स्मृति है इसमें प्रमाण क्या है?' इसका उत्तर यह है—आगंतुक विषय के साथ संयोग न होने से

जिस आभ्यंतरिक विषय का बोध होता है वही स्मृति कही जाती है। स्मृति उपलक्षण आदि द्वारा आती है। मरणभय भी उपलक्षण के द्वारा अभ्यंतर से उठता है, इसी से वह एक प्रकार की स्मृति है।

वस्तुत: मन किस समय से हुआ है उसका युक्तिपूर्वक विचार करने पर उसका आदि नहीं मिलता है। जैसे असत् का उद्भव-दोष होने के कारण लोग 'मैटर' को अनादि कहते हैं, मन भी ठीक उसी कारण अनादि है। जिस प्रकार 'मैटर' का अनादि धर्म-परिणाम स्वीकार करना पड़ता है, उसी प्रकार अनादि मन का भी अनादि धर्म-परिणाम स्वीकार करना पड़ता है।

जन्म के साथ मन उद्भूत हुआ है, इस प्रकार कहने का हेतु कोई नहीं दिखा सकता है। सचमुच ऐसा कहना संपूर्णतया असंगत है। जो लोग यह कहते हैं कि, मरणभय आदि सहजवृत्ति (Instinct) अर्थात् अशिक्षित क्रियाक्षमता (untaught ability) है, वे केवल इस जन्म की बात करते हैं, किन्तु सहजवृत्ति (Instinct) क्यों होती है इसका कुछ भी उत्तर नहीं दे सकते।

Instinct कैसे हुई, उसके दो उत्तर हैं। पहला उत्तर है 'वह ईश्वर-कृत है,' दूसरा उत्तर (या निरुत्तर) है कि वह अज्ञेय है। मन जो ईश्वर-कृत है इसमें अणुमात्र भी प्रमाण नहीं। यह किसी किसी संप्रदायका अंधविश्वासमात्र है। समस्त आर्षदर्शन के मत में मन ईश्वर-कृत नहीं पर अनादि है।

जो मन के कारण को अज्ञेय कहते हैं, वे यदि कहें 'हम उसे नहीं जानते', तो कोई बात नहीं है। और यदि कहें 'इसके जानने का मनुष्यों के पास उपाय नहीं है' तो मन सादि अथवा अनादि इन दोनों से कोई एक होगा, ऐसा कहना होगा।

मन के कारण को संपूर्णतया अज्ञेय कहने से मन को प्रकारान्तर से निष्कारण कहा जाता है, क्योंकि हमारे द्वारा जो संपूर्णतया अज्ञेय है, वह हमारे पास नहीं है। मन के कारण को संपूर्णतया अज्ञेय कहने का अर्थ यह हुआ कि 'मन का कारण नहीं है'। जिसका कारण नहीं है वह अनादि होता है। पूर्ववर्त्ती कारण से कोई वस्तु पैदा हो तो साधारणत: उसे सादि कहा जाता है। अत: निष्कारण वस्तु अनादि होती है। अज्ञेय कहने का वास्तविक तात्पर्य यह है कि वह है किन्तु विशेषरूप से ज्ञेय नहीं है।

यह कहा जा चुका हैं कि चित्त वृत्तिधर्मक है। वृत्तियाँ उदित और लीन होती रहती हैं। वृत्तिसमूह के मूल उपादान त्रिगुण हैं। संमिश्रित त्रिगुणों का एक एक प्रकार का परिणाम ही वृत्ति होती है। त्रिगुण निष्कारणता के कारण अनादि है, अत: उनके परिणामभूत वृत्तिप्रवाह भी अनादि होते हैं। मन कब और कहाँ से उत्पन्न हुआ है इस प्रश्न का यह उत्तर ही सब से अधिक तर्कसंगत है। ४। १० (१) देखिए।

ते प्रतिप्रसवहेया: सूक्ष्मा: ॥ १० ॥

भाष्यम्—ते पञ्चक्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सहते-नैवास्तं गच्छंति ॥ १० ॥

१० । सूक्ष्म क्लेश समूह प्रतिप्रसव (१) या चित्तलय के द्वारा हेय या त्याज्य हैं ।

भाष्यानुवाद—योगी के चरिताधिकार चित्त के प्रलीन होने पर दग्धबीज जैसे ये पाँचों क्लेश भी उसी के साथ विलीन हो जाते हैं ।

टीका—१० । (१) प्रतिप्रसव = प्रसव का विरोधी ; अर्थात् प्रतिलोभ परिणाम या प्रलय । सूक्ष्म क्लेश अर्थात् जो प्रसंख्यान नामक प्रज्ञा द्वारा दग्धबीज जैसे हो चुके हैं । शरीरेन्द्रिय में जो अहन्ता है, वह शरीरेन्द्रिय से अतीत पदार्थ का साक्षात्कार कर प्रकृष्टरूप से अपगत हो सकती है । ऐसे साक्षात्कार से 'मैं शरीरेन्द्रिय नहीं हूँ' ऐसी प्रज्ञा होती है । अतः शरीरेन्द्रिय के विकृत होने पर भी योगी का चित्त विकृत नहीं होता है । वही प्रज्ञासंस्कार जब एकाग्रभूमिक चित्त में सदा उदित रहता है, तब उसे अस्मिता का विरोधी प्रसंख्यान कहा जाता है । उसके सदा उदित रहने के कारण अस्मिता की कोई भी वृत्ति नहीं उठ सकती । अतः उस समय अस्मिता-क्लेश दग्धबीज की भाँति अंकुरित होने में असमर्थ होता है । अर्थात् उस समय शरीरेन्द्रिय में अस्मि-भाव तथा तज्जन्य चित्तविकार स्वतः नहीं हो सकते । इस प्रकार की दग्धबीज सी अवस्था ही अस्मिताक्लेश की सूक्ष्म अवस्था है ।

वैराग्य-भावना की प्रतिष्ठा से चित्त में विराग-प्रज्ञा होती है और उसके द्वारा राग दग्धबीज-सा सूक्ष्म हो जाता है । उसी प्रकार अद्वेष-भावना की प्रतिष्ठामूलक प्रज्ञा से द्वेष और देहात्मभाव की निवृत्ति से अभिनिवेश सूक्ष्मीभूत होते हैं ।

ऐसे संप्रज्ञात संस्कार के द्वारा (१ । ५० सूत्र द्रष्टव्य) समस्त क्लेश सूक्ष्म हो जाते हैं । सूक्ष्म हो जाने से ही वे व्यक्त होते हैं, क्योंकि 'मैं शरीर हूँ' ऐसा प्रत्यय जैसे चित्त की व्यक्त अवस्था होती है वैसे ही 'मैं शरीर नहीं हूँ' (अर्थात् 'पुरुष—अहंभाव का द्रष्टा' इस प्रकार का पौरुष प्रत्यय) ऐसा प्रत्यय भी व्यक्त अवस्थानविशेष है । दग्धबीज के साथ और भी सादृश्य है । दग्ध (भूने हुए) बीज जिस प्रकार बीज जैसे ही रहते हैं पर वे अंकुरित नहीं होते, क्लेश भी उसी प्रकार सूक्ष्म अवस्था में रह जाते परन्तु और क्लेश-वृत्ति या क्लेश-सन्तति पैदा नहीं करते, अर्थात् क्लेश-मूलक प्रत्यय उस समय नहीं होता, विद्या प्रत्यय ही होता है । विद्या-प्रत्यय के मूल में भी सूक्ष्म अस्मिता रहती है, अतः वह क्लेश की सूक्ष्म अवस्था होती है ।

इस प्रकार से सूक्ष्मीभूत क्लेश चित्तलय के साथ ही विलीन होता है, पर वैराग्य पूर्वक चित्त जब अपने कारण में प्रलीन होता है तब सूक्ष्म क्लेश भी उसी के साथ अव्यक्तता पाते हैं । प्रलय या विलय का अर्थ है पुनरुत्पत्ति-हीन-लय ।

साधारण अवस्था में क्लिष्ट वृत्तियाँ उदित होती रहती हैं और उनके द्वारा जाति, आयु तथा भोग (शरीर आदि) घटते रहते हैं । क्रियायोग द्वारा वे (क्लेशगण) क्षीण होते हैं । संप्रज्ञात-योग में शरीरादि के सहित संबंध रहता है, किन्तु वह 'मैं शरीरादि नहीं हूँ' इत्यादि प्रकार का प्रकृष्ट प्रज्ञा-मूलक संबंध है । यह संबंध ही क्लेश की सूक्षावस्था है (इससे जाति-आयु-भोग की निवृत्ति होती है, यह कहना बात बढ़ाना है) । असंप्रज्ञात योग

म शरीरादि के सहित वह सूक्ष्म संबंध भी निवृत्त हो जाता है, अर्थात् प्रकृतियों में विकृतियों का लयरूप प्रतिप्रसव में होता है और उसमें क्लेशों का सम्यक् प्रहाण होता है ।

भाष्यम्—स्थितानान्तु बीजभावोपगतनाम्—

ध्यानहेयास्तद्‌वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्याः, यावत् सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति । यथा च वस्त्राणां स्थूलोमलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात् सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद—बीज भाव से अवस्थित क्लेशों की तो—

११। वृत्ति या स्थूल अवस्था ध्यान द्वारा हेय है ।

क्लेशों की (१) जो स्थूल वृत्ति है वह क्रियायोग से क्षीण होने पर भी प्रसंख्यान ध्यान से हातव्य होती है जब तक कि सूक्ष्म, दग्धबीज की भाँति नहीं होती । जैसे वस्त्रों का स्थूल मल पहले ही धुल जाता है और सूक्ष्म मल यत्न तथा उपाय से दूर होता है वैसे ही स्थूल क्लेशवृत्तियाँ स्वल्पप्रतिपक्ष और सूक्ष्मक्लेश महाप्रतिपक्ष होते हैं ।

टीका—११ (१) क्लेश की स्थूल वृत्ति = क्लिष्ट प्रमाणादि वृत्ति ।

ध्यानहेय = प्रसंख्यान या विवेकरूप ध्यान से उत्पन्न प्रज्ञा के द्वारा त्याज्य । क्लेश अज्ञान है, अतः वह ज्ञान द्वारा हेय या त्याज्य है । प्रसंख्यान ही ज्ञान का उत्कर्ष है, अतः प्रसंख्यान रूप ध्यान से ही क्लिष्ट वृत्ति त्याज्य होती है । किस प्रकार से प्रसंख्यान के द्वारा क्लिष्ट वृत्ति दग्ध वीज के समान हो जाती है यह ऊपर कहा गया है । क्रियायोग के द्वारा तनूभाव, प्रसंख्यान के द्वारा दग्ध-बीज-भाव तथा चित्तप्रलय के द्वारा सम्यक प्रणाश, क्लेश-हानि के ये तीन क्रम हैं ।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—तत्र पुण्यापुण्य कर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रसवः । स दृष्टजन्मवेदनीय-

श्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च । तत्र तीव्रसंवेगेन मंत्रतपः समाधिभिर्निर्वर्त्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानु भावनामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति । तथा तीव्रक्लेशेन भीत-व्याधित-कृपणेषु विश्वासोपणतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एवं परिपच्यते। तथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः, तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकंम्परिणामं हित्वा तिर्य्यक्त्वेन परिणत इति । तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः क्षीणक्लेशानामपि नास्ति अदृष्ट-जन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥ १२ ॥

१२ । क्लेशमूलक कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय (१) (दो प्रकार के हैं) ।

भाष्यानुवाद—उनमें पुण्य और अपुण्यात्मक कर्माशय काम, लोभ, मोह और क्रोध से प्रसूत होते हैं । ये द्विविध कर्माशय (फिर) दृष्टजन्म वेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय हैं । तीव्र वैराग्य के साथ आचरित मंत्र, तप और समाधि इन सब के द्वारा निष्पादित अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि तथा महानुभाव इनकी आराधना से परिनिष्पन्न जो पुण्य कर्माशय हैं शीघ्र ही विपाक प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् फल प्रसव करते हैं । वैसे ही तीव्र अविद्या आदि क्लेशपूर्वक भीत, व्याधित, कृपार्द (दीन), शरणागत वा महानुभाव वा तपस्वी व्यक्तियों के प्रति बार बार अपकार करने से जो पाप कर्माशय होते हैं वे भी शीघ्र ही विपाक प्राप्त कर लेते हैं । जैसे कि बालक नन्दीश्वर मनुष्यपरिणाम छोड़कर देवत्व में परिणत हुए एवं सुरेन्द्र नहुष अपने दैव परिणाम को त्यागकर तिर्य्यक्त्व में परिणत हुए थे । उनमें नारकों को दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता तथा क्षीणक्लेश वाले पुरुषों को (जीवन्मुक्तों का) अदृष्टजन्म-वेदनीय कर्माशय नहीं होता (२) ।

टीका १२—(१) कर्माशय—कर्मसंस्कार । धर्म और अधर्मरूप कर्मसंस्कार ही कर्माशय होता है चित्त में कोई भाव होने से उसके अनुरूप जो स्थितिभाव (अर्थात् छाप लगा रहना) हो जाता है उसका नाम संस्कार है । संस्कार सबीज तथा निर्वीज दो प्रकार के हो सकते हैं । सबीज संस्कार भी द्विविध है, क्लिष्ट वृत्तिज और अक्लिष्ट वृत्तिज । अर्थात् अज्ञानमूलक संस्कार और प्रज्ञामूलक संस्कार । क्लेशमूलक सबीज संस्कारों का नाम कर्माशय होता है । शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण भेद से कर्माशय तीन प्रकार के होते हैं । अथवा धर्म और अधर्म, या शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार के हैं । प्रज्ञामूलक संस्कार का नाम अशुक्लाकृष्ण है ।

कर्माशय का जाति, आयु तथा भोगरूप त्रिविध विपाक वा फल होता है । अर्थात् जिस संस्कार का उस प्रकार का विपाक होता है, वही कर्माशय है । विपाक होने पर उसका जो अनुभवमूलक संस्कार होता है उसका नाम है वासना । वासना का विपाक नहीं होता, किन्तु किसी कर्माशय के विपाक के लिए यथायोग्य वासना रहनी चाहिये । कर्माशय बीज-स्वरूप, वासना क्षेत्रस्वरूप, जाति वृक्षस्वरूप और सुख-दुःख फलस्वरूप होते हैं । पाठकों की सुगमता के लिए संस्कार, वंशवृक्ष के क्रम से दिखाया जाता है ।
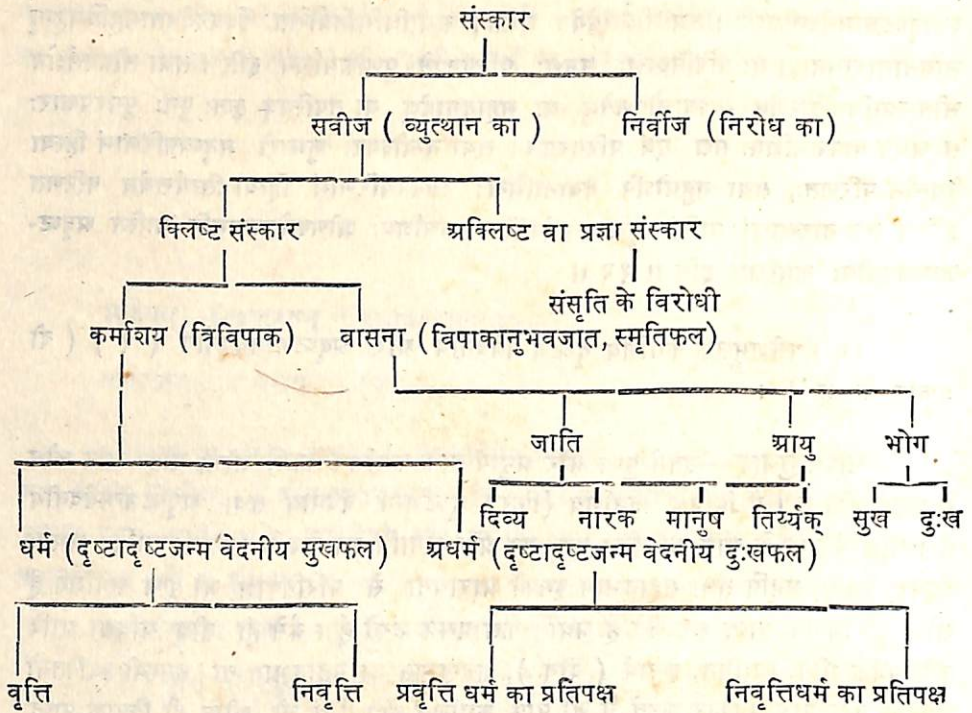
संस्कार का नाश

१—निवृत्ति धर्म-द्वारा प्रवृत्तिधर्म क्षीण होता है।

२—उससे मर्माशय क्षीण होता है अतः वासना प्रयोजनशून्य होती है।

३—उससे क्लिष्ट संस्कार क्षीण होता है; यही तनुत्व है।

४—प्रज्ञासंस्कार द्वारा क्लिष्टसंस्कार सूक्ष्मीभूत (दग्धबीजवत्) होता है।

५—सूक्ष्म क्लिष्टसंस्कार (सबीज), निर्बीज या निरोध-संस्कार द्वारा नष्ट होता है।

१२—(३) अविद्यादि क्लेशपूर्वक आचरित जो कर्म हैं उनके संस्कार अर्थात् क्लिष्ट कर्माशय दृष्टजन्म-वेदनीय होते हैं या इस जन्म में फलवान् होते हैं ; अथवा अदृष्ट जन्मवेदनीय होते हैं या किसी भावी जन्म में विपाक पाते हैं। संस्कार की तीव्रता के अनुसार फलका समय निकट होता है। भाष्यकार ने उदाहरण के साथ यह समझा दिया है।

नारकगण स्वकृत कर्म का फल भोगते हैं। नारक जन्म में भोगक्षय के बाद उनके भिन्न परिणाम होते हैं। इस जन्म में मनःप्रधान एवं प्रबल दुःख से क्लिष्ट रहने के कारण उनको स्वाधीन कर्म करने की सामर्थ्य नहीं रहती। अतः उनके द्वारा दृष्टजन्म वेदनीय पुरुष-कार होने की संभावना नहीं। परंतु रुद्धेन्द्रिय और मन की अग्नि से ही जलते रहने के कारण इस प्रकार अन्य अदृष्टाधीन सेन्द्रिय कर्म कर नहीं सकते जिसका फल उस नारक जन्म में विपक्व होजाय। इसीलिए उनके नारक शरीर को भोगशरीर कहा जाता है।

मनः प्रधान, सुख से अभिभूत देवताओं को भी दृष्टजन्मवेदनीय पुरुषकार प्रायः नहीं रहता। किन्तु, बात यह है कि देवताओं की इन्द्रियशक्ति सात्विक भाव में विकसित हुई है; अतः उनके द्वारा ऐसा अदृष्टाधीन सेन्द्रिय कर्म हो सकता है जिसका सुखादि विपाक दृष्टजन्म में ही हो जाता है। किन्तु, समाधि-सिद्ध देवगण का चित्त अपने अधीन होने के कारण दृष्टजन्म-वेदनीय कर्म रहता है; उसके द्वारा वे उन्नत होते हैं। जो योगी सास्मितादि समाधि आयत्त करके उपरत होते हैं वे ब्रह्मलोक में अवस्थान कर अपने देव शरीर से निष्पन्न ज्ञानद्वारा कैवल्य पाते हैं। अतः उनका दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय हो सकता है। दैव शरीर में ऐसा भेद रहने के कारण भाष्यकार ने नारक के साथ उसे दृष्टजन्म-वदनीयत्वहीन मान कर उसका उल्लेख नहीं किया है।

मिश्रजी यह अर्थ बताते हैं कि नारक या नरक भोग के उपयुक्त कमशिय का मनुष्य-जीवन में भोग नहीं होता। दैव में भी तो ऐसा नहीं होता। अतएव भाष्यकार को ऐसा नहीं कहना है। भिक्षु जी ने ही ठीक व्याख्या की है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

भाष्यम्। सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोह समर्था भवन्ति नापनीत तुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशविनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीत क्लेशो न प्रसंख्यानदग्ध-क्लेशबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति।

तत्रेदं विचार्य्यते किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्, अथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति। द्वितीया विचारणा किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्त्तयति, अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्त्तयतीति। न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणं कस्मात्, अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टकर्मणः साम्प्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः स सचानिष्ट इति। न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणं कस्मात्, अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणं कस्मात्, तदनेकं जन्म युगपन्न सम्भवतीति क्रमेण वाच्यम्? तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः। तस्माज्जन्म-प्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्य कर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जन-भावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एक प्रघट्टकेन मिलित्वामरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति, तच्च जन्म ते नैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति, तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा आयुर्भोगहेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वा इति। क्लेशकर्म विपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकाल-सम्मूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभव-

पूर्विका वासनाः । यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति । य संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति ।

यस्त्वसावेकभविकः कर्माशय सः नियतविपाकश्चानियत विपाकश्च । तत्र दृष्टजन्म वेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य कस्मात्, यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः कृतस्या विपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाक प्रधान कर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति । तत्र कृतस्याऽविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य, यत्रेदमुक्तम् 'द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यै कोराशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति । तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्त्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते' ।

प्रधानकर्मण्यावापगमनं, यत्रदमुक्तम् 'स्यात्स्वल्पस्संकरः सपरिहारस्सप्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालं कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापङ्गतस्स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति' इति ।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्, कथमित, अदृष्टजन्मवदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तं, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य, यत्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीत । तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिर्विचित्रा दुर्विज्ञाना चेति, न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरिति एकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ।। १३ ।।

१३ । क्लेश मूल में रहने से कर्माशय के तीन प्रकार विपाक होते हैं—(१) जाति, आयु तथा भोग ।

भाष्यानुवाद—सब क्लेश मूल म रहने से कर्माशय फलारम्भी होता है । क्लेशमूल उच्छिन्न होने पर ऐसा नहीं होता । तुषबद्ध, अदग्ध-बीज-भाव शालि तंडुल में अंकुरित होने की जैसी सामर्थ्य रहती है, तुषरहित, दग्ध-बीज-भाव तंडुल में वैसी नहीं रहती । इसी प्रकार ही क्लेशयुक्त कर्माशय विपाकप्ररोहयुक्त होता है, परन्तु क्लेश-रहित या प्रसंख्यान से दग्ध-बीजभाव, होने से नहीं । ऐसे कर्माशय का विपाक त्रिविध है—जाति, आयु तथा भोग ।

इस विषय में (२) यह विचार्य है—क्या एक कर्म केवल एक ही जन्म का कारण होता है या एक ही कर्म अनेक जन्म-संपादन भी करता है ? इसपर दूसरा विचार है—क्या अनेक कर्म एक साथ अनेक जन्म निष्पादन करते हैं अथवा अनेक कर्म एक ही जन्म निष्पादन करते हैं ? एक कर्म कभी एक जन्म का कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनादि काल से संचित, असंख्य अवशिष्ट कर्म और वर्त्तमान कर्म के जो फल हैं उनके क्रम का अनियम होने के कारण लोगों को कर्माचरण में कुछ आश्वासन नहीं रहता । अतः यह असम्मत है और, एक कर्म अनेक जन्मों का कारण भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनक कर्मों में से एक एक कर्म ही यदि अनेक जन्म निष्पादक हो जाय, तो अवशिष्ट कर्मों के फल घटन का समय नहीं रहेगा । अतः यह भी संगत नहीं है । अनेक कर्म, अनेक जन्मों के भी कारण नहीं होते, क्योंकि वे अनेक जन्म तो एक वार में नहीं होते हैं । यदि कहो कि क्रम से होते हैं, तो भी पूर्वोक्त दोष आता है । इस कारण जन्म और मृत्यु के व्यवहित काल में विहित, विचित्र, प्रधान तथा उपसर्जन में स्थित, पुण्यापुण्य कर्माशय-समूह मृत्यु-द्वारा अभिव्यक्त होते हैं ।

और एक साथ, एक ही प्रयत्न से सम्मिलित और मरण साधनपूर्वक सम्मूर्छित होकर एक ही जन्म निष्पन्न करते हैं। यह जन्म उस संचित कर्माशय से आयु पाता है एवं उसी आयु में उस कर्माशय-द्वारा भोग-संपन्न होता है। उस कर्माशय का जन्म, आयु तथा भोग का हेतु होने के कारण त्रिविपाक नाम है। इसी कारण कर्माशय को (पूर्वाचार्यों-द्वारा) 'एकभविक' नाम दिया गया है।

दृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्माशय केवल भोग का हेतु होने से एक विपाकारंभी, और आयु तथा भोग का हेतु होने से द्विविपाकारंभी होता है—नन्दीश्वर या नहुष की भाँति (द्विविपाक और एक विपाक)। क्लेश और कर्मविपाक के अनुभव से उत्पन्न वासना-द्वारा अनादि काल से परिपुष्ट यह चित्त, चित्रीकृत पट के समान या सर्वत्र ग्रंथियुक्त मत्स्यग्राही जाल के समान है। अतएव वासना अनेक जन्मपूर्विका होती है। उक्त कर्माशय एकभविक है। जो संस्कार स्मृति उत्पादन करते हैं वे ही वासनाएँ हैं और वे अनादिकालीन हैं।'

यह एकभविक कर्माशय नियतविपाक और अनियतविपाक है। उनमें दृष्ट-जन्म-वेदनीय नियत-विपाक कर्माशय में ही एकभविकत्व नियम संपूर्णतया लागू होता है किन्तु, अनियत विपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में एकभविकत्व नियम संपूर्णतया नहीं घटता। कारण—अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय की तीन गतियाँ होती हैं; प्रथम, कृत अविपक्व कर्माशय का (प्रायश्चित्त आदि-द्वारा) नाश; द्वितीय, (अनियतविपाक) प्रधान कर्माशय के साथ विपाक प्राप्त कर उसके प्रबल फल-द्वारा क्षीण हो जाना; तृतीय, नियत-विपाक प्रधान कर्माशय-द्वारा अभिभूत होकर चिरकाल तक सुप्त रहना। उनमें अविपक्व-कृत कर्माशय का नाश इस प्रकार होता है—जैसे शुक्ल कर्म का उदय होने पर इसी जन्म में कृष्ण कर्म का नाश देखा जाता है। इस विषय में यह कहा गया है कि —'कर्म दो प्रकार के होते हैं। उनमें पाप-कर्म-राशि को पुण्य-कर्म-राशि नष्ट कर देती है। इसलिए सत्कर्म करने की इच्छा करो। वह सत्कर्म इसी लोक में आचरित होता है, कवियों (प्राज्ञों) ने तुम्हारे लिये यह प्रतिपादित किया है'' ॐ।

(अनियत-विपाक) प्रधान कर्माशय के साथ (सहकारिभाव से अप्रधान कर्माशय के) आवापगमन (या फलीभूत होना) के विषय में (पंचशिखाचार्य ने) यह कहा है— वह "(यज्ञादि से प्रधान पुण्य-कर्माशय पैदा होता है, किन्तु उसके साथ पाप-कर्माशय भी जन्म लेता है। प्रधान पुण्य में वही पाप) स्वल्प, संकर (अर्थात् पुण्य के साथ मिश्रित), सुपरिहार (अर्थात् प्रायश्चित्त आदिद्वारा परिहार्य), सप्रत्यवमर्ष (अर्थात् प्रायश्चित्त आदि न करने से बहुत सुख में भी वह कर्मजनित दुःख स्पर्श करता है, जैसे प्राणी अत्यन्त सुख के साथ निराहार करने से भी उसके दुःख से पीड़ित होता है,) हो तो भी कुशल या पुण्य कर्माशय को क्षीण करने में असमर्थ होता है, क्योंकि मेरे बहुत अन्य कुशल कर्म हैं जिनमें यह (पाप कर्माशय) आवाप प्राप्त कर स्वर्ग में भी स्वल्प ही दुःख देगा।"

नियत विपाक का प्रधान कर्माशय के साथ अभिभूत होकर दीर्घकाल तक सुप्त

ॐ यह भिक्षुसम्मत व्याख्या है। मिश्र के मत में इस श्रुति का अर्थ यह है—दो प्रकार की पाप-कर्मराशि है—कृष्ण और कृष्णशुक्ल। इन दोनों कर्मराशियों को पुण्य-कर्म-राशि नष्ट कर देती है। यह पुण्य कर्म इसी लोक में आचरित होता है। कविगण ने तुम्हारे लिये इसकी व्यवस्था भी की है।

रहना (तीसरी गति) कैसा है, यही कहा जा रहा है। अदृष्टजन्मवेदनीय नियत विपाक कर्माशय को ही मृत्यु के समान (साधारण, अर्थात् बहुत से इस प्रकार कर्मों का एक मात्र अभिव्यक्ति-कारण मृत्यु है ; मृत्यु-द्वारा सब कर्माशय व्यक्त होते हैं) अभिव्यक्ति-कारण कहा गया है । किन्तु, यह नियम लागू (संपूर्णतया संघटित) नहीं होता है, क्योंकि मृत्यु ही अदृष्ट जन्म वेदनीय अनियत विपाक कर्म की सम्यक् अभिव्यक्ति का कारण नहीं है । जो अदृष्टजन्म वेदनीय अनियत विपाक कर्म है, वह नष्ट होता है, आवाप प्राप्त करता है अथवा दीर्घकाल तक सुप्त रहकर भी बीजभाव से स्थित रहता है जब तक कि उसी के समान उस के अभिव्यंजन-हेतु कर्म उसे विपाकाभिमुख नहीं करते । उस विपाक के देश, काल तथा गति का अवधारण न होने के कारण कर्मगति विचित्र और दुर्विज्ञेय होती है । (उक्त स्थलपर) अपवाद होने के कारण (एकभविकत्व) उत्सर्ग की निवृत्ति नहीं होती । अतः 'कर्माशय एकभविक है' यही अनुज्ञात हुआ है ।

टीका—१३ । (१) अविद्यादि अज्ञान वृत्तियाँ ही साधारण व्युत्थान-अवस्थाएँ हैं । ज्ञान-द्वारा उस सब अज्ञान का नाश होने पर देहेन्द्रियादि से अभिमान सम्यक् हट जाता है, सुतरां, चित्त भी निरुद्ध होता है । **सम्यक् चित्तनिरोध** होने से जन्म, आयु तथा सुखदुःख का भोग नहीं हो सकता है क्योंकि वे विक्षेप के अविनाभावी होते हैं । अतः क्लेश मूल में रहने से अर्थात् कर्म क्लेशपूर्वक कृत होने से तथा उसके अनुरूप क्लिष्ट-कर्म संस्कार-संचित रहने से, और वह संस्कार उसके विपरीत विद्याद्वारा नष्ट न होने से—जन्म, आयु तथा भोगरूप कर्मफल का प्रादुर्भाव होता है । जाति = मनुष्य, गो आदि देह । आयु = उस देह का स्थितिकाल । भोग = इस जन्म में जो सुख-दुःख-लाभ होता है । इन तीनों का कारण कर्माशय है । कोई घटना निष्कारण नहीं घटती । आयुष्कर या उसके विपरीत कर्म करने से इस जीवन में ही आयुष्काल बढ़ा या घटा हुआ देखा जाता है । इसी जन्म के कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख भोग होना भी देखा जाता है । अनेक मनुष्य-शिशु वन्य पशुओं-द्वारा अपहृत तथा प्रतिपालित होकर प्रायः पशुरूप में परिणत हो गये हैं, ऐसे बहुत से उदाहरण हैं अर्थात् दृष्टकर्म के फलसे, जैसे वृक का दूध पीना, अनुकरण करना इत्यादि के फल से मनुष्यत्व से बहुत कुछ पशुत्व में परिणत होना देखा जाता है ।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि इस जन्म के कर्मों के संस्कार संचित होकर दृष्टजन्मवेदनीय शरीरिक प्रकृति के परिवर्त्तन, आयु और भोगरूप फल देते हैं । अतएव कर्म ही जाति, आयु और भोग का कारण होता है ।

अतः जो जाति, आयु तथा भोग इस जन्म के कर्म फल-रूप नहीं है, उनका कारण प्राग्भवीय अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म होगा ।

जाति, आयु तथा भोग का कारण क्या है ? अभी तक मनुष्य ने इसके तीन उत्तर आविष्कृत किए हैं । प्रथम ईश्वर का कर्त्तृत्व इसका कारण है । द्वितीय, इसका कारण अज्ञेय है अर्थात् मनुष्य के पास इन्हें जानने का उपाय नहीं है । तृतीय कर्म ही इनका कारण हैं ।

'ईश्वर इसका कारण है इसका कोई प्रमाण नहीं है । ऐसे ईश्वरवादी इसे अंधविश्वास का विषय मानते हैं, युक्ति का विषय नहीं । उनके मत में ईश्वर अज्ञेय हैं फलतः जन्मादि का कारण भी अज्ञेय है । अज्ञेयवादी उस विषय को यदि "हमारे पास अज्ञात है" इस

प्रकार कहें तो युक्तियुक्त बात होगी; पर वे यदि 'मनुष्मात्र से अज्ञय है' ऐसा कहते हैं तो उसका प्रणाम नहीं देकसते। कर्मवाद ही उन दोनों वादों की अपेक्षा संगत प्रतीत होता है।

१३। (२) कर्म-तत्त्व-विषयक कई साधारण नियम भाष्यकार ने व्याख्या-द्वारा समझाये है। उन नियमों को समझने से भाष्य सुगम होगा।

क। एक कर्माशय अनेक जन्मों का कारण नहीं होता है। क्योंकि, यदि वैसा हो तो कर्मफल को अवकाश नहीं रहता। प्रति जन्म में अनेक कर्माशय संचित होते हैं, वैसा होने से उनके फल को समय नहीं मिलेगा। अतः, एक पशु का वध करने से हजारों जन्म तक पशु होना पड़ेगा—इत्यदि नियम यथार्थ नहीं है।

ख। इसी प्रकार 'एक कर्म एक ही जन्म को निष्पन्न करता है' यह नियम भी यथार्थ नहीं है।

ग। अनेक कर्म भी एक साथ अनेक जन्मों का निष्पादन नहीं करते, क्योंकि एक साथ अनेक जन्म असंभव हैं।

घ। अनेक कर्माशय एक ही जन्म घटाते हैं यही नियम यथार्थ है। वास्तव म यही देखा भी जाता है कि एक जन्म में अनेक कर्मों के अनेक प्रकार के फल-भोग होते है ; अतः अनेक कर्म एक ही जन्म के कारण हैं।

ङ। जिन कर्माशयों से एक जन्म होता है, वही जन्म उनसे आयु पाता है। और आयुष्काल में उन्हीं से सुख-दुःख का भोग होता है।

च। कर्माशय एकभविक है; अर्थात् प्रधानतः एक जन्म में संचित होता है। मानलो कि, क=पूर्वजन्म, और ख = तत्परवर्त्ती जन्म है। ख-जन्म के कारण जो सब कर्माशय हैं वे प्रधानतः क-जन्म में संचित होते हैं। अतः एक कर्माशय 'एक भविक' है। एक भव या जन्म = एकभव ; एक भव में निष्पन्न = एक भविक ; यह साधारण नियम होता है। इसका अपवाद आगे कहा जायगा। एक जन्म से अवच्छिन्न समस्त कर्माशय, कैसे पर जन्म का साधन करता है, यह भाष्य में देखिए।

छ। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का फल तीन प्रकार का है—जाति, आयु तथा भोग। अतः वह त्रिविपाक है। किन्तु, दृष्टजन्मवेदनीय कर्म के फल स्वरूप जाति होनेके कारण अर्थात् उस जन्म में ही उस जन्म के संचित कर्मों का फलभोग होने से, या तो केवल भोग, या आयु तथा भोग ये दो फल सिद्ध होते हैं। अतः दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय एक विपाक अथवा द्विविपाकमात्र हो सकता है।

ज। कर्माशय प्रधानतः एकभविक होता है, किन्तु वासना [२। १२ (१) टीका देखिए] अनेकभविक हैं। अनादि काल से जो जन्म-प्रवाह चलता आ रहा है, उसमें जो जो विपाक अनुभूत हुए हैं तज्जनित संस्कार-स्वरूप वासना भी अनादि या अनेक-भव-पूर्विका होती है।

झ। कर्माशय, नियतविपाक तथा अनियतविपाक होता है। जो अपने फल को संपूर्णतया पैदा करता है, वह नियतविपाक है। और जो दूसरों से नियमित होकर संपूर्णतया फलवान् नहीं हो सकता, वह अनियतविपाक है।

ञ। एकभविकत्व नियम प्रधान नियम है। कुछ ही स्थलों में उसका अपवाद रहता है।

ट । नियतविपाक दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में एकभविकत्व नियम संपूर्णतया नहीं लगता, अर्थात् दृष्टजन्मवेदनीय जो नियतविपाक कर्माशय है वह संपूर्ण रूप से एक जन्म में ही संचित होता है; अतः वह संपूर्णतया एकभविक है ।

ठ । अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में यह नियम संपूर्ण रूप से नहीं लगता, क्योंकि वैसे कर्म की तीन प्रकार की गति हो सकतीं हैं यथा: —

(१) अविपक्व कर्म का नाश ।

पुण्य पाप से नष्ट होता है, पाप पुण्य से । जैसे कि क्रोध के आचरण से उत्पन्न पाप कर्माशय अक्रोधाभ्यास रूप पुण्य से नष्ट होता है । अतः कर्म करते ही उसका फल भोगना पड़ेगा इस प्रकार का नियम अपवादशून्य नहीं है । यदि कर्म, विरुद्ध-कर्म से अथवा ज्ञान से नष्ट नहीं होता तो कर्म-फल अवश्य होता है ।

जिस एक जन्म में कर्माशय संचित होता है (अर्थात् एक जन्म से अवच्छिन्न कर्माशय) वह उसी जन्म में कुछ नष्ट भी हो सकता है, अतः अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का एकभविकत्व नियम (अर्थात् एक जन्म के समस्त कर्म की समाहार-स्वरूपता) सर्वत्र संपूर्णतया लागू नहीं होता ।

(२) प्रधान कर्माशय के साथ एकत्र विपक्व होने से अप्रधान कर्माशय का फल क्षीणभाव से अभिव्यक्त होता है, अतः उस स्थल पर भी संपूर्ण एक भविकत्व नियम नहीं लगता ।

प्रधान कर्माशय = जो मुख्य या स्वतंत्रता से फल दायक हो ।

अप्रधान कर्माशय = जो गौण का सहकारिभाव से स्थित हो ।

जो कर्म तीव्र काम, क्रोध, क्षमा, दया आदि से आचरित या पुनः पुनः आचरित होता है उसका आशय या संस्कार ही प्रधान कर्माशय होता है । वह फल दान करने के लिए 'उन्मुख' रहता है । और उसके विपरीत कर्माशय अप्रधान होता है, उसका फल स्वाधीन भाव से नहीं होता; परन्तु प्रधान की सहकारिता से होता है । इस प्रकार भविष्य जन्म का हेतुभूत कर्माशय प्रधान और अप्रधान कर्माशय की समष्टि है । अप्रधान कर्माशय का सम्यक् फल नहीं होता, इसलिये "इस जन्म के समस्त कर्म का फल, परजन्म में ही घटेगा" ऐसा एक भविकत्व नियम अप्रधान कर्म के लिये सम्यक् नहीं घटता ।

(३) अति प्रबल या प्रधान कोई कर्माशय विपाक प्राप्त करने से उसका अन्य-रूप अप्रधान कर्माशय अभिभूत हो जाता है । उसका फल उस समय नहीं होता है, परन्तु भविष्य में अपने अनुरूप कर्म-द्वारा अभिव्यक्त होकर उसका फल हो सकता है ।

इसमें भी एक जन्म के कुछ अप्रधान कर्मों के अभिभूत होते जाने के कारण एक-भविकत्व नियम उन स्थलों में नहीं घटता ।

इस नियम का उदाहरण यह है—एक व्यक्ति ने बचपन म कुछ धर्माचरण किया । तदनु विषय-लोभ से यौवन आदि में बहुत-से पशूचित पाप-कर्म किये, मरण-काल में नियत विपाक उस पापकर्मराशि से उसी के अनुसार कर्माशय बन गया । उसके फलस्वरूप जो पाशव जन्म हुआ उसमें उस अप्रधान धर्म कर्म का फल सम्यक् प्रकाशित नहीं हुआ । किन्तु उस व्यक्ति के धर्म कर्म का अंश जो केवल मानव जन्म ही में भोग्य है वह संचित रहेगा और जब वह मानव-जन्म-लेगा, तब प्रकाशित होगा । यदि वह धर्म-कर्म करे तो वह उसका सहायक

भी हो सकता है। इस उदाहरण में धर्म तथा पाप कर्म अविरुद्ध हैं यह समझ लेना है। विरुद्ध होने पर अवश्य ही पाप-द्वारा पुण्य नष्ट हो जाता। मान लो कि क्षमा एक धर्म है और चौर्य एक अधर्म। चौर्य-द्वारा क्षमा नष्ट नहीं होती। क्रोध या अक्षमा द्वारा ही क्षमा नष्ट होती है

ड। इन सब नियमों को अवधारित कर भाष्य पाठ करने से उसका अर्थबोध सुगम होगा।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफलाः, अपुण्यहेतुका दुःखफला इति। यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येवं प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥१४॥

१४। वे (जाति, आयु तथा भोग) पुण्य और अपुण्य के कारण सुखफल तथा दुःख-फल होते हैं ॥ सू

भाष्यानुवाद—वे अर्थात् जन्म, आयु और भोग; पुण्य हेतु प्राप्त होने से सुखफल तथा अपुण्य-हेतु प्राप्त होने से दुःखफल होते हैं (१) जैसे यह (लौकिक) दुःख प्रतिकूलात्मक है, वैसे ही विषयसुखकाल में भी योगियों को उसमें प्रतिकूलात्मक दुःख होता है।

टीका—१४। (१) दुःख के हेतु अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश होते हैं; अतः जो कर्म अविद्या आदि के विरुद्ध होते हैं या जिसके द्वारा वे क्षीण होते हैं वे पुण्य कर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों-द्वारा अविद्या आदि अपेक्षाकृत क्षीण हो जाते हैं वे भी पुण्य कर्म कहलाते हैं और अविद्यादि के पोषक कर्म अपुण्य या अधर्म कर्म होते हैं।

धृति (सन्तोष), क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्मकर्म के रूप से गणित होते हैं। मैत्री तथा करुणा और तन्मूलक परोपकार, मन प्रभृति भी अविद्या के कुछ विरोधी होने के कारण पुण्य कर्म होते हैं। क्रोध, लोभ, और मोहमूलक हिंसा, असत्य, इन्द्रियलौल्य इत्यादि पुण्य के विपरीत कर्म-समूह को पाप कर्म कहा जाता है। गौड़पाद जी कहते हैं यम, नियम, दया और दान ये धर्म या पुण्य कर्म हैं।

भाष्यम्—कथं तदुपपद्यते?—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाऽचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः

कर्माशयः । तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यत्ति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः । तथा चोक्तम् । नानुपहत्य भूतानि उपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति, विषय सुखं चाविद्येत्युक्तम् । या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरूपशान्तिस्तत्सुखं, या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम् । नचेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यं कस्मात् ? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति । स खल्वयं वृश्चिक विषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति । एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति ।

अथ का तापदुःखता ? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतन साधनाधीनस्तापानुभव इति-तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कामेन वाचामनसा च परिस्पन्दते ततः परमनुगृह्वात्युपहन्ति च, इति परानुग्रहपीड़ाभ्यां धर्मा-धर्मावुपचिनोति, स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवति । इत्येषा तापदुःखतोच्यते ।

का पुनस्संस्कारदुःखता ? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति, एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति । एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति, कस्मात् ? अक्षिपात्रकल्पोहि विद्वानिति । यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् । इतरन्तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं वाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिदुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति ।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणः परस्परानुग्रहतन्त्रा भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते । चलंच गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । 'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते ।' एवमेतेगुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति, गुणप्रधानभाव कृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद्दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या, तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः । यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगा रोगहेतुरारोग्यम्भैषज्यमित्येवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव, तद्यथा संसारस्संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपायइति । तत्रदुःखवहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानं, हानोपायः सम्यग्दर्शनम् । तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भावितुमर्हति इति, हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपायानेच हेतुवादः, उभयप्रत्याख्याने च शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम् ॥१५॥

भाष्यानुवाद—(विषयसुख काल में भी योगियों को दुःखप्रतीत होती है) यह कैसे जान पड़ता है ?—

१५—परिणाम, ताप और संस्कार इस त्रिविध दुःख तथा गुणवृत्ति के अभिभाव्य-अभिभावकता स्वभाव के कारण विवेकी पुरुष को सभी (विषयसुख भी) दुःख जान पड़ता है । (१)

सुखानुभव सबका राग से अनुविद्ध (अनुराग से युक्त) चेतन (स्त्री पुत्रादि) तथा

अचेतन (गृहादि) साधन के अधीन होता है। इस प्रकार सुखानुभव में रागज कर्माशय होता है। सभी दुःखसाधन विषयों से द्वेष करते हैं और उनमें मुग्ध होते हैं, इस प्रकार द्वेषज और मोहज कर्माशय भी होते हैं। इसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं (विच्छिन्न-क्लेश की व्याख्या में)। प्राणियों का उपघात न कर उपभोग कभी संभव नहीं हो सकता। अतः (विषय सुख में) हिंसा-कृत शारीर कर्माशय भी पैदा होता है। यह विषयसुख अविद्या नाम से उक्त हुआ है, (अर्थात्) तृष्णा-क्षय होने पर भोग्य विषय में इन्द्रियों की जो उपशान्ति या प्रवृत्तिहीनता है वही सुख है। और लोलुपता या भोग-तृष्णा के कारण जो अनुपशान्ति है वही दुःख (२)। परन्तु भोगाभ्यास-द्वारा इन्द्रिय तृष्णारहित (परमार्थिक सुख का कारण) नहीं हो सकतीं, क्योंकि भोगाभ्यास के फलस्वरूप राग और इन्द्रियों का कौशल (पटुता) बढ़ जाता है। अतएव भोगाभ्यास परमार्थिक सुख का हेतु नहीं है। बिच्छू के विष से भी डरनेवाले व्यक्ति की साँप-द्वारा डस जाने पर जो अवस्था होती है वही विषय-वासनाग्रस्त सुखार्थी की होती है। वह दुःख के अपार दल-दल में फँस जाता है। ये प्रतिकूल दुखान्त कर्म (विषयभोग) सुखावस्था म भी केवल योगियों को ही दुःख देते हैं (अर्थात् अयोगियों को जो भोग के समय नहीं, अपितु परिणाम में दुःखमय होते हैं, विवेकी योगियों को वे ही सुखकाल (भोग के समय) भी दुःखस्वरूप होते हैं)।

तापदुःखता क्या है ? सभी का तापानुभव द्वेषयुक्त चतन और अचेतन साधनों के अधीन होता है। इसी प्रकार उनमें द्वेषज कर्माशय होता है। लोग सुख के साधनों की प्राप्ति के लिए शरीर, मन और वाक्य से चेष्टा करते हैं, दूसरों पर अनुग्रह करते या उन्हें पीड़ा देते हैं, और इस प्रकार परानुग्रह और परपीड़ा-द्वारा धर्म और अधर्म का संचय करते हैं। यह कर्माशय लोभ और मोह से उत्पन्न होता है। इसे तापदुःखता कहा जाता है।

संस्कार-दुःखता क्या है ? सुखानुभव से सुखसंस्काराशय होता है, और दुःखानुभव से दुःखसंस्काराशय होता है। ऐसे कर्मों से सुखकर या दुःखकर विपाकों का अनुभव होने पर (वासना से) फिर भी कर्माशय का संचय होता है (३)। इस प्रकार यह अनादिः विस्तृत दुःखस्रोत योगी को ही प्रतिकूलरूप में उद्विग्न करता है। कारण, विद्वान् (ज्ञानी का चित्त) चक्षुगोलक सा कोमल होता है। जैसे मकड़ी का जाला आँखों में पड़ने पर ही स्पर्श-द्वारा दुःख देता है, अन्य किसी अंग में नहीं, वैसे ही ये सब दुःख (परिणाम आदि) चक्षुगोलक से (कोमल-हृदय) योगी को ही दुःख देते हैं, अन्य अनुभावक को नहीं। साधारण व्यक्ति अनादि वासना से विचित्र, चित्तस्थित अविद्या से परिच्छन्न रहते हैं। अहंकार और ममता त्याज्य होने पर भी वे उन्हीं के अनुगत होते हैं, निज कर्मोपार्जित दुःख बार बार प्राप्त करते हैं, त्याग करते हैं और त्यागकर फिर प्राप्त करते हैं और इस प्रकार जन्ममरण के बीच बाह्य और आध्यात्मिक कारणों से उत्पन्न त्रिविध दुख से अनुप्लावित रहते हैं। योगी अपने आप और अन्य जीवों को इस अनादि दुःखस्रोत म बहते देखकर समस्त दुःख क्षय के कारण सम्यग्दर्शन की शरण लेते हैं।

'गुण वृत्तिनिरोध के कारण भी विवेकी को सभी दुःखमय है'। प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिरूप बुद्धि गुण पारस्परिक उपकाराधीन होकर त्रिगुणात्मक, शांत, घोर अथवा मूढ़ प्रत्यय उत्पन्न करते हैं। गुणवृत्त चल अर्थात् सदा विकार-शील हैं, अतः चित्तको क्षिप्रपरिणामी

कहा गया है। 'बुद्धि के रूप (धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य ये आठ बुद्धि के रूप हैं) एवं वृत्तियों (शांत, घोर और मूढ़, ये बुद्धि की वृत्तियाँ हैं) अतिशय या उत्कर्ष होने से परस्पर (अपने से विपरीत रूप के या वृत्त के साथ) विरुद्ध आचरण करते हैं; और सामान्य (अप्रबल रूप या वृत्ति) अतिशय के या प्रबल के साथ प्रवर्त्तित होते हैं।' इसी प्रकार गुणसमूह परस्पर के आश्रय, (मिश्रण) से सुख, दुःख तथा मोहरूप प्रत्यय निष्पादित करते हैं। अतः सभी प्रत्यय सर्वरूप (सत्त्व, रज तथा तम रूप) हैं, किन्तु उनके जो (सात्त्विक, राजसिक या तामसिक) विशेष हैं वे (किसी एक) गुण की प्रधानता से होते हैं। अतः (कारण, कोई भी केवल सत्त्व वा सुखात्मक नहीं हो सकता) विवेकी को समस्त (वैषयिक सुख) दुःखमय होता है।

इस विपुल दुःखराशि के प्रभव का कारण है अविद्या; और सम्यग्दर्शन है अविद्या के अभाव का कारण। जैसे चिकित्सा शास्त्र चतुर्व्यूह है—रोग, रोगहेतु, आरोग्य तथा भैषज्य—वैसे ही यह मोक्षशास्त्र भी चतुर्व्यूह है—संसार, संसारहेतु, मोक्ष तथा मोक्षोपाय। उनमें अत्यन्त दुःखमय संसार हेय है, प्रधान-पुरुष का संयोग हेयहेतु और संयोग शाश्वती निवृत्ति हान (मोक्ष) है; सम्यग्दर्शन हानोपाय है। इसमें हाता का स्वरूप हेय या उपादेय नहीं हो सकता; क्योंकि हेय होने पर उसका उच्छेदवाद और उपादेय होने पर हेतुवाद (इन दोनों दोषों) का संघटन होता है। परन्तु इन दोनों का प्रत्याख्यान करने पर शाश्वतवाद (रहता है), यही सम्यग्दर्शन है (४)।

टीका—१५। (१) संसार अत्यन्त दुःखमय है। ज्ञानोन्नत, शुद्ध चरित्र योगिगण सूत्रोक्त कारण के विचार से संसार को अत्यन्त दुःखमय जानकर उसकी निवृत्ति साधन का यत्न करते हैं। राग से परिणाम दुःख होता है। द्वेष से ताप-दुःख और सुख एवं दुःख के संस्कारों से संस्कार-दुःख होते हैं। राग सुखानुशयी तथा रागकाल में सुखोदय होने पर भी परिणाम में असंख्य दुःख उत्पन्न करता है यह भाष्यकार ने स्पष्टतया दिखाया है।

दुःखकर विषय में द्वेष होता है, अतः द्वेष रहने से दुःख बोध अवश्यंभावी है। सुख और दुःख का अनुभव होने पर तज्जनित वासनारूप संस्कार होते हैं। अनादिविस्तृत अतीत संस्कार भी स्मृति जनक होकर दुःखदायी होते हैं। विचारपूर्वक स्मरण करने से महाव्याधि की स्मृति के समान दुःख का ही स्मरण होता है। परंतु वासनाएँ कर्माशय की क्षेत्र स्वरूपा हैं अतः वासनारूप-संस्कार कर्माशय का संचय करते हैं और असंख्य दुःख उत्पन्न करते हैं।

द्वेष भी एक प्रकार का अज्ञान है, अतः द्वेष से दुःख होता है। शंका हो सकती है कि पाप में द्वेष करने से सुख होता है, दुःख तो नहीं होता ? यह सत्य है किन्तु पाप में द्वेष का अर्थ है दुःख में द्वेष। उसके द्वारा दुःख का प्रतिकार करने से सुख ही होगा। किन्तु फिर भी प्रतीकार साधन के समय दुःख आता है, अतः उसमें भी दुःख होता है, यद्यपि वह अत्यल्प होता है और परिणाम में सुख ही अधिक होता है और दुःख-बोध करने से ही पाप में द्वेष होता है अतः द्वेष जनित दुःख एवं दुःखजनित द्वेष—द्वेष का यह लक्षण अनवद्य है।

रागमूलक परिणाम-दुःख भावी है, द्वेषमूलक ताप-दुःख वर्त्तमान, और संस्कार दुःख अतीत है। यह मणिप्रभा टीकाकार का मत है। यह भाष्यकार की उक्ति के अनुकूल ही है। वस्तुतः भाष्यकार का तात्पर्य यह है:—रागकाल में सुख किन्तु परिणाम में या भविष्य

में दुःख होता है। द्वेषकाल में वर्त्तमान और भविष्य दोनों में ही दुःख होता है। अतीत सुख-दुःख के संस्कार से भी भविष्य में दुःख होता है। इस प्रकार से तीनों ओर से ही (हेय) अनागत दुःख या अवश्यंभावी दुख रहा करता है।

कार्य-पदार्थ के धर्म का विचार कर संसार के दुःखकरत्व का निश्चय होता है। मूल कारण-पदार्थ के विचार द्वारा भी जान पड़ता है कि संसार में विशुद्ध और निरवच्छिन्न सुख की प्राप्ति असंभव है। सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण चित्त के मूल हैं। वे स्वभावतः एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। किसी कार्य में किसी गुण की प्रधानता रहे, तो उसे प्रधान गुणानुसार सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है। सात्त्विक में राजस और तामस भाव भी निहित रहते हैं। सुख, दुःख और मोह ये तीन यथाक्रम सात्त्विक राजस और तामस वृति हैं। प्रत्ति वृत्ति में त्रिगुण रहने के कारण रजस्तम से हीन निरवच्छिन्न सुख नहीं हो सकता है, तथा गुणसमूह के अभिभाव्य-अभिभावकता स्वभाव के कारण गुण-वृत्तियाँ परस्पर को अभिभव कर देती हैं। इसलिये सुख के पीछे दुःख और मोह अवश्यंभावी है। अतः संसार में निरवच्छिन्न सुख प्राप्ति असम्भव है।

१५। (२) वाचस्पति मिश्र ने इस अंश की यह व्याख्या की है 'हम जो विषयसुख को ही सुख मानते हैं वह ठीक नहीं, भोग में तृप्ति या वितृष्णता की जनक जो उपशान्ति या प्रवृत्तिहीनता है उसे पारमार्थिक सुख, और लौल्य की उत्पादिका अनुपशान्ति को दुःख कहते हैं। यह शंका हो सकती है कि, वैतृष्ण्य जात सुख तो रागानुविद्ध नहीं होता; अतः उसमें परिणाम-दुःख कैसे होगा ? यह सत्य है, परन्तु भोगाभ्यास उस वैतृष्ण्य-जात सुख के कारण नहीं होता क्योंकि वह जैसे सुख को देता है, वैसे ही तृष्णा को भी बढ़ाता है।'

विज्ञान भिक्षु ने ठीक इभी प्रकार की व्याख्या नहीं की। उस प्रकार के जटिल भाव को छोड़कर साधारण सुख और दुःखरूप से व्याख्या करने पर भी यह संगत तथा विशद होता है जैसे—भोग में या भोग के पीछे इन्द्रिय तृप्ति के कारण जो उपशांति या प्रवृत्तिहीनता है वही सुख का लक्षण है (क्योंकि समस्त सुख में कुछ तृप्ति तथा उपशांति रहती है)। और लौल्य के कारण जो अनुपशांति होती है वही दुःख है। किन्तु भोगाभ्यास कर सुख पाने की इच्छा करने से राग तथा इन्द्रियपटुता बढ़ जाती है अतः परिणाम में अधिकतर दुःख होता है।

१५। (३) संस्कार का अर्थ है वासनारूप संस्कार; धर्माधर्म संस्कार नहीं। धर्माधर्म-संस्कार परिणाम और ताप-दुःख में उक्त हुआ है। वासना से केवल स्मृति होती है। यह स्मृति जाति, आयु तथा भोग की स्मृति है। जाति आदि की यह वासना स्वयं दुःख दान नहीं करती, परन्तु वह धर्माधर्म कर्माशय की आश्रय स्थल होने के ही कारण दुःख हेतु होती है। जैसे कि एक चूल्हा साक्षात् जलाने का कारण नहीं होता किन्तु तप्त अंगार-संचय का हेतु होता है ; और वे अंगार ही दहन के कारण हैं ; वासना भी वैसे ही है। वासनारूप चूल्हे में कर्माशय रूप अंगार संचित होते हैं उसी के द्वारा दुःख-दाह होता है।

१५। (४) हाता का (जो दुःख का हान या त्याग करता है) स्वरूप उपादेय नहीं होता है अर्थात् हाता पुरुष कार्य-कारण रूप में परिणत नहीं होता। उपादेय का अर्थ है चित्तेन्द्रिय का उपादान-भूत। ऐसा होने से पुरुष को परिणामित्व दोष लग जाता है और कूटस्थ अवस्था रूप जो कैवल्य है उसकी भी संभावना नहीं रहती।

हाता का स्वरूप भी अपलाप करने योग्य नहीं है, अर्थात् चित्त से अतिरिक्त पुरुष नहीं रहता है, इस प्रकार का वाद भी युक्त नहीं है। यदि ऐसा होता तो दुःख निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दुःखनिवृत्ति तथा चित्तनिवृत्ति एक ही बात है। चित्त से अतिरिक्त पदार्थ मूलस्वरूप न रहे तो चित्त की सम्यक् निवृत्ति की चेष्टा नहीं हो सकती। वास्तव में 'मैं चित्तनिवृत्त कर दुःखशून्य होऊँगा' इस प्रकार के निश्चय से ही हम मोक्ष साधन करते हैं। चित्तनिवृत्ति होने पर 'मैं दुःखशून्य होऊँगा' अर्थात् 'दुःख आदि की वेदना से शून्य मैं रहूँगा' ऐसा चिन्तन पूर्णतया संगत है। चित्त के अतिरिक्त यह आत्मसत्ता ही हाता का स्वरूप या प्रकृत रूप होती है। इस सत्ता को स्वीकार न करने से अर्थात् उसे शून्य कहने से 'मोक्ष किसके लिए' इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, इस प्रकार से उच्छेद-वाद-रूप दोष आ जाता है।

अतएव हातृस्वरूप की उपादेयता तथा असत्ता ये दोनों दृष्टि ही हेय हैं, परंतु स्वरूप-हाता शाश्वत या अविकारी सत् पदार्थ है—इस प्रकार का शाश्वतवाद ही सम्यक् दर्शन है। बौद्धों के ब्रह्मजाल सूत्र में जो शाश्वतवाद है तथा उच्छेदवाद का उल्लेख है उसके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

भाष्यम्—तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते।

हेयं दुःखमनागतम्॥ १६॥

दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्त्तते, वर्त्तमानंच स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत् क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्माद् यदेवानागतं दुखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारं तदेव हेयतामापद्यते॥ १६॥

भाष्यानुवाद—अतः इस शास्त्र को चतुर्व्यूह कहा जाता है।

१६। अनागत दुःख हेय है (१) ॥ सू

अतीत दुःख उपभोग द्वारा अतिवाहित होने के कारण हेयविषय नहीं हो सकता है; और वर्त्तमान दुःख वर्त्तमान काल में भोगारूढ़ है, और वह भी अन्य क्षण में हेय या त्याज्य नहीं हो सकता। अतः जो अनागत दुःख है, वही अक्षिगोलककल्प (कोमल चित्त) योगी के निकट दुःख स्वरूप प्रतीत होता है, अन्य प्रतिपत्ता के निकट नहीं होता अतः यह अनागत दुःख ही हेय होता है।

टीका—१६। (१) हेय या त्याज्य क्या है ? इसका सबसे अधिक संगत और स्पष्ट उत्तर है—अनागत दुःख हेय है।

भाष्यम्—तस्माद् यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः, दृश्याः बुद्धिसत्त्वोपारूढ़ाः सर्वे धर्माः । तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणि कल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन भवति पुरुषस्य स्वं दृशिरूपस्य स्वामिनः । अनुभवकर्म विषय तामापन्नमन्य-स्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात् परतन्त्रम् । तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुः दुःखस्य कारणमित्यर्थः । तथा चोक्तम् 'तत्संयोगहेतु विवर्ज्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः' कस्मात् ? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतिकार दर्शनात्, तद्यथा, पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेतृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं, पादत्राणव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम् । एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति कस्मात्, त्रितोपलब्धि सामर्थ्यादिति । अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यं कस्मात्, तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्, सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे । दर्शितविषयत्वात् सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति दृश्यते ॥ १७ ॥

भाष्यानुवाद—यह जो हेय कहा जाता है । इसका कारण निर्दिष्ट करते हैं ।

१७ । द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय हेतु है ॥ सू

द्रष्टा बुद्धिका प्रतिसंवेदी पुरुष है; और दृश्य बुद्धिसत्त्व में उपारूढ़ समस्त धर्म (गुण) होते हैं । यह दृश्य अयस्कान्त मणि की भाँति सन्निधिमात्र से उपकारी होता है (१) यह दृश्यत्व-धर्म-द्वारा स्वामी दृशिरूप पुरुष का 'स्वं' रूप होता है । (क्योंकि, दृश्य या बुद्धि) अनुभव तथा कर्म का विषय होकर अन्यस्वरूप में स्वभावतः प्रतिलब्ध (२) होने से स्वतंत्र होने पर भी परार्थता के कारण परतंत्र है (३) । इस दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति का अनादि पुरुषार्थजन्य जो संयोग है, वह हेयहेतु अर्थात् दुःख का कारण होता है । यह भी कहा गया है (पंचशिखाचार्य द्वारा) 'बुद्धि के साथ संयोग के कारण का विशेष रूप से वर्जन करने पर यह आत्यंतिक दुःख प्रतीकार होता है', क्योंकि परिहार्य दुःख हेतु का प्रतिकार देखा जाता है, जैसे—पदतल की भेद्यता, कण्टक का भेतृत्व, और परिहार—कण्टक का तलवा पर अनधिष्टान या पादत्राण-व्यवधान में अधिष्ठान । ये तीन विषय जो जानते हैं वह उसका प्रतीकार करके कण्टकभेद-जनित दुःख नहीं पाते । क्योंकि, तीनों (भेद्य, भेदक और परिहार-रूप) के धर्म की उपलब्धि करने की सामर्थ्य रहती है । परमार्थ विषय में भी, तापक रजोगुण द्वारा सत्त्व तप्य है ; क्योंकि तपिक्रिया कर्माश्रय वह सत्त्वरूप कर्म में ही (विक्रियमाण भाव में) हो सकती है, अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ में नहीं । दर्शितविषयत्व के कारण सत्त्व तप्यमान होने से तत्स्वरूपानुरोधी पुरुष भी अनुतप्तसा देखा जाता है (४) ।

टीका—(१) अयस्कान्त मणि की उपमा का अर्थ यह है—पुरुष परिणत न होने तथा दृश्य के साथ मिलने से भी, दृश्य पुरुष के निकटस्थ होने के कारण उपकरण-क्षय होता है । निकटस्थता (सान्निध्य) यहाँ पर देशिक नहीं है, किन्तु स्व-स्वामिभावरूप प्रत्ययगत सन्निकर्ष है, अर्थात् 'मैं इसका ज्ञाता हूँ' इस प्रकार भाव । उसमें 'यह' या दृश्य अनुभव और कर्म का निषय स्वरूप से दृश्य या ज्ञेय होता है । अनुभव का और कर्म का विषय त्रिविध है—प्रकाश्य, कार्य्य या हार्य्य और धार्य्य । कार्य्य विषय कर्मेन्द्रिय का विषय है; ये स्फुट

कर्म होते हैं। धार्य्य विषय प्राण-कार्य तथा संस्कार हैं; ये अस्फुट कर्म और अस्फुट बोध हैं। कार्य्य और धार्य्य विषय का भी अनुभव प्रकाश्य विषय के साक्षात् भाव ही में होता है। इन विषयों का अनुभावयिता 'मैं' इस प्रकार का प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय ही बुद्धि है। 'मैं विषय का अनुभावयिता हूँ' इस प्रकार भाव भी 'मैं' जानता हूँ,—इस शेषोक्त 'ज्ञाता मैं' का लक्ष्य शुद्ध द्रष्टा है, वह बुद्धि का (यहाँ पर बुद्धि अनुभावयिता तथा अनुभव का एकता-प्रत्यय है) अर्थात् साधारण 'मैं पन' प्रतिसंवेदी है। १।७ (५) टीका और 'पुरुष या आत्मा' १९ देखिए।

यहाँ संयोग का स्वरूप विशद रूप से कहा जा रहा है। द्रष्टा और दृश्य का जो संयोग है वह एक तथ्य है। क्योंकि, 'मैं शरीरादि ज्ञेय हूँ' और 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसे प्रत्यय देखे जाते हैं। अतः 'मैं पन' ही ज्ञाता और ज्ञेय का संयोगस्थल है।

अब यह समझना है कि इस संयोग का स्वरूप क्या है। अतः सर्वप्रथम संयोग के लक्षण-भेदादि जाना आवश्यक है। एकाधिक-पृथक् वस्तु अपृथक् अथवा अविरक्त की सी बुद्ध होने से वे संयुक्त हैं ऐसा कहा जाता है, संयोग दैशिक, कालिक और अदेशकालिक (देश काल से भिन्न वस्तु का आश्रयी), इस प्रकार त्रिविध है।

अव्यवहित भाव में अवस्थित वाह्य वस्तु का दैशिक संयोग होता है। इसका उदाहरण देना आवश्यक नहीं है। जो केवल कालिक सत्ता है अर्थात् जो कालक्रम से उदय-लय-शील है अथवा जो देशकाल व्यापी है, जैसे मन, तद्गत भावों का संयोग ही कालिक संयोग है, यथा विज्ञान के साथ सुखादि वेदना का संयोग। विज्ञान चित्त धर्म है, और सुख भी। विज्ञान और सुख इन दो चित्त धर्मों का एक ही काल में बोध तथा उदय होना संभव नहीं है, अतएव प्रकृत पक्ष में पहिले और पीछे उनका बोध होता है (यह स्मरण रखना चाहिये कि जो साक्षात् बुद्ध होता है वही उदित या वर्त्तमान है), अथच उनका यह व्यवधान लक्ष्य या बुद्ध नहीं होता। अतः ये उदित धर्म होने के कारण ही अविरल भाव से बुद्ध होते हैं। जो देश कलातीत सत्ता हैं उसका संयोग अदेशकालिक है। उसका एक मात्र उदाहरण है मूल द्रष्टा तथा मूल दृश्य का एक या संयुक्त भाव प्रतीत होना।

सब ज्ञानों के समान संयोग ज्ञान भी यथार्थ और विपर्यस्त हो सकता है। जब किसी यथार्थ अवस्था का लक्ष्य कर संयोग शब्द का व्यवहार करते हैं तब वह 'संयोग'-पद यथा-भूत अर्थ का प्रकाश करता है, जैसे वृक्ष और पक्षी का संयोग यथार्थ विषय का द्योतक (प्रकाशक) होता है। किन्तु दृष्टि-दोष से द्रव्यों को संयुक्त जानने से वह विपर्यस्त संयोग-ज्ञान होगा। किन्तु यथार्थ हो या विपर्यस्त, दोनों स्थलों में संयोग के बोद्धा के निकट जो द्रव्यों का संयुक्त ज्ञान तथा उसका यथायथ फल होता है वह सत्य है। संयोग या सन्निवेश विशेष केवल पद का अर्थ मात्र है समस्त संयुक्त पदार्थ ही वस्तु हैं। (पद का अर्थ सत्य हो सकता है, परन्तु वह वस्तु न भी हो सकता है।)

असंयुक्त द्रव्य संयुक्त होने के लिये क्रिया आवश्यक है। वह क्रिया एक, परस्पर, और संयोग बोद्धा की हो सकती है। इसका भी उदाहरण देना अनावश्यक है। फिर भी यह देखना चाहिये कि संयोग-बोद्धा की क्रिया से यदि असंयुक्त द्रव्य भी संयुक्त जान पड़े तो वह विपर्यास-मात्र है।

द्रष्टा तथा मूल दृश्य देशकाल-व्यापी सत्ता नहीं हैं। देश तथा काल एक एक प्रकार का ज्ञान है, ऐसे ज्ञान का ज्ञाता देशकालातीत पदार्थ होता है और ज्ञान का उपादान भी (त्रिगुण भी) स्वरूपतः देशकालातीत पदार्थ होगा। उक्त कारण से द्रष्टा और दृश्य का संयोग निकटस्थ या एक काल में अवस्थित नहीं है। विशेषतः, वे चैत्तिक धर्म और धर्मी नहीं हैं इस कारण उनका संयोग कालिक नहीं हो सकता। मूल द्रष्टा और मूल दृश्य किसी के भी धर्म नहीं होते तथा वास्तव धर्म के समाधररूप धर्मी भी नहीं होते। वे कालिक संयोग में संयुक्त हुए पदार्थ नहीं हैं। पुरुष में अतीतानागत कोई भी धर्म नहीं है, क्योंकि ऐसी सभी वस्तुएँ विकारशील हैं। मूला प्रकृति में भी अतीतानागत धर्म नहीं है। प्रकाश, क्रिया और स्थिति धर्म नहीं, किन्तु मौलिक स्वभाव हैं। शंका हो सकती है कि क्रिया तो 'विकारशील' ह, अतः वह धर्म क्यों नहीं होगी ?—मूल क्रिया 'विकारी' नहीं अपितु 'विकार' मात्र होती है। नित्य ही विकार रहा करता है, (तत्त्व प्र० ३३)। वह यदि कभी अविकार होता, तभी रज 'विकारी' होता। इस प्रकार से धर्म-धर्मि-दृष्टि से अतीत होने के कारण द्रष्टा और दृश्य कालातीत सत्ता हैं। अतः देशकालातीत होने के कारण उनका संयोग भेद लक्ष्याभावरूप अदेशकालिक होता है। द्रष्टा और दृश्य पृथक् सत्ता है, अतः उन्हें अपृथक् मानना विपर्यय ज्ञान है, और अविद्या ही इस संयोग का मूल है। इस पर एक सूत्र भी है—**तस्यहेतुरविद्या।**

इस संयोग का बोद्धा कौन है ?—मैं ही उसका बोद्धा हूँ। क्योंकि मैं सोचता हूँ कि 'मैं शरीरादि हूँ' और 'मैं ज्ञाता हूँ'। मैं तो उस संयोग का फल है, अतः मैं कैसे संयोग का बोद्धा होऊँ ?—क्यों नहीं होऊँ, संयोग हो जाने पर ही 'मैं' होता हूँ या मै उसे समझ सकता हूँ। प्रत्येक ज्ञान के समय ज्ञाता और ज्ञेय अविभक्त रहते हैं, पीछे हम विश्लेषण कर जानते हैं कि उसमें ज्ञाता और ज्ञेय नामक पृथक् पदार्थ हैं अतः कहते हैं कि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का संयोग या ज्ञाता और ज्ञेयरूप पृथक् भाव का एक ही प्रत्यय में या ज्ञान में प्रविष्ट तत्त्व है। 'मैं अपने को जानता हूँ'—ऐसा हमें जान पड़ता है, हमारा हेतु एक स्वप्रकाश वस्तु होने के कारण ही उस का गुण 'मै पन' (अहम्त्व) में रहता है। उसीसे ही 'मैं' संयोगजात होने पर भी मैं समझता हूँ कि मैं द्रष्टा और दृश्य हूँ।

यह संयोग किसकी क्रिया से उत्पन्न होता है ?—दृश्य में रहने वाले रजोगुण की क्रिया से उत्पन्न होता है। रजोगुण-द्वारा प्रकाश का उद्घाटन या द्रष्टा की भाँति प्रकाश होना ही 'मैंपन' (अहम्त्व) या द्रष्ट-दृश्य का संयोग है। इन दोनों पदार्थों को ऐसी योग्यता है कि जिससे 'स्वामी' और 'स्व' इस प्रकार भाव होता है (१।४ द्रष्टव्य)। 'मैंपन' उसी भाव का मिलन-स्वरूप एक ज्ञान या प्रकाशविशेष है।

संयोग किसके द्वारा विस्तृत होता है ?—संयुक्त भाव के संस्कार-द्वारा इस प्रकार के विपर्य्यस्त ज्ञान के विपर्य्यास संस्कार से पुनः अहम्त्व-रूप विपर्य्यस्त प्रत्यय उत्पन्न होकर 'अहम्त्व' का विस्तार चल रहा है। प्रत्येक ज्ञान उदित तथा लीन होता है, फिर एक और ज्ञान होता है, अतः संयोग सभंग होता है, वह लगातार एकतान नहीं होता। ज्ञाता और ज्ञेय अनादिविद्यमान होने के कारण उनका ऐसा सभंग संयोग (अहम्त्व-ज्ञान-रूप) अनादिप्रवाह-स्वरूप होता है अर्थात् क्षणिक संयोग तथा वियोग अनादि काल से चले आ रहे हैं (अनादि होने पर भी वह अनंत नहीं हो सकता है--)। इस अविवेक-प्रवाह का आदि रहने के कारण उसका प्रारम्भ कब हुआ, ऐसा प्रश्न हो नहीं सकता। अतः बहुत से व्यक्ति जो यह

सोचते हैं कि पहिले प्रकृति तथा पुरुष असंयुक्त थ, पीछ अचानक संयोग हो गया यह एक अत्यन्त अदार्शनिक और अयुक्त चिन्ता है। इस संयोगरूप अविवेक का विरुद्ध भाव ज्ञाता और ज्ञेय का विवेक या पार्थक्य बोध है। उसमें दूसरे ज्ञान का निरोध होता है। अन्य समस्त ज्ञान के निरुद्ध होनेपर तेल के अभाव में प्रदीप बुझने के समान विवेक भी निरुद्ध होता है। यही ज्ञाता और ज्ञेय का वियोग है परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि पुरुष संयोग तथा वियोग इन दोनों का ही समानरूप से साक्षी है।

द्रष्ट्रा और दृश्य का जो अदेशकालिक संयोग है वह उन दोनों पदार्थों की स्वाभाविक योग्यता का परिचय है। स्वभावतः हम इस योग्यता का ज्ञान कर ज्ञानार्थक 'ज्ञा', 'दृश्', 'काश्', 'बुध्' इत्यादि धातुओं से विरुद्ध कोटि के ज्ञापक 'ज्ञाता-ज्ञेय', 'द्रष्टा-दृश्य' इत्यादि पद बनाते हैं और उनके द्वारा समझने तथा इन पदों का व्यवहार करने के लिए बाध्य होते हैं। ये सब पद विरुद्ध (polar) होनेपर भी संयुक्त (मैंपन में) ही हैं।

द्रष्ट-दृश्य का संयोग एक प्रकार से सन्निवेशवाचक पद का अर्थमात्र होता है, यह मिथ्याज्ञानमूलक है। मिथ्या ज्ञान एकाधिक सत्पदार्थ लेकर होता है, अतः सत् पदार्थ उपादान तथा विषय और एक प्रकार का ज्ञान होने के कारण संयुक्त वस्तु मैंपन तथा मैंपन से उत्पन्न इच्छादि और सुखदुःखादि सब सत्पदार्थ हैं; और सत् विवेकरूप सत्यज्ञानद्वारा दुःखमुक्ति भी सत्पदार्थ है। यह ध्यान रखना है कि ज्ञान का विषय सत्य हो अथवा मिथ्या, ज्ञान सत्पदार्थ है—असत् या 'अभाव' नहीं।

समीपस्थता को संयोग (दैशिक) कहते हैं और निकट जाने को 'संयोग होना' कहते हैं। 'नजदीक रहना' कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु सन्निवेश या संस्थान विशेष है। वैसे ही 'नजदीक जाना' भी एक क्रिया है, उसका फल है संयोग शब्द का अर्थ। संयुक्त रहने, संयुक्त प्रतीत होने से वस्तुओं के गुणों में अनक परिवर्त्तन देखे जा सकते हैं, जैसे जस्ता और ताँबा संयुक्त होने पर पीतल बनती है। पर सूक्ष्मभाव से देखने पर जस्ता और ताँबा स्वरूप में ही रहते हैं। उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य की संयुक्त प्रतीति होने पर द्रष्टा दृश्य के समान तथा दृश्य द्रष्टा के समान लक्षित होते हैं। वही 'मैं पन' और 'मैं पन' से उत्पन्न प्रपंच है।

संक्षेप से संयोग की युक्तियों का विश्लेषण इस प्रकार है:—

दैशिक संयोग — निकटस्थ देश में अवस्थान। यह स्पष्ट है।

कालिक संयोग—काल = क्षणप्रवाह। एक साथ दो क्षण नहीं रहते अतः अविरल क्षण में एकत्र अवस्थितिरूप कालिक संयोग नहीं हो सकता है। कालिक संयोग का उदाहरण शान्त, उदित तथा अनागत इन तीन प्रकार के धर्मों का एक समय में अवस्थान है जिसे हमें सोचना ही पड़ता है, अर्थात् हम कहते हैं, अतीत और अनागत 'हैं' अतः वर्त्तमान, अतीत और अनागत अविरल भाव से हैं, इस प्रकार सोचना पड़ता है। अतएव कालिक संयोग त्रिविध धर्म के समाहार-रूप धर्मों में ही उपलब्ध होता है।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग अदेशकालिक है अर्थात् न तो निकटस्थ अवस्थान है और न धर्म का समाहार, क्योंकि द्रष्टा का धर्म दृश्य नहीं है और दृश्य का धर्म द्रष्टा नहीं। वे पृथक् असंकीर्ण सत्ता हैं। मैं पन में उनका संयोग देखा जाता है, क्योंकि 'मैं' का कुछ अंश द्रष्टा और कुछ ज्ञेय या दृश्य रूप म अनुभूत होता है। यह ठीक है कि यह मैंपन के ज्ञान के समय ही नहीं होता, पीछे हम इसका अवधारण कर सकते हैं। योग्यता विशेष,

अर्थात् एक का दृष्टत्व और अन्य का दृश्यत्व ऐसे स्वभाव से ही, उस प्रकार के संयोग की संभावना होती है।

अत्यंत पृथक् दो पदार्थों को एक मानना यहाँ विपर्य्यय या अविद्या है, अतः यही संयोग का हेतु होता है। इस प्रकार विपर्य्यय ज्ञान संस्कार प्रत्ययक्रम से अनादि होने के कारण इस संयोग को भी अनादि कहना पड़ता है। द्रष्टा कहने से दृश्य और दृश्य कहने से द्रष्टा दोनों की ऐसी योग्यता अन्योन्याश्रित चिन्तन—अनिवार्य है। यह योग्यता विशेष ही संयोग है।

१७। (२) 'अन्यस्वरूप में दृश्य प्रतिलब्धात्मक' इस अंश की द्विविध व्याख्या हो सकती है। मिश्र और भिक्षु दोनों ने भिन्न भिन्न व्याख्या मानी हैं। प्रथम व्याख्या है—अन्यस्वरूप में अर्थात् चैतन्य से भिन्न स्वरूप में या जड़स्वरूप में प्रतिलब्ध (अनुव्यवसित) होना ही दृश्य की आत्मा या स्वरूप है। चित् तथा जड़ इन दोनों की जो प्रतिलब्धि होती है, वह सत्य है। चित् स्वप्रकाश और दृश्य जड़ है। इस प्रकार का निश्चय-बोध होता है। अतः शुद्ध नहीं, स्वप्रकाश नहीं, चिद्रूप बोधमात्र नहीं, पर चित् से भिन्न 'जड़ है' ऐसा बोध भी होता है। इस दृष्टि से यह व्याख्या सत्य है।

द्वितीय व्याख्या है—दृश्य अन्यस्वरूप द्वारा अर्थात् निज से भिन्न चैतन्यस्वरूप द्वारा प्रतिलब्ध होता है। वस्तुतः दृश्य अप्रकाशितस्वरूप है। चित् संयोग से वह प्रकाशित होता है। वह प्रकाश चैतन्य का उपमाविशेष मात्र है, इसलिये दृश्य चैतन्यस्वरूप द्वारा प्रतिलब्धात्मक है।

इसे भलीभाँति समझना आवश्यक है। सूर्य के ऊपर कोई अस्वच्छ द्रव्य उसे पूर्णतया न ढँके रहे तो वह कृष्णवर्ण आकारविशेष-सा दिखाई देता है, वस्तुतः उसके कारण सूर्य का केवल कुछ अंश दिखाई नहीं पड़ता है। मान लो यदि यह आच्छादक वस्तु चौकोर है तो कहना पड़ेगा, सूर्य में एक चौकोर अंश नहीं दीखता। वस्तुतः इस चौकोर वस्तु का ज्ञान सूर्य की उपमा या सूर्य-रूप द्वारा ही हो सकता है। द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार है। दृश्य को जानना, का अर्थ द्रष्टा को भलीभाँति न जानना। सोचो कि, मैंने नीलवर्ण को समझा यह एक दृश्य की प्रतिलब्धि है। नील तैजस परमाणु का प्रचय विशेष है; परमाणु में नीलत्व नहीं है; नीलत्व की प्रतीति उस प्रचय से होती है। विक्षेप संस्कार-वश बहुत से परमाणुओं को प्रचितभाव से ग्रहण करना ही नीलत्व का स्वरूप है। रूप-परमाणु नीलादि-विशेषशून्य रूपमात्र है। उसका ज्ञान इन्द्रियगत अभिमान का विकार या क्रियाविशेषमात्र है। वास्तव में अभिमान की क्रिया का अर्थ है 'मैं परिणामशील हूँ' इस प्रकार का भाव। परिणाम का अर्थ है पूर्व अवस्था का लय तथा पर अवस्था का उदय, इस प्रकार की भाव-धारा। परिणाम का सूक्ष्मतम अधिकरण क्षण है। अतः स्वरूपतः नीलज्ञान क्षणप्रवाह में उदीयमान और लीयमान मैंपन मात्र है (अवश्य ही साधारण अवस्था में वह लय लक्षित नहीं होता है)। मैंपन के लयकाल (अर्थात् चित्तलय) में द्रष्टा की स्वरूपस्थिति होती है और उदयकाल में द्रष्टा का दृश्यसारूप्य होता है। अतः दोनों चित्तलयों के (द्रष्टा की स्वरूपस्थिति के) बीच में जो द्रष्टा की स्वरूप में अस्थिति का बोध या स्वरूप का अबोध अर्थात् विकृत बोध है, वहीं क्षणावच्छन्न विषयज्ञान है। उसका प्रचयभाव ही नीलादिज्ञान होता है। इस प्रकार से जान पड़ता है कि नीलादि विषयज्ञान या दृश्यबोध द्रष्टा को प्रकार-

विशेष से न जानना मात्र है। द्रष्टा द्वारा मूलतः अहम्त्व का ही प्रकाश होता है। नीलज्ञान आदि उस मैंपन के उपाधिभूत हैं। उस रूप में वे भी द्रष्टा के स्वबोध द्वारा ही प्रकाशित होते हैं।

इसे और भी विशद रूप में कहा जाता है। 'मैं नील जान रहा हूँ' इस प्रकार के विषयज्ञान में द्रष्टा भी अन्तर्गत रहता है ("मैं जान रहा हूँ यह भी मैं जानता हूँ" इस प्रकार का भाव ही दृष्ट विषयक बुद्धि है)। नील ज्ञान बहुत सूक्ष्म चित्तक्रिया की समष्टि है। यह प्रत्येक क्रिया लय और उदय-धर्मा है। वस्तुतः बहु-क्रिया का अर्थ है उदीयमान तथा लीयमान क्रिया का प्रवाहमात्र। उस प्रवाह में प्रत्येक लय है द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति (१।३ सूत्र देखिये), और उदय है उसका अभाव। अतः दोनों लयों का मध्यस्थ भाव है स्वस्वरूप का अबोध या स्वरूप में अस्थिति का बोधमात्र। वही दृश्य स्वरूप है। पूर्वोक्त सूर्य की उपमा में जिस प्रकार सूर्य्य के प्रकाश से आच्छादक द्रव्य की अवधि प्रकाशित होती है, क्षणावछिन्न प्रत्यय समूह भी उसी प्रकार स्वबोध की उपमा में प्रकाशित होते हैं। अतएव दृश्य अन्य स्वरूप या पुरुषस्वरूप द्वारा प्रतिलब्ध भावस्वरूप हुआ।

ये दोनों व्याख्या परस्पर अविरुद्ध होने के कारण विभिन्न दिशात्मक सत्य हैं। द्रष्टा की लक्षण व्याख्या में यह और भी स्पष्ट होगा।

१७। (३) दृष्य स्वतंत्र होने पर भी परार्थता के कारण परतंत्र है। दृश्य का मूल रूप अव्यक्त है। द्रष्टा द्वारा उपदृष्ट न होने पर भी दृश्य अव्यक्त रूप में रहता है। परन्तु दृश्य स्वनिष्ठ परिणाम धर्म द्वारा परिणत हो जाता है। अतः वह स्वतंत्र भाव पदार्थ है, किन्तु दृष्ट-विषय होने के कारण परार्थ या द्रष्टा का अर्थ (विषय) है। वस्तुतः व्यक्त दृश्य भाव हैं भोग अर्थात् इष्टानिष्ट रूप अनुभाव्य विषय, अथवा अपवर्ग अर्थात् विवेकरूप विषय। उसके अतिरिक्त (पुरुष-विषय के सिवाय) दृश्य के दृश्यत्व-भाव का अन्य कोई अर्थ नहीं है। इस दृष्टि से ही दृश्य परतंत्र है। ठीक उसी प्रकार जैसे गवादि स्वतंत्र होने पर भी मनुष्य के भोग्य या अधीन होने के कारण परतंत्र हैं।

१७। (४) प्रकाशशील भाव सत्त्व होता है। जिस भाव में प्रकाश गुण का आधिक्य और क्रिया तथा स्थितिरूप रजस् एवं तमोगुण की अल्पता है वही सात्त्विक भाव होता है। सात्त्विक भाव मात्र ही सुखकर या इष्ट है, क्योंकि, क्रिया की आपेक्षिक अल्पता और प्रकाश की अधिकता ही सुखकर भाव का स्वरूप होता है। अतिक्रिया के विराम में या सहज क्रिया का अतिक्रम न करने पर उनके साथ ही जो बोध होता है वही सुखकर है; यह सभी का अनुभव है। सहज क्रिया का अर्थ है जितनी क्रिया करने में समस्त इन्द्रिय अभ्यस्त हैं उतनी क्रिया। इस क्रिया द्वारा जड़ता हटने पर जो बोध होता है वही सुख का स्वरूप होता है। स्फुट बोध तथा अपेक्षाकृत अल्प क्रिया नहीं होने से सुखकर अनुभव नहीं होता। सुखदुःखादि या सात्त्विकादि भाव आपेक्षिक हैं। अतः पहले या पीछे के बोध और क्रिया से स्फुटतर बोध और अल्पतर क्रिया होने से ही पहले या पीछे की अवस्था की अपेक्षा यह अवस्था सुखकर ज्ञात होती है। कायिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के सुख का ही यह नियम है। देह में हाथ फिराने से जब तक सहज क्रिया अतिक्रान्त नहीं होती तभी तक सुख का बोध होता है, अन्यथा पीड़ा होने लगती है। शरीर के स्वाच्छन्द्य-बोध का अर्थ है सहज क्रिया-जनित बोध। आगंतुक कारण से अत्यधिक क्रिया (Over stimulation)

होने पर ही पीड़ा का बोध होता है । आकाङ्क्षारूप मानस-क्रिया सहज होने पर सुख होता है, अत्यधिक होने पर दुःख होता है । इष्टप्राप्ति होने पर आकाङ्क्षा की निवृत्ति (मन की अतिक्रिया का ह्रास) होने से भी सुख होता है । मोह या सुख-दुःख-विवेक-हीन अवस्था में क्रिया रुद्ध या अल्प होती है, किन्तु स्फुट बोध नहीं रहता । इसकी अपेक्षा सुख में बोध स्फुटतर होता है । अतएव स्थिरतर प्रकाश-शील भाव (या सत्त्व) सुख का अविनाभावी होता है । और क्रियाशील भाव या रज दुःख का (कायिक या मानस) अविनाभावी होता है । रज से सत्त्व के विप्लुत होने पर ही दुःख बोध होता है । अतएव भाष्यकार ने सत्त्व को तप्य एवं रज को तापक कहा है । गुणातीत पुरुष तप्य नहीं होते । वे ताप और अताप के निर्विकार साक्षी या द्रष्टामात्र हैं । सत्त्व के तप्त या क्रियाधिक्य द्वारा विप्लुत होने पर उसका साक्षी पुरुष भी अनुतप्त सा प्रतीत होता है । इसी प्रकार सत्त्व की प्रबलता से आनन्दमय-सा प्रतीत होता है । किन्तु उस प्रकार विकृतवत् होना वास्तविक नहीं है । वह आरोपित धर्म होता है । प्रकृत पक्ष में तपक्रिया (तापदान) द्वारा सत्त्व में ही विकार या अवस्थांतर होता हैं । वृत्ति का साक्षित्व ही पुरुष का दर्शित-विषयत्व होता है ।

भाष्यम्—दृश्यस्वरूपमुच्यते—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशशीलं सत्त्वं, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तम इत्येते गुणाः परस्परोपरक्त-प्रविभागाः संयोगविभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्त्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्य-सम्भिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शित-सन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्त्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनु वर्त्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति, एतद्दृश्यमित्युच्यते । तदेतद्दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते, तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति । तत्तु नाप्रयोजनमपितुप्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्त्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद्दृश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः, भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति द्वयोरति-रिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति, तथा चोक्तम् 'अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिणि उपनीयमानान्सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्य-च्छङ्कते' इति ।

तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति, यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्येते स हि तस्य फलस्य भोक्तेति । एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भोक्तेति । बुद्धेरेव पुरुषा-र्थाऽपरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्त्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥ १८ ॥

भाष्यानुवाद—दृश्य का स्वरूप कहते हैं—

१८। दृश्य प्रकाश, क्रिया तथा स्थितिशील है, भूतेन्द्रियात्मक या भूत और इन्द्रिय इन दो प्रकारों से स्थित है और भोगापवर्गरूप विषयस्वरूप है।

सत्त्व प्रकाशशील रजस्, क्रियाशील और तमस् स्थितिशील है। ये सब गुण परस्पर उपरक्तप्रविभाग, संयोगविभागधर्म युक्त हैं और अन्योन्याश्रय द्वारा पृथ्वी आदि मूर्त्ति उत्पादन करते हैं; परस्पर में अंगांगिभाव रहने से भी इनका शक्ति-प्रविभाग असम्मिश्र है, ये तुल्य तथा अतुल्यजातीय शक्तिभेद के अनुपाती और अपने अपने प्राधान्य काल में कार्योत्पादन में उद्भूत वृत्ति (२) होते हैं,—

गुणत्व में भी (अप्राधान्य काल में भी) व्यापारमात्र द्वारा प्रधानान्तर्गतभाव से उनका अस्तित्व अनुमित होता है (३), पुरुषार्थकर्त्तव्यता द्वारा वे (कार्य उत्पादन करने की) सामर्थ्य से युक्त होने के कारण अयस्कान्त मणि की भाँति सन्निधिमात्रोपकारी होते हैं (४)। और वे प्रत्यय के बिना (धर्माधर्मादि हेतु या प्रयोजक के बिना) एकतम (प्रधान) की वृत्ति का अनुवर्त्तन करते हैं (५)। इस प्रकार के गुण सम्पूर्ण प्रधान शब्द वाच्य हैं। इनको ही दृश्य कहा जाता है। यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है, अर्थात् ये गुण जैसे भूतभाव या पृथिव्यादि सूक्ष्म स्थूलरूप में परिणत होते हैं, वैसे ही इन्द्रियभाव या श्रोत्रादि सूक्ष्म-स्थूल इन्द्रियरूप में परिणत होते हैं (६)। यह (दृश्य) बिना प्रयोजन के प्रवर्त्तित नहीं होता है, अपितु प्रयोजन-(पुरुषार्थ-) वश ही प्रवर्त्तित होता है। अतः यह दृश्य पदार्थ पुरुष के भोगापवर्ग के लिए ही प्रवर्त्तित होता है। उनके (दृष्ट दृश्य के) एकतापन्न-भाव में इष्ट तथा अनिष्ट गुणों का स्वरूपावधारण भोग होता है; और भोक्ता का स्वरूपावधारण अपवर्ग होता है। इन दो के अतिरिक्त दूसरा दर्शन नहीं होता। कहा भी है 'तीनों गुणों के कर्त्ता होने पर भी (अविवेकी व्यक्ति) अकर्त्ता, तुल्यातुल्यजातीय, गुणक्रिया-साक्षी जो चतुर्थ पुरुष है उसमें उपनीयमान (बुद्धि द्वारा समर्प्यमाण) समस्त धर्म को उपपन्न (सांसिद्धिक) जानकर और अन्य दर्शन (चैतन्य) है इस प्रकार की आशंका नहीं करते हैं' (पंचशिखाचार्य्य)।

ये भोगापवर्ग बुद्धि-कृत हैं, बुद्धि में ही वर्त्तमान हैं; अतः वे पुरुष में व्यपदिष्ट किस प्रकार होते हैं? जैसे युद्ध में जय तथा पराजय सैनिकों में वर्त्तमान होने पर भी सेनापति राजा में व्यपदिष्ट होता है और वे ही उस फल के भोक्ता होते हैं, वैसे ही बंध और मोक्ष बुद्धि में वर्त्तमान रहकर भी पुरुष में व्यपदिष्ट होते हैं, और पुरुष ही उस फल के भोक्ता होते हैं। पुरुषार्थ की (७) अपरिसमाप्ति ही बुद्धि का बन्ध है और तदर्थसमाप्ति मोक्ष। इस प्रकार ग्रहण (जानना), धारण (धृति), ऊह (मन में उठाना अर्थात् स्मृतिगत विषय का ऊहन), अपोह (चिन्तन द्वारा कुछ विषयों का निराकरण), तत्त्वज्ञान (अपोहपूर्वक कुछ विषयों का अवधारण) और अभिनिवेश (तत्त्वज्ञानपूर्वक तदाकारत्मभाव) ये सब गुण बुद्धि में वर्त्तमान होने पर भी पुरुष में अध्यारोपित होते हैं और पुरुष उस फल का भोक्ता होता है। (१।६ (१) देखिए।)

टीका—१८ (१) प्रकाशशील = जाननशील या बोध्य होने योग्य। क्रियाशील = परिवर्त्तनशील। स्थितिशील = प्रकाश तथा क्रिया का रोधनशील। सब प्रकार के ज्ञान तथा ज्ञेय, प्रकाश के उदाहरण हैं। सब प्रकार के क्रिया-कर्म, क्रिया के उदाहरण हैं। सब प्रकार

के संस्कार तथा धार्य भाव, स्थिति के उदाहरण हैं। सत्त्वादि का परिणाम द्विविध है—भूत और इन्द्रिय अर्थात् व्यवसेय और व्यवसायरूप। व्यवसाय = जानन, क्रिया और धारण। व्यवसेय = ज्ञेय, कार्य और धार्य। ज्ञान कार्य आदि वस्तुतः सत्त्व-रज-तम की मिली हुई वृत्ति हैं; अतः उनमें से प्रत्येक में प्रकाश, क्रिया और स्थिति प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ वृक्षज्ञान लीजिए, वृक्ष का ज्ञान या बोधांश ही प्रकाश है, जिस क्रियाविशेष द्वारा वृक्षज्ञान उत्पन्न होता है वह उस ज्ञान में लगी हुई क्रिया है और ज्ञान की जो शक्ति-अवस्था है—जो उद्रिक्त होकर ज्ञानस्वरूप होती है वही उसके अन्तर्गत धृति या स्थिति है। फलतः अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण—इन सब करणों में जो बोध प्राप्त होता है वही प्रकाश है; जो अवस्थान्तरता मिलती है वह क्रिया है; तथा क्रिया में जो शक्तिरूप पूर्व और पर जड़ावस्था (Stored energy) प्राप्त होती है वही स्थिति है। यही व्यवसाय रूप करण का प्रकाश, क्रिया और स्थिति हैं व्यवसेयरूप विषय में प्रकाश्य (रूपरसादि), कार्य या प्रचालनयोग्यता और जाड्य या प्रकाश्य तथा कार्य की रुद्धावस्था, ये तीन प्रकार के व्यवसेय रूप—प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति गुण—मिलते हैं।

वस्तुतः प्रकाश, क्रिया और स्थिति को छोड़कर ग्राह्य और ग्रहण का अर्थात् वाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का अन्य कोई तत्त्व नहीं जाना जाता या कुछ जानने योग्य नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सर्वत्र ही प्रकाश, क्रिया और स्थिति ये तीन गुण ही दिखाई देते हैं। वाह्य जगत् शब्दादि पाँच गुणों द्वारा ज्ञात होता है। शब्दादि में बोध या प्रकाश है; बोध का कारण क्रिया है; एवं उस क्रिया का कारण शक्ति है। व्यावहारिक घटादि भी विशेष विशेष शब्दादि रूप प्रकाशगुण, क्रियाधर्म काठिन्यादि जाड्य धर्म की समष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। चित्त में भी इसी प्रकार प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिरूप प्रकाश, क्रिया और स्थिति ये तीन गुण ही देखे जाते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि वाह्य तथा आन्तर जगत् में मूलतः प्रकाश, क्रिया और स्थिति ये तीन मौलिक गुण ही हैं। जिसका शील या स्वभाव केवल प्रकाश है वह सत्त्व है। सत्त्व का अर्थ है द्रव्य या 'अस्ति इति' रूप से ज्ञायमान भाव। प्रकाशित या बुद्ध होने पर वही विषय सत् कहा जाता है। अतः प्रकाशशील भाव का नाम सत्त्व है। क्रियाशील भाव रजस् है। रजस् या धूलि जिस प्रकार धूसरित या मलिन कर देती है उसी प्रकार सत्त्व को मलिन या विप्लुत कर देने के कारण क्रियाशील भाव का नाम रजस् होता है। क्रिया द्वारा अवस्थान्तर होने के कारण सत्त्व (या स्थिर सत्ता) असत् के समान या अवस्थान्तरित या लयोदयशील होता है। इसी कारण क्रिया सत्त्व को विप्लवकारी होती है। स्थितिशील भाव ही तम है। यह तम या अँधेरे के समान स्वगतभेदशून्य, अलक्ष्यवत् आवृत अवस्था में रहती है अतः उसका नाम तम होता है।

अतः प्रकाशशील सत्त्व, क्रियाशील रज और स्थितिशील तम ये तीनों भाव बाह्य तथा आन्तर जगत् के मूल तत्त्व हो जाते हैं। उनसे अतिरिक्त और कोई मूल ज्ञेय नहीं है। जो भी जो कुछ भी कहे, सभी इन त्रिगुणों के अन्तर्गत ही होगा।

दृश्य का अर्थ है दृष्ट-प्रकाश्य वा पुरुष-प्रकाश्य अर्थात् पुरुष के योग से जो व्यक्त होने योग्य है वही दृश्य कहलाता है, फलतः ज्ञाता के या द्रष्टा के संयोग से जो व्यक्त होता है, नहीं तो जो अव्यक्त रह जाता है वही दृश्य होता है। भूत और इन्द्रिय अर्थात् ग्राह्य और

ग्रहण ये द्विविध पदार्थ ही दृश्य की व्यवस्थिति हैं, इनके सिवाय और कुछ व्यक्त दृश्य नहीं है। भूत और इन्द्रिय त्रिगुणात्मक है अतः त्रिगुग ही मूल दृश्य है। दृश्य तथा ग्राह्य में भेद है। दृश्य का अर्थ है पुरुष-प्रकाश्य, ग्राह्य का अर्थ है इन्द्रिय-ग्राह्य।

द्रष्टा का अर्थ द्विविध है। अर्थात् समस्त दृश्य द्विविध हैं, अर्थस्वरूप या विषय-स्वरूप। भोग तथा अपवर्ग का वही अर्थ होता है। दृश्य भोग्य-स्वरूप अथवा अ-भोग्य अर्थात् अपवर्गस्वरूप होता है। भोग का अर्थ है इष्ट या अनिष्टरूप से दृश्य की उपलब्धि। दृश्य की उपलब्धि का अर्थ है द्रष्टा तथा दृश्य का अविशेष प्रत्यय या अविवेक। अपवर्ग का अर्थ है द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि, अर्थात् प्रकृत मैं दृश्य नहीं हैं अथवा द्रष्टा दृश्य से पृथक् है, इस प्रकार का विवेकज्ञान। इस ज्ञान के पश्चात् और अर्थता नहीं रहने के कारण उसका नाम अपवर्ग या चरम फल की प्राप्ति कहाती है। अपवर्ग होगे पर दृश्य निवृत्त हो जाता है।

अतएव सूत्रकार ने दृश्य का जो लक्षण किया है, वह गंभीर अनवद्य तथा सम्यक्-सत्य-दर्शन-प्रतिष्ठ होता है।

१८। (२) परस्परोपरक्त-प्रविभाग = गुणों का प्रविभाग या निज निज स्वरूपों का परस्पर द्वारा उपरक्त या अनुरंजित होना। सब गुण सदा ही विकारव्यक्ति-भाव से (जैसे रूप, रस, घट, पट इत्यादि) ज्ञायमान होते हैं। हर व्यक्ति में ही त्रिगुण मिश्रित है। उसका विश्लेषण कर देखने से एक ओर सत्त्व, एक ओर तमस् और बीच में रजस् मिलता है। सत्त्व बोलने से रजस् और तमस् रहेंगे ही। तजस् तथा तमस् के विषय में भी उसी प्रकार समझना चाहिए।

अतः गुण समूह आपस में उपरक्त हैं। प्रकाश सदा ही क्रिया तथा स्थिति द्वारा उपरक्त है। क्रिया और स्थिति भी वैसी होती हैं। उदाहरण यथा—शब्द ज्ञान, उसमें जो शब्द बोध है वह कम्पन और जड़ता द्वारा उपरंजित रहता है। अतएव सत्त्व, रज और तम—इस प्रकार का प्रविभाग करने पर प्रत्येक गुण अन्य दोनों से उपरंजित रहता है।

संयोगविभाग-धर्मा = पुरुष के साथ संयोग तथा वियोग, स्वभावयुक्त। यह मिश्र जी का मत है। भिक्षु जी कहते हैं 'परस्पर संयोग-विभाग-स्वभावयुक्त।' समस्त गुण संयुक्त रहने से भी उनका विभाग या प्रभेद है। ऐसा अर्थ करने पर ही भिक्षु जी की व्याख्या संगत होती है, नहीं तो गुणों का परस्पर वियोग कभी कल्पनीय नहीं होता है।

अन्योन्याश्रय द्वारा उत्पादित मूर्त्ति = त्रिगुणात्मक द्रव्य। सत्त्व आदि समस्त द्रव्य परस्पर सहकारि-भाव से सृष्टि करते हैं। अर्थात् सात्त्विक भाव में राजस और तामस भाव भी सहकारी रहते हैं। केवल सत्त्वमय, केवल रजोमय वा केवल तमोमय कोई भाव नहीं रहता। सर्वत्र ही एक की प्रधानता तथा अन्य दोनों की सहकारिता रहती है।

जिस प्रकार लाल, काले और श्वेत सूतों से बनी रस्सी में ये तीनों सूत अंगांगिभाव से और परस्पर सहकारि-भाव से रहने पर भी आपस में असंकीर्ण रहते हैं अर्थात् श्वेत श्वेत ही रहता है, काला काला ही तथा लाल लाल ही। त्रिगुण भी इस प्रकार असंमिश्र-शक्ति-प्रविभाग हैं, अर्थात् प्रकाशशक्ति, क्रिया शक्ति और स्थितिशक्ति सदा स्वरूपस्थ ही रहती हैं, कभी अपने अपने स्वरूप से नहीं हटती। प्रत्येक की शक्ति असंभिन्न है, अन्य द्वारा संभिन्न वा मिश्रित नहीं है।

प्रकाश आदि सब गुण परस्पर असंभिन्न होने पर भी आपस म सहकारी होते हैं।

अतएव कहते हैं कि 'गुण समूह तुल्य तथा अतुल्य जातीय शक्ति भेद के अनुपाती हैं।' तुल्य जातीय शक्ति = सात्त्विक द्रव्य की उपादान सत्त्वशक्ति। सत्त्वशक्ति के नाना भेदों से नाना प्रकार के सात्त्विक भाव होते हैं। सत्त्व की राजसी और तामसी शक्ति अतुल्यजातीय है। रजस् तथा तमस् की सात्विकी शक्ति भी इसी प्रकार है। सात्त्विकी शक्ति, राजसी शक्ति, तथा तामसी शक्ति के असंख्य भेदों से असंख्य-भाव उत्पन्न होते हैं। जिस भाव की जो शक्ति, प्रधान उपादान है वह (अर्थात् तुल्य जातीय शक्ति) उस भाव में स्फुटरूप से समन्विता या अनुपातिनी होगी। परंतु अन्य अतुल्यजातीय शक्ति भी उस भाव की सहकारि-शक्ति रूप से अनुपातिनी या उपादानभूता होती है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति में जो भी गुण प्रधान क्यों न हो, अन्य दोनों गुण उस प्रधान गुण के सहकारी भाव से रहते हैं। जैसे दिव्य शरीर = सात्त्विकी शक्ति का कार्य है, परन्तु इसमें राजसी और तामसी शक्ति सहकारि-रूप से अनुपातिनी रहती है।

प्रधान-वेला में उपदर्शित-सन्निधान—अपनी अपनी प्रधानता के समय कार्योत्पादन में उद्भूत-वृत्ति। प्रधान-वेला में = अपनी प्रधानता के समय उपदर्शित-सन्निधान = सान्निध्य उपदर्शित करते हैं अर्थात् यद्यपि गुण समूह स्थलविशेष में सहकारी रहते हैं, तथापि जब उनके प्राधान्य का समय आ जाता है उस समय वे अपने कार्य पैदा करते हैं। राजा की मौत के पश्चात् जैसे सन्निहित राजपुत्र शीघ्र राजा बन जाते हैं, उदाहरणार्थ—जाग्रत सात्त्विक अवस्था-विशेष में रज और तम सहकारी रहते हैं। किन्तु वे सन्निहित या मुखिया होकर रहते हैं, सत्त्व का प्राधान्य कम होते ही वे प्रधान होकर स्वप्न अथवा निद्रा-रूप अवस्था उद्भावित कर देते हैं। इसे ही कह चुके हैं कि प्राधान्य बेला में प्रधान होकर अपना सन्निधानत्व दिखाते हैं।

१८। (३) अप्राधान्य काल में भी (अर्थात् गुणत्व में भी) वे प्रधानता के अन्तर्गत भाव में रहते हैं यह व्यापारमात्र या सहकारिता द्वारा अनुमित होता है, जैसे शब्दज्ञान प्रकाश प्रधान या सात्त्विक होता है तथापि इसमें रज तथा तम अन्तर्गत हैं यह अनुमित होता है। शब्द में प्रत्यक्ष क्रिया नहीं देखी जाती, परन्तु हम जानते हैं कि बिना कम्पन से शब्दज्ञान नहीं होता, अतः शब्दज्ञान के सहकारी कम्पन या क्रिया हैं। इस प्रकार रजोगुण सत्त्वप्रधान शब्दज्ञान में अनुमित होता है।

१८। (४) पुरुषार्थ-कर्त्तव्यता इत्यादि। भोग तथा अपवर्ग पुरुषसाक्षिक भाव हैं। पुरुष की साक्षिता नहीं रहने पर गुण अव्यक्त होते हैं। उनकी वृत्तियाँ और कार्य नहीं रहते हैं। अतः गुणों की कार्योत्पादक सामर्थ्य पुरुषसाक्षिता या पुरुषार्थता से ही होती है। जैसे पुरुष की साक्षितामात्र द्वारा सन्निहित गुण भोग तथा अपवर्ग का साधन करते हैं, वैसे ही गुण सन्निधिमात्रोपकारी हैं। पुरुष का तथा गुण का सन्निधान घट-पट सन्निधान के समान दैशिक सन्निधान नहीं है, प्रत्युत केवल एक प्रत्यय की अन्तर्गतता ही वह सन्निधान है। 'मैं चेतन हूँ' इस प्रत्यय में चैतन्य और अचेतन करणवर्ग अन्तर्गत रहते हैं, वही गुण और पुरुष का सान्निध्य है। (२।१७ (१) देखिये।)

अयस्कांत-मणि जिस प्रकार सन्निहित होने पर ही लौह-कर्षण कार्य करती है, लौह में प्रत्यक्षतः अनुप्रवेश नहीं करती, गुण समूह भी उसी प्रकार पुरुष में अनुप्रवेश न कर

न्निध्य-वश ही पुरुष के उपकरण होकर उपकार करते हैं। समीप से कार्य करने को उपकार कहते हैं।

१८। (५) प्रत्ययव्यतिरेक इत्यादि । प्रत्यय = कारण; इस स्थल में जिस कारण से किसी गुण का प्राधान्य होता है वह कारण ही प्रत्यय है । जैसे धर्म सात्त्विक परिणाम का प्रत्यय या निमित्त है । तीनों गुणों में जिन दो गुणों के प्रधान रूप से प्रादुर्भाव का हेतु या निमित्त नहीं रहता, वे तीसरे प्रधानभूत गुण की वृत्ति का अनुवर्त्तन करते हैं । जैसे धर्म द्वारा सात्त्विक देवत्वपरिणाम प्रादुर्भूत होने से रज और तम उस सात्त्विक देवत्वपरिणाम के उपयोगी राजस और तामस भाव (जैसे स्वर्गसुख की चेष्टा तथा उसमें मुग्ध रहना) को साधन कर सत्त्वरूप प्रधान की देवत्व-रूप वृत्ति का अनुवर्त्तन करते हैं ।

इन गुणों का नाम प्रधान या प्रकृति होता है । किसी विकार का जो उपादान-कारण होता है वह प्रकृति है । मूला प्रकृति ही प्रधान है । गुणत्रय स्वरूप प्रकृति आन्तर तथा वाह्य समस्त जगत् का उपादान कारण होती है ।

इन सत्त्वादि तीन गुणों को जाने बिना सांख्ययोग या मोक्षविद्या नहीं समझी जा सकती । अतः इनका विवेचन और भी स्पष्टता के साथ किया गया है । समस्त अनात्म पदार्थ के दो विभाग हो सकते हैं, ग्रहण और ग्राह्य । उनमें समस्त ग्राह्य विषय, और समस्त ग्रहण इन्द्रिय हैं । ग्रहण से विषय का ज्ञान या चालन अथवा धारण होता है । शब्दादि ज्ञेय विषय, वाक्यादि कार्य विषय, और शरीरव्यूहादि धार्य विषय हैं । शब्द विषय का विश्लेषण करने पर शब्द-ज्ञान-स्वरूप प्रकाशभाव, कम्पन-रूप क्रिया-भाव, तथा कम्पन शक्ति रूप (Potential energy) स्थिति-भाव प्राप्त होते हैं । स्पर्शरूपादि के पक्ष में भी उसी प्रकार तीन भाव पाये जाते हैं ।

वागादि कर्मेन्द्रिय के विषय में भी तीन भाव प्राप्त होते हैं । वागिन्द्रिय द्वारा उच्चारित शब्द वर्णादिरूप प्रकारविशेष में परिणत होता है और वही वाक्यरूप कार्यविषय है । उसमें भी प्रकाशादि तीन भाव वर्त्तमान हैं । तमः प्रधान विषय धार्य विषय में भी ऐसा ही जानिए ।

करण समूह का विश्लेषण करने पर भी ये तीन ही भाव देखे जाते हैं । जैसे श्रवणेन्द्रिय; इसका गुण है शब्द को जानना । इसमें शब्दरूप ज्ञान प्रकाशभाव होता है । कर्ण की क्रिया, (Nervous impulse) जो वाह्य कम्पन से उद्रिक्त होती है, तथा कर्ण की अन्यान्य क्रिया कर्ण-स्थित क्रियाभाव हैं । स्नायु तथा पेशी आदि में जो शक्तिभाव (energy) रहता है, वह सक्रिय हो कर ज्ञान में परिणत होता है, यही कर्णगत स्थितिभाव है । इसी प्रकार पाणि नामक कर्मेन्द्रिय का पेशी-त्वागादि में जो बोध (tactile sense, muscular sense इत्यादि) हैं वह उसमें रहने वाला प्रकाशभाव है, हाथ का संचालन उसका क्रिया भाव है; और स्नायुपेशीगत शक्ति हाथ का स्थिति भाव है ।

ये वाह्य करण होते हैं । अन्तःकरण का विश्लेषण करने पर भी यह प्रकाश प्रधान प्रख्या, क्रियाप्रधान प्रवृत्ति और स्थितिप्रधान धारण भाव प्राप्त होते हैं । प्रत्येक वृत्ति का भी एक अंश प्रकाश, एक अंश स्थिति और एक अंश क्रिया होती है ।

इस प्रकार से जान पड़ता है कि आन्तर तथा वाह्य समस्त पदार्थ ही प्रकाश, क्रिया और स्थिति इन तीन भावों का स्वरूप है । इसके अतिरिक्त बाह्य तथा अन्तर का और कुछ

ज्ञेयभूत मूल उपादान नहीं है एवं हो भी नहीं सकता है। अतः सत्त्व, रज और तम जगत् के मूल उपादान हैं।

शक्ति के अतिरिक्त क्रिया नहीं होती, क्रिया के अतिरिक्त कोई बोध नहीं होता; वैसे ही बोध होने से पहले क्रिया अवश्य रहती है और क्रिया से पहिले शक्ति अवश्य रहती है। अतः प्रकाश, क्रिया और स्थिति परस्पर अविनाभाव संबन्ध से सम्बद्ध है। एक भाव रहने से अन्य दो भी रहते हैं। इनमें किसी एक भाव की प्रधानता रहने से उसी गुणानुसार पदार्थ का नाम होता है। यह नाम आपेक्षिकता को सूचित करता है, जैसे ज्ञान में प्रकाश-गुण अधिक होने के कारण ज्ञान को सात्त्विक कहा जाता है यह कर्म की अपेक्षा से सात्त्विक होता है। फिर ज्ञानों में भी कोई ज्ञान अन्य ज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रकाशवान हो तो उसे उन ज्ञानों की अपेक्षा अधिक सात्त्विक कहा जाता है। किसी को सात्त्विक कहने से तद्वर्गीय राजस और तामस भी हैं, यह समझना चाहिये। सात्त्विक द्रव्य अन्य राजस और तामस द्रव्य की अपेक्षा अधिक सात्त्विक होता है। 'केवल सात्त्विक' कोई भी वस्तु नहीं हो सकती। राजस तथा तामस के संबंध में भी ऐसा ही नियम है। अतएव सत्त्वादि गुण, जाति तथा व्यक्ति प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान हैं। केवल एक या दो जाति अथवा व्यक्ति रहने से तुलना का अभाव होने के कारण अवश्य यह सात्त्विकादि पदार्थ है ऐसा वक्तव्य नहीं होगा अथवा तुलना के अयोग्य बहुत पदार्थ रहने पर भी वे सात्त्विकादि रूप से निर्णीत नहीं होंगे।

अतः जगत् वा समस्त विकारशील भाव-पदार्थ सात्त्विक, राजस वा तामस रूप से निर्णीत हो सकते हैं। वैकल्पिक जो अवास्तव जातिपदार्थ हैं, जो केवल एक या दो हैं वे सात्त्विकादि नहीं हो सकते। जैसे कि सत्ता = सत् का भाव; जो सत् है वही भाव है, अतएव सत्ता राहु के सिर के समान वैकल्पिक पदार्थ हुआ। वैसे ही भाव, अभाव इत्यादि पदार्थ भी वैकल्पिक हैं। घट-पट आदि पदार्थ वास्तव में हैं, पर 'भाव' यह नाम-घटादि का साधारण नाम होता है। उस नाम से किसी अर्थ का बोध ही 'भाव' पदार्थ का ज्ञान होता है। किन्तु, चक्षु आदि द्वारा 'भाव' ज्ञात नहीं होता है, घट पट आदि ज्ञात होते हैं। अतः भाव सात्त्विक है या राजस यह नहीं कहा जा सकता। जहाँ पर भाव द्रव्यवाचक होता है, वहाँ पर अवश्य ही वह गुणमय होगा।

फलतः काल्पनिक अवास्तविक पदार्थ का कारण सत्त्वादि न होने पर भी हानि नहीं है, लेकिन सत्त्वादि गुण सभी विकारशील वास्तविक पदार्थ के मूल कारण होते हैं। ये सब विषय समझने पर भाष्यकार के गुण संबंधी विशेषण वर्ग का अर्थ सरलतया बोधगम्य होगा।

१८। (६) गुण समूह दृश्य के मूल रूप हैं। भूत और इन्द्रिय या करणवर्ग दृश्य के वैकारिक रूप हैं। दृश्य की प्रवृत्ति, जिसके फल से दृश्य की उपलब्धि होती है, द्विविध है। अर्थात् दृश्य का विषयभाव (अर्थता) द्विविध है, यथा भोग तथा अपवर्ग। गुणसमूह दृश्य के स्वरूप हैं, भूतेन्द्रिय दृश्य के विरूप (वा विकार रूप) हैं एवं अर्थ या दृश्य की क्रिया = द्रष्टा और दृश्य के संबन्ध भाव है।

दृश्य की प्रवृत्ति द्विविध है—एक प्रवृत्ति के लिए प्रवृत्ति, और एक निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति; जैसे विषयानुराग और ईश्वरानुसार। प्रथम का फल भोग या संसार है, द्वितीय का फल अपवर्ग या संसार-निवृत्ति।

अर्थ माने द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध भाव। जब अविद्यावश द्रष्टा और दृश्य एक समान संबद्ध होते हैं, तभी उसका नाम भोग कहा जाता है। भोग दो प्रकार के होते हैं—इष्टविषयावधारण और अनिष्टविषयावधारण। अर्थात् मैं सुखी हूँ एवं मैं दुखी हूँ इन दो प्रकारों से द्रष्टा और दृश्य का अभेद प्रत्यय होता है। 'मैं सुख दुःख शून्य हूँ' इस प्रकार से विषय और द्रष्टा का भेद-प्रत्यय ही अपवर्ग होता है।

भोग एक प्रकार की उपलब्धि या ज्ञान है तथा अपवर्ग भी एक प्रकार का ज्ञान है। पुरुष भोग तथा अपवर्ग दोनों का भोक्ता है। भोग और अपवर्ग जब ज्ञानविशेष होता है तब भोक्ता का अर्थ है ज्ञाता। वस्तुतः जिस प्रकार दृश्य के साथ द्रष्टा का सम्बन्ध भाव लक्ष्य करके दृश्य को अर्थ कहा जाता है, उसी प्रकार उसी संबन्ध भाव को लक्ष्य करके द्रष्टा को भोक्ता कहा जाता है। विज्ञाता और विज्ञेय पृथक् भाव होने के कारण विज्ञेय पदार्थ की विकृति से विज्ञाता विकृत नहीं होता। अतएव द्रष्टा पुरुष, दृश्य-दर्शन का अविकारी तथा अविनाभावी हेतु होता है। दृश्य तद्दर्शन का विकारी हेतु है। **पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** (गीता)। भाष्यकार ने जयपराजय की उपमा से भोक्ता की अविकारिता तथा अकर्तृता प्रदर्शित की हैं।

सुख-दुःख स्वयं अचेतन और बुद्धिधर्म हैं। करण वर्ग में अनुकूल क्रियाविशेष होने से उनका प्रकाश भाव ही सुख का स्वरूप होता है। अतः सुख अचेतन प्रकाशित क्रियाविशेष हुआ। ' मैं सुखी हूँ ' इस प्रकार चिद्रूप आत्मा के साथ सम्बन्ध भाव होने पर ही सुख सचेतन या चेतना- सा होता है। इसे ही भाष्यकार ने पहले 'पौरुषेय चित्त वृत्तिबोध' कहा है (१।७)। चिद्रूप पुरुष-संबन्ध के बिना सुख अचेतन, अदृश्य और अव्यक्तस्वरूप होता है। अतएव सुख की व्यक्ति चेतन पुरुषसापेक्ष होती है। सुख दुःख आदि पुरुषभोग्य होते हैं। सुख-दुःखादि का पौरुष संवेदन रहने के कारण ही दुःख छोड़कर सुख की ओर और सुख-दुःख त्याग कर कैवल्य की ओर प्रवृत्ति होती है।

आचार्य शंकर ने भी आत्मा को भोक्ता नहीं कहा, वस्तुतः उन्होंने भोक्ता शब्द का प्रकृत अर्थ हृदयंगम न कर सांख्यपक्ष पर दोषारोपण किया है। सांख्य में भोक्ता का अर्थ है विज्ञाता-विशेष। शंकर ने आत्मा का अर्थ किया है 'भोक्ता की आत्मा'। अतः शंकर के अनुसार-आत्मा 'विज्ञाता का विज्ञाता' है और इस प्रकार एक अलीक पदार्थ हो जाता है। अतः पुरुष भोग तथा अपवर्ग का भोक्ता है। अतः सांख्यीय दर्शन ही न्याय्य, गम्भीर तथा अनवद्य है। गीता में भी ऐसा ही कहा है।

१८। (७) पुरुषार्थ की अपरिसमाप्ति का अर्थ है भोग का अनवसान एवं अपवर्ग की अप्राप्ति और उसकी परिसमाप्ति का अर्थ है भोग का अवसान एवं अपवर्ग की प्राप्ति। भोग का दार्शनिक नाम, बन्ध और अपवर्ग का मोक्ष है। अतः बन्ध तथा मोक्ष पुरुष में नहीं, परन्तु बुद्धि में ही रहते हैं; पुरुष में केवल द्रष्टृत्व है।

बुद्धि या अन्तःकरण के समस्त मौलिक कार्य भाष्यकार-द्वारा संग्रहीत हैं। ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, तत्त्वज्ञान तथा अभिनिवेश ये छः चित्त के मौलिक मिलित कार्य हैं।

ग्रहण=ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा प्राण-द्वारा किसी विषय का बोध, चित्तभाव का साक्षात् बोध (अनुभव) भी ग्रहण होता है। ज्ञानेन्द्रिय-द्वारा नील-पीतादि बोध, कर्मेन्द्रिय द्वारा वागुच्चारणादि का कौशल बोध, प्राणद्वारा पीड़ादि देहगत बोध तथा मन-द्वारा

सुखादि मनोभाव का जो बोध होता है, वह (अर्थात्, स्मरण ज्ञानादि का समस्त बोध भी) ग्रहण होता है।

धारण-द्वारा समुदय अनुभूत विषय चित्त म विधृत होते हैं। समस्त संस्कार ही धारण कहाते हैं। धृत विषय के ग्रहण का नाम है स्मृति। स्मृति, ज्ञानवृत्ति विशेष है वह धारण नहीं है। मिश्र जी धारण का अर्थ स्मृति कहते हैं। परन्तु वह स्मृति अनुभव-विशेष नहीं, धारण-मात्र है। स्मृति के दोनों प्रकार के अर्थ ही होते हैं।

ऊह—धृत विषय का उत्तोलन अर्थात् स्मरणार्थ चेष्टा। गृहीत विषय विधृत होता है, विधृत विषय को मन में उठाना ही ऊह है।

अपोह—ऊहित विषयों में से किसी का त्याग एवं आवश्यक विषयों का ग्रहण।

तत्त्वज्ञान—अपोहित विषय की एक भावाधिकरणता (एक भाव में बहुभाव अन्तर्गत हैं ऐसा समझना) तत्त्व होता है। उसका ज्ञान तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान लौकिक तथा पारमार्थिक दोनों प्रकार का है। गोतत्त्व, धातुतत्त्व आदि लौकिक हैं, भूततत्त्व, तन्मात्रतत्त्व आदि पारमार्मिक हैं।

अभिनिवेश—तत्त्वज्ञान के पश्चात् प्रवृत्ति या निवृत्ति। ज्ञान के पश्चात् ज्ञेय पदार्थ की हेयता या उपादेयता के विषय में जो कर्तव्य का निश्चय है वही अभिनिवेश है।

अन्तःकरण की चिन्तन प्रक्रिया इन छः भागों में विश्लिष्ट हो सकती है। जैसे—नील, पीत, मधुर, अम्ल आदि बहुत विषयों को चित्त ग्रहण करता है फिर वे चित्त में विधृत होते हैं। अनुव्यवसाय काल में वे नीलादि ऊहित होते हैं: पश्चात् नील मधुर आदि विषय अपोहित हो रूप रस इत्यादि बहुतों में साधारण एक एक भाव पदार्थ का अपोह होता है। रूप = नील पीत आदि पदार्थ की एक भावाधिकरणता अर्थात् नील, पीतादि समस्त अपोह रूप नामक एक पदार्थ के अन्तर्गत है। रूप एक तत्त्व है; उसका ज्ञान तत्त्वज्ञान होता है। इस प्रक्रिया से तत्त्वज्ञान को जानकर रूप-पदार्थ को हेय वा उपादेय भाव से व्यवहार करना अभिनिवेश है। यह भूततत्त्वज्ञान संबन्धी उदाहरण है, साधारण तत्त्वज्ञान में या घट-पट आदि विज्ञान में ऐसा ही समझना चाहिये। १.६ (१) देखिए।

एकाग्रादि समस्त व्युत्थित चित्त में ये सब रहते हैं और निरुद्ध चित्त में ये सब निरुद्ध होते हैं। लौकिक तथा पारमार्थिक सभी विषयों में ग्रहण-धारणादि रहते हैं। ग्रहण व्यवसाय, धारण रुद्धव्यवसाय तथा ऊह, अपोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश अनुव्यवसाय होते हैं। तत्त्वसाक्षात्कार में जहाँ विचार नहीं रहता वहाँ वह व्यवसाय है।

ये व्यवसाय बुद्धि या अन्तःकरण के धर्म हैं। मलिन बुद्धि में द्रष्टा का और दृश्य का अभेद निश्चय होकर व्यवसाय चलता रहना ही अविद्या है; और प्रसन्न बुद्धि म द्रष्टा एवं दृश्य की भेद-ख्याति होकर व्यवसाय चलता रहना, विद्या है। अतएव व्यवसाय द्रष्टा में केवल आरोपित होता है, वह वस्तुतः बुद्धि में ही रहता है। पुरुष केवल व्यवसाय का फल-भोक्ता या चित्त व्यापार का विज्ञाता है।

भाष्यम्—दृश्यानान्तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १६ ॥

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थमित्ये तान्यस्मिता लक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः। गुणानामेष षोडश को विशेष परिणामः। षड्अविशेषास्तद् यथा शब्द तन्मात्र स्पर्श तन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं च इत्येकद्वित्रि चतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत् तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति, प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्तीति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामः, निःसत्ताऽसत्तव्यालिङ्गपरिणाम इत्ति। अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुः, नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति, नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते। त्रयाणान्त्ववस्थाविशेषामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति स चार्थो हेत निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते।

गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वीयनीभि रुपजनायायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते, यथा देवदत्तो दरिद्राति, कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं, न स्वरूपहानादिति समः समाधिः। लिङ्गमात्रम् अलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं, तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः। तथा षड बिशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते। परिणामक्रमनियमात्तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथा चोक्तं पुरस्तान्न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ति, इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तर परिणामः, तेषान्तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥ १६ ॥

भाष्यानवाद—दृश्य-स्वरुप गुणों के स्वरुप तथा भेद के अवधारणार्थ यह सूत्र आरम्भ होता है—

१६। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र तथा अलिङ्ग ये सब गुणपर्व हैं।

उनमें आकाश, वायु, अग्नि, उदक् और भूमि ये भूत हैं; ये शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र इन सब अविशेषों के विशेष हैं (२)। इसी तरह श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पांच वुद्धीन्द्रिय; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय तथा सर्वार्थ (उभयेन्द्रियार्थ) एकादश संख्यक मन, ये सब अस्मितालक्षण अविशेष के विशेष हैं। गुणों के ये षोडश विशेष परिणाम हैं। अविशेष (३) परिणाम ६ प्रकार के हैं; शब्द तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ये शब्दादितन्मात्र पञ्च अविशेष हैं; ये क्रमानुसार एक, दो, तीन, चार और पंच लक्षण हैं। छठा अविशेष अस्मिता (४) है। ये सत्तामात्र-आत्मा महत् के छः अविशेष परिणाम (५) होते हैं। इन अविशेषों से परे लिङ्गमात्र महत्तत्व होता है, उस सत्तामात्र महदात्मा में वे (अविवेषगण) अवस्थान कर विवृद्धिकी चरम सीमा प्राप्त करते हैं; और लीयमान

होकर उस सत्तामात्र महदात्मा म अवस्थान कर (अर्थात् तदात्मकत्व प्राप्त कर) निः-सत्तासत्त, निःसदसत् निरसत्, अव्यक्त और अलिङ्ग जो प्रधान (प्रकृति) है उसमें प्रलीन होते हैं (६) । सब अविशेषों का पूर्वोक्त परिणाम लिङ्गमात्र-परिणाम है और निःसत्ता-सत्त अलिङ्ग-परिणाम है । अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ हेतु नहीं है, (क्योंकि) पुरुषार्थता अलिङ्गिावस्था का आदि कारण नहीं हैं । अतः पुरुषार्थता उसका हेतु भी नहीं है और वह पुरुषार्थकृत नहीं है । फिर भी उसे नित्या कह जाता है (७) । त्रिविध विशेष अवस्थाओं (विशेष, अविशेष और लिङ्गमात्र) की आदि में पुरुषार्थता कारण होती है । यह हेतु-भूत पुरुषार्थ निमित्त कारण है, अतः उन (अवस्थात्रयको) अनित्य कहा जाता है ।

सब सर्वधर्मानुपाती होते हैं, वे प्रत्यस्तमित अथवा उपजात नहीं होते (८) । गुणान्वयी, आगमापायी एवं अतीत तथा अनागत व्यक्ति के (एक एक कार्य) द्वारा गुण-त्रय मानो उत्पत्ति-विनाशशील के समान प्रत्यवभासित होते हैं । जैसे – देवदत्त की दुर्गति हो रही है, क्योंकि उसके गोसमूह मरे जा रहे हैं गोसमूह की मरना ही जिस प्रकार देवदत्त की दरिद्रता का कारण होता है, परन्तु स्वरूपहानि उसका कारण नहीं होता; गुणत्रय के संबन्ध में भी उसी प्रकार समाधान करना चाहिए । लिङ्गमात्र (महत्) अलिङ्ग का प्रत्यासन्न (अव्यवहित कार्य) होता है । अलिङ्गावस्था में वह (लिङ्गमात्र) संसृष्ट (अविभक्त अर्थात् अनागत रूपसे स्थित) रह कर (व्यक्तावस्था में) क्रमानतिक्रम के कारण (९) विविक्त या भिन्न होता है । इसी प्रकार छः अविशेष लिङ्गमात्र में संसृष्ट रहकर विविक्त होते हैं । इसी प्रकार से परिणाम-क्रम-नियम से इन अविशेषों में सब भूतेन्द्रिय संसृष्ट रहकर विभक्त वा व्यक्त होते हैं । पहिले ही कहा जा चुका है कि विशेष के परे और तत्त्वान्तर नहीं है । विशेष का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है; उन के धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन तीन परिणामों की व्याख्या आगे होगी (३।१३) ।

टीका—१९ । (१) विशेष = जो बहुतों में साधारणतः नहीं होता । अविशेष = जो बहुत कार्यों का साधारण उपादान है । विशेष = भूतेन्द्रियादि षोड़शसंख्यक विकार । अविशेष = तन्मात्रात्मक भूतकारण एवं अस्मिता रूप इन्द्रिय तथा तन्मात्राओं का कारण । विशेष शान्त या सुखकर, घोर या दुःखकर और मूढ़ या मोहकर है । अविशेष, शान्त, घोर और मूढ़भाव इन सब से शून्य है । नील, पीत, मधुर, अम्ल आदि नाना भेदयुक्त द्रव्य विशेष हैं । इन भेदों से रहित द्रव्य अविशेष होते हैं । षोडश विकार की पारिभाषिक संज्ञा विशेष और उनकी छः प्रकृतियों की संज्ञा अविशेष है ।

लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व । यद्यपि प्रकृति के रूप से वह अविशेष होता है, तथापि लिङ्ग शब्द ही उसकी विशद संज्ञा है । लिङ्ग का अर्थ है गमक । जो जिसका गमक या अनुमापक होता है वह उसका लिङ्ग कहा जाता है । महत्तत्त्व आत्मा का और अव्यक्त का गमक होता है । अतएव यह उनका लिङ्ग है । लिङ्ग मात्र का अर्थ है स्वरूप या मुख्य लिङ्ग । इन्द्रियादि भी पुरुष तथा प्रकृति का लिङ्ग हो सकते हैं । परन्तु वे अपने अपने साक्षात् कारणों के ही प्रधान लिङ्ग होते हैं । महान् पुम्प्रकृति का लिङ्गमात्र है ।

लिङ्ग अखिल वस्तुओं का व्यंजक है, तन्मात्र = लिङ्गमात्र ; यह विज्ञानभिक्षु की व्याख्या है । अखिल वस्तुओं के व्यंजक-भाव से यह लिङ्ग नहीं होता है, किन्तु वह पुम्प्रकृति-का लिङ्ग है ।

अलिङ्ग = प्रकृति । वह किसी का भी लिङ्ग नहीं, कारण उसका और कारण नहीं है । **'न वा किञ्चिल्लिङ्गयति गमयतीति अलिङ्गम् ।'**

लिङ्ग शब्द का दूसरा अर्थ भी किया जाता है । यथा—**लीन गच्छतीति लिङ्गम् ।** तब अलिङ्ग का अर्थ जो और लय नहीं पाता **"लिङ्गयति ज्ञापयतीति लिङ्गमनुमापकम"** यह चन्द्रिकाकार की व्याख्या है ।

विशिष्टलिङ्ग, अविशिष्ट लिङ्ग, लिङ्गभाव और अलिङ्ग ये चार प्रकार के पदार्थ गुणरूप वंश के पर्वस्वरूप होते हैं । अतएव इन्हें गुणपर्व कहा जाता है ।

१९—(२) साधारणतया जो जल, मिटी आदि हैं वे भूततत्त्व नहीं है । जो शब्द-लक्षण-सत्ता है वही आकाश है; इसी प्रकार स्पर्शलक्षणा, रूपलक्षणा, रसलक्षणा और गन्धलक्षणा सत्ताओं के क्रम से वायु, तेज, अप्, और क्षिति नामक तत्त्व हैं । शास्त्र में कहा है—**शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षणः । ज्योतिषां लक्षणं रूपमापश्च रसलक्षणः । धारिणी सर्वभूतानां पृथ्वी गन्धलक्षणा ।।** (अश्वमेध पर्व) । अतः तत्त्व दृष्टि से क्षिति आदि भूत समूह गन्धादि लक्षण सत्तामात्र हैं । मिट्टी, पानीय, जल आदि पंचीकृत भूत हैं । अर्थात् वे सब पंचभूत के समष्टिविशेष हैं ।

अतात्त्विक कारण-दृष्टि से समझा जाता है कि आकाश वाय के कारण है, वायु तेज और तेज, जल तथा जलभूत क्षितिभूत निमित्त कारण हैं । वैज्ञानिक प्रणाली से तथ्यानुसन्धान करने पर देखा जाता है कि शब्द की लहर रुद्ध होने पर ताप उत्पन्न होता है, ताप से रूप और रूप (सूर्यालोक) से समस्त रासायनिक द्रव्य (उद्भिज्जादि) उत्पन्न होते हैं, रासायनिक द्रव्य का सूक्ष्म चूर्ण ही गन्धज्ञान उत्पादन करता है । शास्त्र भी कहते हैं, (महाभारत, मोक्षधर्म, भृगुभारद्वाज संवाद) भूतसर्ग के आदि में सर्वव्यापी शब्द हुआ, पश्चात् वायु, फिर उष्ण तेज, तदनु तरल जल, और फिर कठिन क्षिति हुई । अतएव निमित्त दृष्टि से जो शब्द गुणक है उससे स्पर्श, स्पर्शगुणक द्रव्य से रूप इत्यादि प्रकार से क्रम देखे जाते हैं । इस प्रकार से गन्धाधार द्रव्य शब्दादि पाँच लक्षणों के आधार हैं । रसाधार गन्ध के अतिरिक्त चार लक्षणों का आधार है । रूपाधार रूपादि तीन का आधार है स्पर्शाधार दो-का एवं शब्दाधार शब्द मात्र का आधार है । प्रलय काल में भी उसी प्रकार क्षिति अप् में, अप् तेज में इत्यादि रूप से लय हो जाते हैं । यद्यपि व्यवहारिक भूतभाव इस प्रकार आकाशादि क्रम से उत्पन्न होता है, तात्त्विक वा उपादान-दृष्टि से वैसा नहीं होता है । उसमें शब्दतन्मात्र स्थूल शब्द का कारण है, स्पर्शतन्मात्र स्थूल स्पर्श का, इत्यादि क्रम ग्रहण करना होगा ।

इन्द्रियज्ञान की या ग्रहण की दृष्टि से देखा जाय तो गन्धज्ञान सूक्ष्म चूर्ण के सम्पर्क से होता है । रसज्ञान तरलित द्रव्यजनित रासायनिक क्रिया द्वारा होता है । उष्णता से ही रूपज्ञान होता है । अर्थात् उष्णता विशेष तथा रूप सदा सहभावी हैं * । प्रधानतः स्पर्शज्ञान वायवीय द्रव्ययोग से ही होता है । हमारी त्वचा वायु में निमग्न है; शीतोष्ण रूप

---

* द्रव्य विशेष से इस उष्णता का तारतम्य होता है । फासफोरास् अत्यल्प उष्णता से आलोकवान् होता है, पर उसमें भी Oxidation-जनित उष्णता है । सूर्य के उष्णताजनित आलोक से ही दिन में हमारे सभी रूप ज्ञान होते हैं ।

स्पर्शज्ञान उस वायुगत ताप से ही प्रधानतः होता है। और शब्द-ज्ञान के साथ आवरण शून्यता या रिक्तता का ज्ञान होता है। इसी प्रकार काठिन्य-तारल्य आदि अवस्था के साथ भूतज्ञान का संबंध है। किन्तु काठिन्य-तारल्यादि ताप के तारतम्य मात्र से बनते हैं, वे तात्त्विक गुण नहीं हैं।

अतएव तत्त्वदृष्टि द्वारा साक्षात्कार करने पर भूतसमूह केवल शब्दमय सत्ता, स्पर्शमय सत्ता इत्यादि जान पड़ते हैं। व्यवहारतः उन शब्दादि के साथ उनके सहभावी काठिन्यादि भी ग्राह्य हैं। संयम-द्वारा भूतजय करने में काठिन्यादि भाव भी इसी कारण ग्रहीत होता है।

क्षिति आदि भूतगण विशेष हैं वे गन्धादि तन्मात्रों के विशेष हैं। विशेष शब्द यहाँ पर तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। षड्ज-ऋषभ, शीत-उष्ण, नील-पीत, मधुर-अम्ल, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि शब्द इत्यादि के जो भेद हैं, उनका नाम विशेष है। भूतसमूह तादृश विशेष होते हैं; तन्मात्र तादृश विशेष से रहित हैं। (३) शान्त, घोर तथा मूढ़ ये तीन भाव भी विशेष हैं, शब्दादि विशेष के शान्तादि विशेष सहभावी हैं। षड्जादि विशेष का ज्ञान नहीं रहने पर भी वैषयिक सुख तथा दुःख तथा मोह उत्पन्न होते हैं। (३) भूतसमूह चरम विकार होने के कारण (वे अन्य विकार की प्रकृति न होने के कारण,) विशेष हैं। अतएव भूतसमूह का लक्षण इस प्रकार है—जो नानाविध शब्द का गुणी एवं सुखादिकर होता है वही आकाश है; वैसे ही सुखादिकर नाना स्पर्श का गुणी वायु है; तेज आदि भी उसी प्रकार हैं।

ये पंचभूतस्वरूप, ग्राह्य विशेष हैं। इन्द्रिय रूपविशेष एकादश से साधारणतः एकादश परिगणित हुए हैं। वे द्विविध हैं—वाह्य इन्द्रिय तथा आन्तरिन्द्रिय। वाह्येन्द्रियगण वाह्य विषय का व्यवहार करते हैं। आन्तरिन्द्रिय मन वाह्य करणार्पित शब्दादि तथा आन्तरिक अनुभव जात सुखादि और चेष्टादि विषय लेकर व्यवहार करते हैं।

वाह्येन्द्रिय साधारणतः दो प्रकार परिगणित होते हैं; यथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। प्राण उनके अन्तर्गत होने के कारण पृथक् नहीं गिना जाता, परन्तु प्राण भी वाह्येन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रिय सात्त्विक, कर्मेन्द्रिय राजस और प्राण तामस है। वे प्रत्येक पाँच पाँच हैं। ज्ञानेन्द्रिय है शब्दग्राही कर्ण, शीत और ताप रूप स्पर्शग्राही त्वचा, रूप ग्राही चक्षु, रसग्राही रसना तथा गन्धग्राही नासिका। कर्मेन्द्रिय हैं—वाक्यविषयां वाक्, शिल्प-विजय पाणि, गमन विषय पाद, मलमूत्र विसर्ग विषय पायु प्रजननविषय उपस्थ *। प्राण, उदान, व्यान, अपान

---

* साधारणतः पाणि का कार्य ग्रहण कहा जाता है परन्तु इसमें सम्पूर्ण पाणि-कार्य नहीं होता। अतः उसमें त्याग को भी पाणिकार्य बोलना चाहिये। वस्तुतः पाणि का कार्य शिल्प है। शास्त्र-भी है 'विसर्गशिल्प गत- युक्तिः कर्म तेषां च कथ्यते।" (विष्णु पुराण)।

वैसे साधारणतः उपस्थ का कार्य आनन्द मात्र कहा जाता है। वह भी भ्रान्ति है। आनन्द कार्य नहीं है, पर बोध विशेष है। उपस्थ-कार्य के साथ साधारणतः आनन्द संयुक्त रहने के कारण, इस प्रकार कहा जाता है। परन्तु उपस्थ का कार्य है प्रजनन। शास्त्र भी है प्रजननानन्दयोः शेफो निसर्गे पायुरिन्द्रियम्।" मोक्षधर्म २१६ अः। बीजसेक तथा प्रसवरूप कार्य ही उपस्थ का है। वह आनन्द तथा पीड़ा दोनों भावों से ही युक्त हो सकता है। गौड़ पादाचार्य जी भी कहते हैं, आनन्द का अर्थ है प्रजनन, क्योंकि पुत्रोत्पत्ति से भी आनन्द होता है।

और समान ये पंच प्राण हैं। प्राण का कार्य है शरीर के वाह्योद्भव बोधांश का धारण ; उदान का कार्य धातुगत बोधांश का धारण ; व्यान का कार्य चालनांश का धारण ; अपान का कार्य समस्त शरीरमल का अपनयनकारी अंश का धारण ; समान का कार्य समनयन कारी अंश का धारण। (विशेष विवरण ' 'सांख्यतत्त्वालोक' तथा सांख्यीय प्राणतत्त्व' में देखिए।)

आन्तरिन्द्रिय मन है। **"मनः संकल्प कर्मेन्द्रियम्"** अर्थात् मन विषय का संकलपकारी है। सम्यक् कल्पन अर्थात् ग्रहण, चेष्टा तथा धारण ही संकल्प है। इच्छापूर्वक ज्ञेयादि विषय का व्यवहार ही संकल्प है।

पञ्च भूत, दस वाह्येन्द्रिय और मन ये षोड़श विकार ही विशेष हैं। ये अन्य विकार के उपादान नहीं। ये शेष विकार हैं।

१६। (३) अविशेष छः हैं। पञ्चभूत का कारण पञ्चतन्मात्र है और तन्मात्र तथा इन्द्रिय कारण अस्मिता है।

तन्मात्र का अर्थ है 'केवल वही' अर्थात् शब्दमात्र, स्पर्शमात्र इत्यादि। षड़जऋषि-भादि विशेषशून्य सूक्ष्म शब्दमात्र ही शब्दतन्मात्र है। स्पर्शादि तन्मात्र भी ऐसे ही हैं। तन्मात्र की दूसरी संज्ञा परमाणु है। परमाणु का अर्थ 'क्षुद्रातिक्षुद्र कण नहीं हैं अपितु शब्दस्पर्शादि की सूक्ष्म अवस्था है। जिस सूक्ष्म अवस्था में शब्दस्पर्शादिका 'विशेष' नामक भेद भी अस्त होता है, उसका नाम तन्मात्र है। परमाणु शब्दादि गुणों की ऐसी सूक्ष्म अवस्था है कि उस के अव-यव-विस्तार का स्फुट ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः वह काल की धारा के क्रम से ज्ञात होता है। ठीक वैसे ही जैसे कि शब्द जब चारों ओर व्याप्त हो उठता हैं, तब वह महावयव-शाली बोध होता है, परन्तु शब्दकायदि कर्णगत ज्ञानरूप से ध्यान किया जाय, तो वह कालिक-धाराक्रम से ज्ञात होता है। इसी प्रकार परमाणु-साक्षात्कार में रुपादि सभी विषयों का बोध इन्द्रिय क्रिया के सूक्ष्म भाव स्वरूप में होने के कारण क्रिया के समान परमाणु भी कालिकधारा-क्रम से ही ज्ञान-गोचर होता है। वह महावयविरूप अर्थात् खण्ड्य अवयविरूप से (जिसका अवयव विभाज्य है उस रूपसे) ज्ञानगोचर नहीं होता। जो अवयव खण्ड्य नहीं होता, वह अणु-अवयव कहलाता है। तन्मात्र उसी प्रकार का अणु-अवयव-शाली पदार्थ है। अणु-अवयव से क्षुद्र अवयव ज्ञानगोचर नहीं होता। समाहित चित-द्वारा उसका साक्षात्कार करना पड़ता है। उससे भी सूक्ष्म वाह्य-विषय समाहित चित-द्वारा भी गोचर नहीं होता। सांख्य का परमाणु अनुमेय पदार्थमात्र नहीं है, अपितु वह साक्षात्कारयोग्य वाह्य-पदार्थ है।

शब्दगुणक पदार्थ से स्पर्श, स्पर्शगुणक पदार्थ से रूप, रूपगुणक पदार्थ से रस, रस-गुणक द्रव्य से गन्ध पैदा होता हैं, पूर्वोक्त यह नियम तन्मात्र-पक्ष में प्रयोज्य नहीं होता। सब तन्मात्र अहंकार से बने हुए हैं। गन्धज्ञान करण के योगसे उत्पन्न होता है, अतः जिससे गन्धतन्मात्रज्ञान होता है उससे रस, रूप स्पर्श तथा शब्द ज्ञान भी हो सकते हैं। इस प्रकार शब्दतन्मात्र एकलक्षण, स्पर्श द्विलक्षण, रूप त्रिलक्षण, रस चतुलक्षण और गन्धतन्मात्र पञ्चलक्षण होता है किन्तु स्वरूपतः साक्षात्कार काल में एक तन्मात्र अपने लक्षण-द्वारा ही साक्षात्कृत होता है।

१९। (४) अस्मिता = अस्मि का (मैंपन का) भाव अर्थात् अभिमान । अस्मिता का अर्थ "मैंपन" भी होता है । यहाँ अस्मिता का अर्थ अभिमान है। करणशक्ति-समूह के साथ चैतन्य की एकात्मकता ही अस्मिता है, यह पहले कहा जा चुका है । इस ढंग से बुद्धि अस्मितामात्र या चरम अस्मितास्वरूप होती है । अस्मितामात्र सब स्थानों पर महत् नहीं होता । यहाँ पर वह छः इन्द्रियों के साधारण उपादानरूप में साधारण अस्मितामात्र है । सब इन्द्रियों में साधारण उपादानरूप अभिमान तथा बुद्धि इन दोनों को ही अस्मिता-मात्र कहा जाता है । अस्मीतिमात्र कहने से महत् ही समझा जाता है ।

अन्य करणों के साथ आत्मा का संबन्ध भाव भी अस्मिता है । उसमें प्रत्यय होता है कि 'मैं श्रवणशक्तिमान् हूँ' इत्यादि । अतः करणशक्ति के साथ "मैं-"का योग अर्थात् अभिमान ही अस्मिता हुआ । वस्तुतः इन्द्रिय-समूह अस्मिता की भिन्न भिन्न अवस्था मात्र हैं । बाहर से इन्द्रियों को भूत का व्यूह विशेष रूप में देखा जाता है । जिस आध्या-त्मिक शक्ति-द्वारा भूतगण व्यूहित होते हैं, वास्तव में वही इन्द्रिय है । अध्यात्म शक्ति वस्तुतः 'मैंपन' का भावविशेष या अभिमान है । अभिमान रहने से ही समस्त शरीर में 'मैं' इस प्रकार से प्रत्यय होता है । ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण तथा चित्त उस अभिमान की एक एक प्रकार की अवस्था या विकृति हैं, जैसे चक्षु है, चक्षु में स्थित या चक्षुस्वरूप अभिमटा . रूप नामक क्रिया द्वारा उसके सक्रिय होने पर रूपज्ञान होता है । रूपज्ञान का अर्थ है रूप के साथ ज्ञाता का अविभक्त प्रत्यय या एकात्मवत् प्रत्यय । वाह्य क्रिया से चक्षुरूप 'मैंपन' में जो विकार होता है, वही ज्ञाता में आरोपित होकर दूसरे शब्दों में रूपज्ञान कहा जाता है । ज्ञाता एवं ज्ञेय का संबन्धभाव अर्थात्" मैं रूप-ज्ञानवान् हूँ" इस प्रकार भाव ही अस्मिता नामक अभि-मान है । इन्द्रियों की प्रकृति या साधारण उपादान अस्मितामात्र नामक षष्ठ अविशेष है ।

१९। (५) सत्ता-मात्र-आत्मा = 'मैं रहता हूँ' या "मैं-मात्र" ऐसा भाव; बुद्धितत्व का वा महत्तत्वका गुण = निश्चय । निश्चय तथा सत्ता अविनाभावी है । विषयनिश्चय और आत्मनिश्चय दोनों ही बुद्धि के गुण हैं, उनमें आत्मनिश्चय ही निश्चय का शेष है । अतएव वह बुद्धि का स्वरूप है । विषयनिश्चय बुद्धिका विकार या विरूप होता है । अतः मैं रहता हूँ या अस्मीति प्रत्यय या सत्तामात्र-आत्मा ही महत्तत्व है । यहाँ अस्मि शब्द अव्यय पद है, उसका अर्थ 'मैं' है ।

पहले 'मैं' इस प्रकार का भावमात्र रहने से, उसके बाद फिर 'मैं दर्शक, श्रोता, घ्राता, गन्ता हूँ' इत्यादि मैंपन का विकारभाव हो सकता है । यह विकार-भाव ही अभिमान या अहंकार है । अतएव अस्मितामात्र-स्वरूप महत्तत्व से अहंकार या महत्तत्व अहंकार का कारण उत्पन्न होता है ।

इसी प्रकार आत्मभाव का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि महत् सर्व प्रथम व्यक्तभाव होता है; उसी का विकार अहंकार या अस्मिता है; अस्मिता के विकार इन्द्रियगण हैं । शब्दादि तन्मात्र भी अस्मिता के विकार हैं ।

शब्दादि का ज्ञानरूप अंश हमारी अस्मिता का विकार होता है और जो वाह्य क्रिया से शब्दादि उत्पन्न होते हैं, वे विराट् ब्रह्मा की अस्मिता के विकार हैं अतः शब्दादि दोनों ही अस्मिता विकार हुए ।

भाष्यकार कहते हैं कि 'महत्त के तन्मात्र तथा अस्मिता-रूप छः अविशेष-परिणाम

हैं ।' सांख्य कहते हैं, महत से अहंकार, अहंकार से पञ्च तन्मात्र होते हैं । कोई कोई कहते हैं यहीं सांख्य तथा योग में मतभेद है । यह कहना ठीक नहीं । वस्तुतः भाष्यकार का वक्तव्य यह है कि—लिङ्गमात्र छः अविशिष्ट लिङ्गों का कारण होता है । समस्त अविशेषों को एक जाति कर लिङ्गमात्र को उनका कारण बताया गया है । समस्त अविशेषों में भी जो कार्य-कारण-क्रम रहता है, भाष्यकार ने उसे उस दृष्टि से नहीं लिया है । साक्षात् या प्रधानरूप से नहीं, परन्तु परंपरा-क्रम से महत् गन्धतन्मात्र का कारण होता है । इसी प्रकार भाष्यकार ने गुणों को एक साथ षोड़श विकारों का कारण कह दिया है ; किन्तु, गुण-समूह मूल कारण होते हैं । १ ।४५ सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने तन्मात्र का कारण अहंकार, अहंकार का कारण महत्तत्व इस प्रकार का क्रम बताया है ।

१६ । (६) महत्तत्व के कार्य छः अविशेष हैं । महत् से अहंकार या अस्मिता, अस्मिता से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र इत्यादि क्रम से महत् समस्त अविशेष विकसित होते हैं ।

अतएव महत् से एक साथ छः अविवेष हुए हैं यह कहना ठीक नहीं । भाष्यकार का भी यह आशय नहीं है । महान् आत्मा से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्र एवं प्रत्येक तन्मात्र से प्रत्येक भूत इस प्रकार का क्रम ही यथार्थ माना जाता है । आकाश से वायु, वायु से तेज इत्यादि क्रम केवल गन्धादि ज्ञान के सहभावी काठिन्यादि के विषय में ही होता है । यह नैमित्तिक दृष्टि है, लेकिन तात्विक वा औपादानिक दृष्टि नहीं है । शब्दज्ञान स्पर्शज्ञान का उपादान भी नहीं हो सकता, किन्तु शब्द-क्रिया रूप-निमित्त-द्वारा अस्मिता रूप उपादान परिवर्त्तित होकर स्पर्शज्ञान रूप में व्यक्त हो सकता है [२।१६ (२) देखिये ।] अतः सूक्ष्म शब्द ही स्थूल शब्द का उपादान हो सकता है । अतः यह सिद्ध होता कि शब्दतन्मात्र से आकाश भूत; स्पर्शतन्मात्र से वायुभूत इत्यादि रूप में अस्मिता से ही प्रत्येक तन्मात्र एवं प्रत्येक तन्मात्र से तदनुरूप प्रत्येक भूत उत्पन्न हुए हैं ।

क्रमशः प्रथम व्यक्ति महत् से छः अविशेष उत्पन्न हुए हैं । वे ही षोड़श विकार रूप चरम विकास या विवृद्धिकाष्ठा और विलयकाल में विलोम क्रम से महत्तत्त्व में लीन होकर अव्यक्तता प्राप्त करते हैं । अर्थात् व्यापार के सम्यक् अभाव से जब महत् लीन होता है, तब उसमें लीन विशेष तथा अविशेष भी महत् की गति प्राप्त कर लेते हैं । महत् लीन होने पर उस अवस्था की कोई भी व्यापाररूप व्यक्तता नहीं रहती । अतः इसे अव्यक्त कहा जाता है । भाष्यकार ने उस अलिङ्ग प्रधान के और भी कुछ विशेषण दिये हैं । उनकी व्याख्या की जाती है ।

निःसत्तासत्त = सत्ता-असत्ता हीन । सत्ता का अर्थ है सत् का भाव । समस्त सत् या व्यक्त पदार्थ पुरुषार्थ के साधक हैं । अतः सत्ता है पुरुषार्थ-क्रिया-साधकता । हमारे लिए साधारण अवस्था में सत्ता और पुरुषार्थ क्रिया अविनाभावी हैं । अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ-क्रिया रहने के कारण प्रधान निःसत्त है, और अभाव पदार्थ न होने के कारण (क्योंकि वह पुरुषार्थ क्रिया का शक्तिरूप कारण होता है) वह असत्त भी नहीं । अतएव वह निःसत्तासत्त होता है ।

निःसदसत् = सत् या विद्यमान, असत् या अविद्यमान, जो महदादि के समान सत् अर्थात् अर्थक्रियाकारी या साक्षात् ज्ञेय नहीं है, तथा महदादि का कारण होने से अविद्यमान

भी नहीं, यह निःसदसत् है । सत्—अर्थक्रियाकारी । सत्ता = अर्थक्रिया का भाव । निःसत्ता-सत्त और निःसदसत् ये दोनों भिन्न रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।

निरसत् (= प्रधान) को कोई नितांत तुच्छ या अविद्यमान पदार्थ न समझ ले अतः भाष्यकार ने पुनः निरसत् शब्द का पृथक् उल्लेख किया है । यद्यपि अव्यक्त प्रधान ज्ञेय है, तथापि व्यक्त महदादि के समान साक्षात् ज्ञेय नहीं । महदादि क्रियमाणभाव से ज्ञेय होते हैं और प्रधान सर्व क्रिया की शक्ति के रूप में ज्ञेय होते हैं । वे अनुमान-द्वारा ज्ञेय हैं ।

अतएव प्रधान, निरसत् या भावपदार्थ विशेष हैं । अव्यक्त = जो व्यक्त या साक्षात्-कार योग्य नहीं हैं । समस्त व्यक्ति जिस अवस्था में लीन होता है उस अवस्था का नाम अव्यक्तावस्था है । **'अव्यक्तं क्षेत्रलिङ्गस्थं गुणानां प्रभवाप्ययम् । सदा पश्याम्यहं लीनं विजानामि शृणोमि च ।।'** (महाभारत, शांतिपर्व) ।

१९ । (७) प्रकृति उपादान होनेपर भी महदादि व्यक्ति पुरुषार्थता-द्वारा (पुरुषोपदर्शन द्वारा) अभिव्यक्त होते हैं । अतएव पुरुषार्थ महदादि व्यक्तावस्था के हेतु या निमित्त कारण हैं । परंतु, पुरुषार्थ अव्यक्तावस्था का हेतु नहीं है । नित्य प्रधान है अतः वह पुरुषार्थ-द्वारा परिणाम प्राप्तकर महदादि रूप में अभिव्यक्त होता है । महदादि परिणाम क्रम के अनुसार अनादि होते हुए भी पुरुषार्थ की समाप्ति होनेपर प्रत्यस्तमित हो जाते हैं, इसीलिये वे अनित्य हैं । उदय होने वाली तथा लय होने वाली सत्ता होने के लिये भी वे अनित्य कहाते हैं ।

१९ । (८) जितने व्यक्त पदार्थ हैं वे सब गुणात्मक हैं, अतएव गुणत्रय का लय कहीं भी नहीं होता है । अव्यक्त अवस्था में भी गुणत्रय की साम्यावस्था है । वह व्यक्त-पदार्थ की लयावस्था होती है, पर गुणत्रय की नहीं । व्यक्ति के उदय तथा लय से गुणत्रय भी मानों उदितवत् तथा लीनवत् प्रतीत होते हैं; किन्तु, वास्तव में गुणत्रय की उससे क्षय-वृद्धि नहीं होती तथा होने की सम्भावना भी नहीं । व्यक्त न हों तो गुणत्रय अव्यक्त भाव में रहते हैं । इस पर भाष्यकार के दृष्टान्त का अर्थ यह है, गो न रहने के कारण देवदत्त दुर्गत होता है, रहने से नहीं । जैसे गो-रूप वाह्य पदार्थ रहना तथा न रहना ही देवदत्त की अदुर्गतता तथा दुःस्थता का कारण होते हैं, परन्तु देवदत्त के शारीरिक रोगादि उनके कारण नहीं, वैसे ही व्यक्तियों के उदय-व्यय ही गुणत्रय को उदित और व्ययित-सा बना देते हैं । परन्तु प्रकृत पक्ष में मूल कारण त्रिगुण उदित तथा लीन नहीं होते । उनका अन्य कारण न रहने से उनके उदय (कारण से उद्भव) तथा विनाश (स्वकारण में लय) नहीं रहते ।

१९ । (९) क्रमानतिक्रमहेतु = सर्गक्रम का अतिक्रम संभव न होने के कारण । अव्यक्त से महान् ; महान् से अहंकार, अहंकार से तन्मात्र तथा इन्द्रिय, तन्मात्र से भूत इस प्रकार सर्गक्रम पहले बताया जा चुका है, इसी प्रकार क्रम से ही सर्ग होता, यह समझना चाहिये । पहिले भाष्यकार ने क्रम की बात स्पष्ट न कहकर यहाँ उसी को कहा है ।

विशेष समूह का तत्त्वान्तर-परिणाम नहीं होता । शब्दगुणक आकाश-भूत अन्य किसी तत्त्व में परिणत नहीं होता । तत्त्व का अर्थ साधारण उपादान है । जैसे वाह्य भौतिक जगत् का साधारण उपादान आकाश, वायु इत्यादि होते हैं, वैसे ही एक एक जातीय प्रमाण द्वारा वे प्रमित होते हैं । स्थूल तत्त्व वितर्कानुगत समाधि रूप प्रमाण-द्वारा सम्यक् प्रमित होते हैं । उसी प्रमाण-द्वारा आकाशादि स्थूलभूत और श्रोत्रादि स्थूल इन्द्रियगण का और विश्लेषण नहीं होता है । शब्द या रूप के नाना भेद हैं किन्तु वे सब शब्दलक्षण तथा रूप-

लक्षण के अन्तर्गत हैं, अतः उनका तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है। उसी प्रकार अनेक प्राणियों में चक्षु अनेक प्रकार के भेदों के साथ हो सकते हैं परन्तु सभी चक्षु-तत्त्व हैं, उनमें चक्षु तत्व अन्य तत्व में परिणत नहीं होता। अतएव कहा गया है कि विशेषण का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं रहता, सूक्ष्मतर प्रमाण (विचारानुगत समाधि) के बल से विशेष को स्वकारण अविशेष रूप में प्रमित किया जाता है।

भाष्यम्—व्याख्यातं दृश्यम्, अथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः, स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी, स बुद्धेर्नसरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत् सरूपः कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिस्तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति, सदाज्ञातविषयत्वन्तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति कस्मात्? न हि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्याद् गृहीताऽगृहीता च, इति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञात विषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति।

किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात् स्वार्थः पुरुष इति। तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति, गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति, अतो न सरूपः। अस्तु तर्हि विरूप इति। नात्यन्तं विरूपः, कस्मात्? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथा चोक्तम् 'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरपरिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धि वृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते' ॥ २० ॥

भाष्यानुवाद—दृश्य व्याख्यान हो चुका; अब द्रष्ट-स्वरूप के अवधारणार्थ यह सूत्र आरम्भ किया जा रहा है—

२०। द्रष्टा दृशिमात्र हैं और शुद्ध होने पर भी वे प्रत्ययानुपश्य हैं।

'दृशिमात्र' इसका अर्थ 'विशेषण द्वारा अपरामृष्ट दृक् शक्ति' (१) है। वह पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है। वह बुद्धि के लिए सरूप भी नहीं है और न अत्यन्त विरूप ही। वह सरूप नहीं है—क्योंकि, बुद्धि ज्ञाताज्ञात विषय होने के कारण परिणामी होती है। बुद्धि का गवादि (चेतन) वा घटादि (अचेतन) विषय, (पृथक् वर्त्तमान रहते हुए बुद्धि को उपरक्त-कर) ज्ञात होता है तथा (उपरक्त के बिना) अज्ञात होता है। ज्ञाताज्ञातविषयता बुद्धि का परिणामित्व प्रमाणित करती है। सदा ज्ञातविषयत्व पुरुष की अपरिणामता परिदीपित करता है, क्योंकि पुरुषविषया बुद्धि कभी गृहीत तथा अगृहीत नहीं होती (अर्थात् सदा ही गृहीत होती है)। इस प्रकार पुरुष का सदाज्ञात विषयत्व सिद्ध होता है (२)। अतएव (पुरुष के सदाज्ञात विषयत्व सिद्ध होने पर) उससे पुरुष की अपरिणामिता सिद्ध होती है।

बुद्धि संहत्यकारित्व के कारण परार्थ होती है, और पुरुष स्वार्थ (३)। बुद्धि सर्वार्थ-निश्चयकारिका होने के कारण त्रिगुणा है तथा त्रिगुणत्व के कारण अचेतन है। पुरुष गुण समूहों का उपद्रष्टा (४) है। अतएव पुरुष बुद्धि का सरूप (समजातीय) नहीं होता। तब क्या वह विरूप है? नहीं, अत्यन्त विरूप भी नहीं होता (५)। कारण, शुद्ध होने से भी पुरुष प्रत्ययानुपश्य होता है; क्योंकि पुरुष बुद्धि-संभव प्रत्यय समूह का अनुदर्शन करते हुए तदात्मक न होने पर भी तदात्मक सा प्रत्यवभासित होता है। (पंचशिख द्वारा) कहा भी है 'भोक्तृशक्ति (पुरुष) अपरिणामिनी तथा अप्रतिसंक्रमा (प्रतिसंचारशून्या) होती है, वह परिणामी अर्थ में (बुद्धि में) प्रतिसंक्रान्त-सी होकर उसकी (बुद्धि की) वृत्तियों की अनुपातिनी होती है और चैतन्योपराग-प्राप्त बुद्धिवृत्ति के अनुकरणमात्र-द्वारा उस भोक्तृशक्ति की ज्ञानस्वरूपा वृत्ति बुद्धिवृत्ति से अविशिष्टा (अथवा चिति के साथ अविशिष्टा बुद्धिवृत्ति) ज्ञान वृत्ति के नाम से कथित होतो है।' (६)।

टीका— २०। (१) द्रष्टा = अविकारी ज्ञाता; ग्रहीता = विकारी ज्ञाता; द्रष्टा तथा ग्रहीता सदृश होते हैं पर एक नहीं। द्रष्टा सदा ही स्वद्रष्टा है; ग्रहीता ज्ञानकाल में ग्रहीता होता है, ज्ञाननिरोध में नहीं। 'मैं द्रष्टा हूँ' इस प्रकार की बुद्धि ही 'ग्रहीता' होती है।

दृशिमात्र—दृशि का अर्थ है ज्ञ वा चित् वा स्वबोध। जिस बोध के लिए करण की अपेक्षा नहीं रहती, वही दृशि कहलाती है। 'मैं रहता हूँ' इस प्रकार का बोध हम अनुभव करने के बाद कहते हैं। उसमें करण की अपेक्षा रहती है, क्योंकि वह बुद्धि-विशेष है। किन्तु 'मैं' इस प्रकार का भाव भी, जो मूल है, जो इस भाव के भी पहले रहता है एवं जिसे हम वाक्य द्वारा प्रकाशित करने की चेष्टा करते हैं, वह करण-सापेक्ष नहीं है। श्रुति भी कहती है **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** ; **'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।'** (वृह०,उपः०)। करण के विषय दृश्य होते हैं, करण भी दृश्य है। अतः जो द्रष्टा है वह करण का विषय नहीं है। द्रष्टा के अंतर्गत अर्थात् द्रष्टा के स्वरूप का जो बोध है वह स्वबोध होता है। द्रष्टा स्वद्रष्टा अर्थात् 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी स्वविषयक बुद्धि का द्रष्टा है।

जितने समय तक दृश्य रहता है उतने समय तक पुरुष को भाषा में द्रष्टा कहा जा सकता है, किन्तु दृश्य लीन होने पर उसे द्रष्टा कैसे कहा जा सकता है यह शंका हो सकती है। इसका उत्तर यही है कि 'द्रष्टा' इस भाषा का व्यवहार न करने पर भी कोई हानि नहीं होती, तब 'चितिशक्ति' 'चैतन्य' इस शब्द से भी व्यवहार्य है, और, 'द्रष्टा'-शब्द का व्यवहार किया जाय तो उसे चित्तशान्ति का द्रष्टा कहना चाहिये। इस प्रकार भाषा का व्यवहार करने से भी प्रकृत पदार्थ कुछ और नहीं बन जाता, यह स्मरण रखना चाहिये।

चित् द्रष्टा का धर्म नहीं है, क्योंकि, धर्म तथा धर्मी हैं दृश्य, ज्ञाताज्ञात भावविशेष। जो चित् है वही द्रष्टा भी है। अतएव द्रष्टा को चिद्रूप कहा जाता है।

दृशिमात्र इस पद के 'मात्र' शब्द-द्वारा समस्त विशेषणशून्यत्व या धर्मशून्यत्व समझना चाहिये। अर्थात् सर्व-विशेषणशून्य जो बोध है वही द्रष्टा कहा जाता है। (सां० सूत्र—**निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा**)। शंका हो सकती है कि तब चितिशक्ति को 'अनन्ता, अप्रतिसंक्रमा' प्रभृति विशेषणों से विशेषित क्यों किया जाता है?

वस्तुतः 'अनन्त' विशेषण या धर्म नहीं, परन्तु धर्म-विशेष का अभाव है। 'अप्रतिसंक्रमा' इसी प्रकार है। सान्तादि व्यापी तथा प्रधान प्रधान जो विशेषण है उन सभी के

अभाव का उल्लेख कर 'सवधर्माभाव' क्या वस्तु है यही प्रस्फुट किया जाता हैं। अन्त-वत्ता, विकारशीलता आदि दृश्य के साधारण धर्मों का निषेधकर द्रष्टा को लक्षित किया जाता है।

पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है, इस वाक्य का अर्थ पहले व्याख्यात हुआ है। [१।७ सूत्र की (५) टीका देखिए।]

२०। (२) बुद्धि से पुरुष का भेद जिन जिन भेदक लक्षणों-द्वारा विज्ञात होता है, भाष्यकार उन्हीं को कहते हैं। जैसे—(क) बुद्धि परिणामी है, पुरुष अपरिणामी है; (ख) बुद्धि परार्थ है, पुरुष स्वार्थ है; (ग) बुद्धि अचेतन है, पुरुष चेतन वा चिद्रूप है।

इस प्रकार से पुरुष की तथा बुद्धि की भिन्नता जानी जाती है। भिन्न होने पर भी उनमें कुछ सादृश्य रहता है। अविवेकवश बुद्धि तथा पुरुष की एक एकत्वख्याति ही वह सादृश्य है; अर्थात् अविवेकवश पुरुष बुद्धि की भाँति तथा बुद्धि पुरुष की भाँति प्रतीत होती है।

जिन युक्तियों-द्वारा बुद्धि और पुरुष का सारूप्य तथा भेद आविष्कृत होता है, भाष्योक्त उन युक्तियों को विशद किया जा रहा है। बुद्धि के विषय ज्ञाताज्ञात होते हैं, अतएव बुद्धि परिणामी होती है और पुरुष के विषय सदा ज्ञात होते हैं, अतएव पुरुष अपरिणामी होते हैं। यह प्रथम युक्ति है।

बुद्धि के विषय गोघटादि ❀ ज्ञात तथा अज्ञात होते हैं। जब गो बुद्धि में प्रकाशित होकर स्थित रहती है, तब बुद्धि गोविषयाकारा होती है, वही बाद में घटादि-आकारा होती है।

फलतः पुरुष को विषय बनाकर जिस पुरुष की जैसी बुद्धिवृत्ति होती है उसका लक्षण सदाज्ञातृत्व है। पुरुषविषया = पुरुष जिसका विषय हो। अथवा 'पुरुष विषित्यउत्पन्न' ऐसा अर्थ भी होता है। पुरुषविषया बुद्धि या ग्रहीता सदा ही 'ज्ञाता' है ऐसा बोध होता है और शब्दादिविषया बुद्धि उस प्रकार की नहीं होती है, किन्तु ज्ञात तथा अज्ञात इस प्रकार की होती है। बुद्धि को पुरुष विषय करने पर या प्रकाशित करने पर बुद्धि भी पुरुष को विषय बना लेती है अर्थात् निजी प्रकाश के मूलभूत द्रष्टा को 'मैं द्रष्टा हूँ' ऐसा जानती है। अतः पुरुष का विषय बुद्धि और बुद्धि का विषय पुरुष, यह दो बातें प्रायः एक हैं।

संक्षेपतः बुद्धि का विषय या बुद्धि प्रकाश्य शब्दादि एक बार ज्ञात और फिर अज्ञात होने के कारण पहले शब्द-बुद्धि पीछे अ-शब्द-बुद्धि अर्थात् अन्य-बुद्धि हो जाते हैं और इस प्रकार बुद्धि का परिणाम सूचित करते हैं और पुरुषविषय या पुरुष-प्रकाश्य बुद्धि (ज्ञाताहं बुद्धि) एक बार 'ज्ञाताहं' और दुबारा 'अज्ञाताहं' ऐसी नहीं होती, बुद्धि रहने पर ही वह 'ज्ञाताहं' अवश्य होगी। 'अज्ञाताहं' बुद्धि अलीक और अकल्पनीय पदार्थ है। अतः पुरुष-प्रकाश सदा प्रकाश है, कभी अप्रकाश (या अज्ञात्ता) न होने से वह अपरिणामी प्रकाश है। बुद्धि न रहने पर या लीन होने पर वह प्रकाशित नहीं होगी, यह भी बुद्धि का ही परिणाम है, प्रकाशक का उससे कोई हर्ज नहीं। स्वकीय क्रिया-शक्ति-द्वारा बुद्धि प्रकाशक के पास प्रकाशित होती है। ऐसा न होने से प्रकाशक का कुछ नहीं बिगड़ता, बुद्धि ही अप्रकाशित रह जाती है।

विषयाकारा बुद्धि ही भिन्न भिन्न विषयरूप बनती है, किन्तु पुरुषाकारा बुद्धि केवल

❀ "गवादिर्घटादिर्वा" इस भाष्य के 'गो' शब्द को विज्ञानभिक्षु शब्दवाची कहते हैं, अर्थात गो शब्द का अर्थ जो मन में रहता है उसे समझना चाहिए, बाह्य एक गाय नहीं।

'ज्ञाताहं' इसी प्रकार की होती है, कभी अज्ञाता नहीं होती। अतएव तल्लक्षित प्रकृत ज्ञाता, निर्विकार होता है।

'मैं ज्ञाता हूँ' यह भाव ही पुरुषविषया बुद्धि है। उसे यदि अज्ञाता दिखा सकते (यहाँ तक कि कल्पना भी कर सकते) तो इस बुद्धि का विषय पुरुष ज्ञाता तथा अज्ञाता या परिणामी होता।

'मैं' इस प्रकार का भाव व्यवसायिक ग्रहीता है, 'मैं रहा था' और 'रहूँगा' यह आनुव्यवसायिक ग्रहीता है। स्मृति-इच्छादि अनुव्यवसायमूलक भाव हैं। अनुव्यवसाय (reflection) एक प्रतिफलक (reflector) के बिना नहीं हो सकता है। ज्ञान के लिए जो ज्ञ-स्वरुप (reflector) या प्रतिफलक है, उसी का नाम प्रतिज्ञसंवेदी है। बिना प्रतिसंवेदी के कोई भी ज्ञान कल्पनीय नहीं होता। क्योंकि, सभी ज्ञान प्रतिसंवेद्य है। अतः बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष, तद्विषयक ग्रहीता है। उस ग्रहीता-द्वारा अगृहीत किसी भी ज्ञान की संभावना षष्ठ बाह्य इन्द्रिय के अर्थ की अपेक्षा भी अकल्पनीय होती है। ग्रहीता सदाज्ञात होने से ग्रहीता का जो द्रष्टा है वह अपरिणामी ज्ञस्वरूप होता है, नहीं तो अज्ञातग्रहीता या अज्ञात 'मैं-बोध' इस प्रकार की अकल्पनीय कल्पना आ जाती है। अर्थात् 'ज्ञान का ग्रहीता मैं हूँ' इस प्रकार का प्रत्यय जब अज्ञात नहीं होता, तब वह सदाज्ञात होता है। सदाज्ञात विषय का जो ज्ञाता है, वह भी सदाज्ञाता है। यदि सदाज्ञाता ही हो जाय और कभी अज्ञाता न हो तो वह पदार्थ अपरिणामी ज्ञ-स्वरूप ही होगा।

उदाहरणतः 'मैं अपने को जानता हूँ' इसमें 'मैं' ही द्रष्टा है तथा 'अपने-को' का अर्थ है 'मैं'-का समस्त अचेतन अंश बुद्धि। नीलादि विषय का ज्ञान 'मैं-को मैं जानता हूँ' ऐसे भाव का अवकाशमात्र होता है। नील को यदि समाधिबल से सूक्ष्मरूप में देखा जाय तो वह नील नहीं रहता, पर रूपमात्र परमाणुस्वरूप होता है, उसे भी सूक्ष्मतररूप में देखते देखते वह अव्यक्त में पर्य्यवसित स्वरूप हो जाता है। [१।४४ सूत्र की (३) टीका देखिए।] अतएव विषयज्ञान आपेक्षिक सत्य ज्ञान है। उसे अव्यक्त या समान तीन गुणों के रूप से जानना ही सम्यक् ज्ञान होता है, और उस समय द्रष्टा का जो 'स्वरूप में अवस्थान' होता है उसे जानकर, 'द्रष्टा, स्वरूपद्रष्टा है' यह जानना ही द्रष्टृविषयक सम्यक् ज्ञान है।

शास्त्रोक्त **'पश्येदात्मानमात्मनि'** इस वाक्य की आत्मा बुद्धि है, और एक आत्मा पुरुष है। अनादि-सिद्ध पुरुष तथा प्रकृति रहने से ही यह स्वतः सिद्ध द्रष्टृ-दृश्यभाव रहता है। केवल चित् या केवल अचित् से द्रष्टृ-दृश्यभाव का व्याख्यान संगत नहीं होता है।

इस स्थल पर भाष्य अतीव दुरूह है, इसलिये इतनी ही बात कही गयी है। टीकाकारों में सब की व्याख्या सम्यक् गृहीत नहीं हुई। [४।१८ (१) देखिए।]

२०। (३) बुद्धि तथा पुरुष के वैरूप्य का द्वितीय हेतु है—बुद्धि संहत्यकारित्व हेतु से परार्थ और पुरुष स्वार्थ है। जो क्रिया अनेक प्रकार की शक्तियों के मिलन का फल है वह तन्मध्यस्थ किसी शक्ति या उनके समवाय के अर्थ में नहीं होती है। जिससे बहुत-सी शक्तियाँ समवेत होकर एक क्रियारूप फल उत्पन्न करती हैं, वह क्रियारूप फल अपने प्रयोजक का अर्थभूत होता है। बुद्धि इन्द्रियादि नाना शक्तियों की सहायता से सुख दुःख फल पैदा करती है। अतः उस फल का भोक्ता या चरम ज्ञाता बुद्ध्यादि नहीं, परन्तु तदतिरिक्त पुरुष है। इसीलिए बुद्धि परार्थ वा पर का विषय है एवं पुरुष-स्वार्थ या विषयी है। इस युक्ति की सम्यक् व्याख्या चतुर्थ पाद में देखिए।

२०। (४) इस विषय पर तृतीय युक्ति है—बुद्धि अचेतन, पुरुष चेतन या चिद्रूप हैं। बुद्धि परिणामी है और जो परिणामी होता है उसमें क्रिया, प्रकाश तथा अप्रकाश (अर्थात् त्रिगुण) रहते हैं। त्रिगुण दृश्य के उपादान हैं, और दृश्य अचेतन के समार्थक। अतः बुद्धि त्रिगुण, और अचेतन है। पुरुष त्रिगुणातीत द्रष्टा, अतः चेतन है। द्रष्टा और दृश्य को या चेतन और अचेतन को छोड़कर और कोई पदार्थ नहीं है। अतः जो दृश्य नहीं होता वह चेतन (यहाँ चेतन का अर्थ चैतन्ययुक्त नहीं, पर चिद्रूप है) और जो द्रष्टा नहीं होता वह अचेतन है। प्रकाशशील अध्यवसायधर्मक या निश्चयधर्मक होने कारण बुद्धि त्रिगुणा है, क्योंकि प्रकाशशीलता सत्व का धर्म है, और जहाँ सत्व रहता है वहाँ रजस्तम भी त्रिगुणात्मक होने के कारण बुद्धि अचेतन है।

२०—(५) पुरुष बुद्धि के सदृश नहीं हैं—यह सिद्ध हो गया और यह भी कि वह बुद्धि से सम्पूर्ण विरूप भी नहीं हैं, क्योंकि वह शुद्ध होने पर भी अर्थात् बुद्धि से अतिरिक्त होने पर भी बौद्ध प्रत्यय या बुद्धिवृत्ति का उपदर्शन करता है। उपदृष्ट बुद्धिवृत्ति का नाम, ज्ञान या आत्मानात्म-बोध है। ज्ञान का परिणामी अंश या उपादान और पुरुषोपदृष्टिरूप हेतु ज्ञानकाल में अभिन्न रूप से अवभात होते हैं। हमेशा ही ज्ञान का प्रवाह चल रहा है। अतएव पुरुष तथा ज्ञानरूप बुद्धि की अभेद-प्रत्ययरूप भ्रान्ति भी सदा चल रही है।

प्रश्न हो सकता है कि, बुद्धि तथा पुरुष का अभेद किस प्रकार प्रतीत होता है ? इसका उत्तर यह है कि 'मैं'-से या अहंबुद्धि से या ग्रहीता से ; किस वृत्ति द्वारा यह अवभात होता है ? भ्रान्तज्ञान और तज्जनित भ्रान्तसंस्कारमूलिका स्मृति-द्वारा। अर्थात साधारण सभी ज्ञान भ्रान्ति है; जब ऐसे बुद्धिपुरुष का अभेदरूप भ्रान्त ज्ञान होता है तभी बोध होता है कि 'मैंने जाना'। अतएव 'मैंने जाना' इस प्रकार का भाव ही बुद्धिपुरुष की एकत्वभ्रान्ति है, और उस भ्रान्ति के अनुरूप संस्कार से भ्रान्तिस्मृति का प्रवाह चलते रहने के कारण, साधारण अवस्था में बुद्धि-पुरुष के पृथक्त्व का बोध नहीं होता। विवेक-ख्याति उत्पन्न होने से 'मैं जाना' यह बोध क्रमशः निवृत्ति पाता है और ख्याति संस्कारद्वारा निवृत्ति पुष्ट होकर विज्ञान या चित्तवृत्ति का सम्यक् निरोध होता है।

'मैंने नील जाना' यह एक विज्ञान है। इसमें नील यह दृश्य भाव अचेतन है और चैतन्य 'मैं' इस भाव से लक्षित विज्ञाता के अन्तर्गत है। इसी से ही अचेतन 'नील' पदार्थ विज्ञात होता है। द्रष्टा-द्वारा ऐसे नीलप्रत्यय का प्रकाश भाव ही प्रत्ययानुपश्यता होता है। नील-ज्ञान और पुरुष की प्रत्ययानुपश्यता अविनाभावी हैं। ज्ञान या बुद्धिवृत्ति में यह प्रत्ययानुपश्यतारूप सहभावी हेतु रहने के कारण वह पुरुष के कुछ सरूप या सदृश होता है। अर्थात् अचेतन नीलादि ज्ञान सचेतन (चैतन्ययुक्त) होने के कारण ही चिद्रूप पुरुष के कुछ-कुछ सदृश होते हैं।

२०—(६) प्रतिसंक्रम = प्रतिसंचार। अपरिमाणी होने पर भी वह प्रतिसंचार शून्य होता है। अपरिणामित्व-द्वारा अवस्थान्तर शून्यता और अ-प्रतिसंक्रमत्व द्वारा गतिशून्यता (कार्यगत न होना) सूचित होती हैं। प्रत्ययानुपश्यता अर्थात् परिणामी वृत्ति-समूह को प्रकाश करने के कारण, चितिशक्ति परिणामी तथा प्रतिसंक्रान्त के समान बोध होती है। चैतन्योपराग-प्राप्त अर्थात् चित्प्रकाशित बुद्धिवृत्ति की अनुकारता या अनुपश्यता-द्वारा

ज्ञ-स्वरूप चिद्वृत्ति तथा ज्ञान-स्वरूप बुद्धिवृत्ति अविशिष्ट या अभिन्नवत् प्रतीत होती है। (४-२२ (१) देखिए।)

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

भाष्यम्—दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा स्वरूपं भवतीत्यर्थः। तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकम्। भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तो न तु विनश्यति ॥ २१ ॥

२१—पुरुष का अर्थ ही दृश्य की आत्मा या स्वरूप है। सू

भाषानुवाद—दृशिरूप पुरुष की कर्म स्वरूपता को (१) प्राप्त पदार्थ दृश्य है, अतएव उसका (पुरुष का) अर्थ ही दृश्य की आत्मा अर्थात् स्वरूप होता है। यह दृश्यस्वरूप पररूप द्वारा प्रतिलब्ध स्वभाव (२) है। भोगापवर्ग निधन्न होने पर पुरुष उसका दर्शन और नहीं करता है; अतः उस समय स्वरूप-(पुरुषार्थ) हानि के कारण से वह नष्ट हो जाता है, परन्तु विनष्ट (अत्यन्तोच्छिन्न) नहीं।

टीका—२१—(१) कर्मस्वरूपता = भोग्यता। दृश्यत्व और पुरुषभोग्यत्व मूलतः एकार्थक हैं। भोग्य = अर्थ। अतः पुरुष-दृश्य = पुरुषार्थ। अतएव पुरुष का अर्थ ही दृश्य का स्वरूप है। नीलादि ज्ञान, सुखादि वेदना, इच्छादि क्रिया समस्त ही पुरुषार्थ हैं। दृश्य तथा पुरुषार्थ सम्पूर्णतया एक भाव हैं।

२१। (२) ज्ञानरूप दृश्य ज्ञातृरूप द्रष्टा की अपेक्षा से ही संविदित होता है। संविदित भावही दृश्यता का स्वरूप है, अतः वह व्यक्त दृश्य पर या पुरुष के स्वरूप द्वारा ही प्रतिलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में पुरुष की भोग्यता ही जब दृश्यस्वरूप है, तब पुरुष की अपेक्षा से ही दृश्य व्यक्त रूप से उपलब्ध होता है। भोग्यता न रहने से दृश्य नष्ट होता है; परन्तु उसका पूर्ण अभाव नहीं होता। वह उस समय अव्यक्त रहता है।

दृश्य की एक व्यक्ति अव्यक्तता प्राप्त करती है, किन्तु अन्यान्य व्यक्ति अन्य पुरुष के दृश्य रहते हैं, इस कारण भी दृश्य का अभाव नहीं होता।

दृश्य किस प्रकार से पररूप-द्वारा प्रतिलब्ध होता है, इस विषय पर पाठक पूर्वोक्त सूर्य तथा तदुपरिस्थ अस्वच्छ द्रव्य के दृष्टान्त का स्मरण करें। (२। १७ (२) टीका।)

पुरुष या द्रष्टा का अर्थ ही दृश्य का स्वरूप होता है 'अर्थ' को 'प्रयोजन' समझकर साधारणतः लोग पुरूष को एक प्रयोजनवान् या प्रयोजन सिद्धि का इच्छुक सत्व मान लेते हैं और सांख्यीय दर्शन को विपर्यस्त करते हैं। सांख्यादिका में कुछ उपमायें दीगई हैं उनका तात्पर्य और उपमामात्रत्व न समझ कर लोग उन्हें सर्वांश सत्य समझ लेते हैं। यह उनका विचारदोष है इसी के आधार पर ऐसी भ्रान्त धारणा प्रचलित हुई है।

'अर्थ' का तात्पर्य है 'विषय', 'परन्तु प्रयोजन' नहीं। पुरुष विषयी हैं और बुद्धि इसका विषय या प्रकाश्य है। साधारणतः प्रकाशक का अर्थ है, 'जो प्रकाश करता है।'

'प्रकाश करना'-रूप क्रिया का कर्त्ता प्रकाशक होता है—ऐसी बात सत्य है, किन्तु ऐसी क्रिया की हम अनेक स्थानों पर केवल भाषा-द्वारा कल्पना करते हैं। 'प्रकाश्य, प्रकाशक-द्वारा प्रकाशित होता है'—ऐसा कहने से ऐसा जान पड़ता है कि प्रकाशक क्रिया नहीं है। अतएव सर्व स्थानों में प्रकाशक क्रियावान् है, परन्तु ऐसा नहीं। निष्क्रिय द्रव्य को हम भाषा-द्वारा (व्याकरण के प्रत्ययविशेष द्वारा) सक्रिय करते हैं। निष्क्रिय पुरुष को भी ऐसा कर लेते हैं। "मैंपन" के पीछे स्वप्रकाश पुरुष रहने के कारण 'मैं स्वप्रकाशयिता हूँ या निजका ज्ञाता हूँ' इत्याकार-प्रकाशन रूप क्रिया 'मैं' करता रहता है। उससे पुरुष को उस क्रिया का कर्त्ता मानकर उसे हम प्रकाशक या प्रकाशकर्त्ता बोलते हैं। वस्तुतः 'प्रकाश होना'-रूप क्रिया मैं-पन में ही रहती है। पुरुष के सान्निध्यहेतु से ही यह घटती है अतः पुरुष को प्रकाशकर्त्ता कहा जाता है।

भोग तथा अपवर्ग या विवेक ये दो प्रकार के अर्थ ही बुद्धिमात्र होते हैं। बुद्धि केवल त्रिगुण से ही नहीं बनती, परन्तु एक स्वरूप साक्षी द्रष्टा के योग से त्रिगुण का परिणाम ही बुद्धि होता है। बुद्धि विषय होने के कारण बुद्धि जिसकी सत्ता से प्रकाशित होती है उसे विषयी या विषय का प्रकाशक कहा जाता है। 'विषय के प्रकाशक' इस वाक्य में 'विषय के' इस सम्बन्धकारकयुक्त पद को 'प्रकाशक' इस कर्तृकारकयुक्त पद के साथ हम अपनी भाषा के लिए ही जोड़ते हैं। उसके द्वारा प्रकृत पदार्थ में सक्रियता नहीं होती है। 'पुरुष का अर्थ' इस प्रकार का सम्बन्धवाचक वाक्य भी उसी कारण कोई क्रिया विज्ञापित नहीं करता है।

भोग तथा अपवर्ग यदि विषय या प्रकाश्य हों तो वे किसके प्रकाश्य विषय होंगे या विषयी किसे कहना होगा। इसके उत्तर में कहना पड़ेगा कि उसी द्रष्टा पुरुष को। इस प्रकार भोग तथा अपवर्ग रूप में विषयत्व या अर्थभूत बनाना ही दृश्य का स्वरूप होता है।

भाष्यम्। कस्मात् ?—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशंप्राप्तमपि अनष्टं तद् अन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशंप्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषान् प्रत्यकृतार्थमिति। तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभते एवं पररूपेणात्मरूपमिति। अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति, तथा चोक्तं—"धर्म्मिणामनादिसंयोगाद्धर्म्ममात्राणामप्यनादिः संयोग" इति ॥ २२ ॥

भाष्यानुवाद—क्यों (विनष्ट नहीं होता) ?

२२। कृतार्थ के निकट वह नष्ट होने पर भी अन्यसाधारणत्व के कारण वह अनष्ट रहता है ॥ सू

कृतार्थ एक पुरुष के प्रति दृश्य नष्ट होने पर भी अन्य साधारणत्व के कारण वह अनष्ट है। कुशल पुरुष के प्रति नष्ट होने पर अकुशल पुरुष के समीप दृश्य अनष्ट है। उनके पास दृश्यदृशिशक्ति की कर्मविषयता (भोग्यता) प्राप्त कर पररूप-द्वारा निज रूप में प्रतिलब्ध होता है। अतएव दृक् तथा दर्शनशक्ति की नित्यता के कारण संयोग अनादि के नाम से व्याख्यात हुआ है। तथा (पंचशिख-द्वारा) उक्त हुआ है 'समस्त का संयोग अनादि होने के कारण सब धर्मों का संयोग भी अनादि होता है' (१)।

टीका—२२—(१) विवेकख्याति-द्वारा कृतार्थ पुरुष का दृश्य नष्ट होने पर भी अन्य पुरुषों का दृश्य रह जाने के कारण दृश्य अनष्ट है। आज भी जैसे दृश्य अनष्ट हैं, सदा वैसे ही दृश्य अनष्ट था, तथा रहेगा। सांख्यसूत्र भी है—**इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः।** क्रमशः सब पुरुषों की विवेक ख्याति होने से तो दृश्य विनष्ट हो जायगा, ऐसी संभावना नहीं है, कारण पुरुष संख्या अनन्त है। असंख्य का कभी शेष नहीं होता। असंख्य÷असंख्य = असंख्य। यही असंख्य का तत्त्व है। [४–३३ (४)]। श्रुति भी कहती है, **'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'** इस कारण दृश्य सदा था और रहेगा भी। जो पुरुष अकुशल हैं, वे उस समय अनादि दृश्य के साथ अनादि-सम्बन्धयुक्त होते हैं। ऐसा नहीं हो सकता है कि पहिले दृश्य संयोग नहीं था मगर किसी विशेष काल में वह हुआ है, क्योंकि, ऐसा होने से दृश्य संयोग होने का हेतु कहाँ से आवेगा। आगे व्याख्यात होगा कि संयोग का हेतु अविद्या या मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान ही, मिथ्याज्ञान का प्रसव करता है। अतः मिथ्याज्ञान की परम्परा अनादि होती है, इस विषय का विवरण यहाँ पर उद्धृत पंचशिखाचार्य के सूत्र में किया गया है। सब धर्मी त्रिगुण हैं। उनका पुरुष के साथ अनादि काल से संयोग है इस कारण गुण-धर्म जो बुद्ध्यादि करण तथा शब्दादि विषय हैं, उनके साथ भी पुरुष का अनादि संयोग है।

पुरुष का बहुत्व तथा प्रधान का एकत्व इस सूत्र में उक्त हुआ हैं (२।२३ तथा ४। १६ सू-देखिए)। उस पर वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"प्रधान के समान पुरुष एक नहीं है। पुरुष का नानात्व, जन्ममरण, सुखदुःखोपयोग, मुक्ति, संसार इन सब व्यवस्थाओं से (अर्थात् युगपत् इस समस्त बहुज्ञान के ज्ञाता बहुत-से ज्ञाता होंगे इस प्रकार की कल्पना युक्तियुक्त होने से) पुरुष का बहुत्व सिद्ध होता है। जो सब एकत्वज्ञापक श्रुतियाँ हैं वे प्रमाणान्तर के विरुद्ध हैं। द्रष्टृगण के देशकाल-विभाग के अभाव के कारण अर्थात् द्रष्टृगण देशकालातीत हैं अथवा 'अमुकत्र ये द्रष्टा हैं अमुकत्र वे द्रष्टा हैं' ऐसी कल्पना करना विधेय नहीं है, अतः उनको एक कहना युक्त होता है। इसी भाव में भक्तिमान् लोग इन सब श्रुतियों की उपपत्ति कर लेते हैं। (यहाँ पर श्रुति में द्रष्टृमात्र का एकत्व उक्त नहीं हुआ है पर 'जगदन्तरात्मा' स्रष्टा, रक्षक तथा संहर्त्तारूप सगुण ईश्वर का ही एकत्व उक्त हुआ है। महाभारत में भी कहते हैं—**'स सर्ग काले च करोति सर्गं संहार काले च तदत्ति भूयः। संहृत्य सर्वंनिजदेहसंस्थं कृत्वाऽप्सु शेते जगदन्तरात्मा'**। श्रुति भी इन सर्वभूतांतरात्मा को ही एक कहती है। वह द्रष्टृ रूप आत्मा नहीं है।) प्रकृति का एकत्व तथा पुरुष का नानात्व श्रुति-द्वारा साक्षात् ही प्रतिपादित हैं। श्रुति (श्वेताश्वतर) में कहा है। 'एक रजः सत्व तमोमयी, अजा, बहु प्रजासृष्टिकारिणी प्रकृति का कोई एक पुरुष अनुशयन या उपदर्शन करते

है और अन्य एक अज पुरुष मुक्तभोगा (चरित भोगापवर्ग) उस प्रकृति का भोग करते हैं।' इस श्रुतिका अर्थ ही इस सूत्र-द्वारा अनूदित हुआ है।

भाष्यम् ।—संयोगस्वरूपाऽभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

पुरुषः स्वामी, दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः। तस्मात् संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः, या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः। दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्। दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीति अदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम्। नात्र दर्शनं मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव बन्धाभावः स मोक्ष इति। दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम्।

किञ्चेदमदर्शनं नाम—किं गुणानामधिकारः।—१। आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शित विषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः, स्वस्मिन्दृश्ये विद्यमाने दर्शनाभावः।—२। किमर्थवत्ता गुणानाम्।—३। अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम्।—४। किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः, यत्रेदमुक्तं 'प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यादुभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा, कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः'।—५। दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके 'प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः' इति श्रुतेः। सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति, सर्वकार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति।—६। उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके। तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति, तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेव दर्शनमवभासते।—७। दर्शनज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति।—८। इत्येते शास्त्रगता विकल्पः, तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणांगुणसंयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद—संयोगस्वरूप के निर्णय की इच्छा सेयह सूत्र प्रवृत्तित्त हुआ है—

२३। संयोग स्वशक्ति तथा स्वामि शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि का कारण है, अर्थात् जिस संयोग से द्रष्टा तथा दृश्य की उपलब्धि होती है वह संयोगविशेष ही, यह संयोग है (१) ॥ सू

पुरुष स्वामी—'स्व'-भूत दृश्य के साथ दर्शन के लिए संयुक्त हैं। उसी संयोग से जो दृश्य की उपलब्धि है वह भोग है और जो द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि है वह अपवर्ग है। संयोग दर्शन-कार्यावसान है अर्थात् विवेक-द्वारा दर्शन कार्य की परिसमाप्ति होने पर संयोग का भी अवसान हो जाता है, अर्थात् जब तक दर्शन रहता है तब तक संयोग भी। अतः उस दर्शन (विवेक) को वियोग का कारण कहा गया है। दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्दी होता है। अदर्शन संयोग का निमित्त कहा गया है। परन्तु यहाँ दर्शन मोक्ष का

(साक्षात्) कारण नहीं है। अदर्शनाभाव से ही बन्धाभाव होता है; वही मोक्ष है। दर्शन से बन्धकारण अदर्शन का नाश होता है इस कारण दर्शन-ज्ञान को कैवल्यकारण कहा गया है (२)।

यह अदर्शन क्या है (३)? क्या यह गुण-समूह का अधिकार (कार्य-उत्पादन करने वाला सामर्थ्य) है ?--१। अथवा दृशिरूप स्वामी के पास शब्दादिरूप तथा विवेकरूप विषय जिसके द्वारा दर्शित होते हैं उस प्रधान चित्त का अनुत्पाद अर्थात् अपने में दृश्य (शब्दादि तथा विवेक) वर्तमान रहने पर भी दर्शनाभाव है ?—२। अथवा गुणसमूह की अर्थवत्ता है ?—३। अथवा स्वचित्त के साथ (प्रलय काल में) निरुद्ध हुई अविद्या ही स्वचित्त की उत्पत्ति का बीज है ?—४। अथवा स्थिति संस्कार के क्षय के बाद गतिसंस्कार की अभिव्यक्ति है ? इस विषय पर यह उक्त हुआ है कि 'प्रधान स्थिति में ही वर्तमान रहने पर विकार न करने के कारण अप्रधान होगा, इस प्रकार गति में ही वर्तमान रहने पर विकार-नित्यत्व-हेतु से अप्रधान होगा; स्थिति तथा गति इन दोनों प्रकारों से इसकी प्रवृत्ति रहने पर ही प्रधान रूप से व्यवहार प्राप्त करता है अन्यथा नहीं करता। अपरापर जो कारण होता है, उसमें भी यही विचार प्रयोज्य है।'—५। कोई-कोई कहते हैं अदर्शन शक्ति ही अदर्शन है। 'प्रधान की आत्मख्यापनार्थ प्रवृत्ति' यह श्रुति ही उनका प्रमाण है। सर्व-बोध्य-बोध-समर्थ पुरुष प्रवृत्ति से पहले दर्शन नहीं करते हैं; सर्वकार्यकरणसमर्थ दृश्य को उस समय नहीं देखते हैं।—६। दोनों का ही धर्म अदर्शन है, कुछ लोग ऐसा कहते हैं। इस में (इस मत में) दृश्य के स्वात्मभूत होने पर भी पुरुषप्रत्ययापेक्ष दर्शन ही दृश्य-धर्म होता है, इसी प्रकार पुरुष के अनात्मभूत होने पर भी दृश्य प्रत्ययापेक्ष दर्शन पुरुषधर्मरूप से अवभासित होता है।—७। कोई-कोई दर्शन ज्ञान को ही अदर्शन नाम देते हैं।—८। ये सब शास्त्रगत मतभेद हैं। अदर्शन विषय पर इसी भाँति के बहुत विकल्प रहने से भी यह सभी मानते हैं कि 'सर्व-पुरुष के साथ गुण का जो पुरुषार्थ-हेतु संयोग है वही सामन्यतः अदर्शन है' (४)।

टीका—२३—(१) संयोग हेतुस्वरूप है, उसका फल 'स्व'स्वरूप दृश्य तथा 'स्वामि'स्वरूप पुरुष की उपलब्धि है। पुम्प्रकृति का संयोग ही ज्ञान कहलाता है। वह ज्ञान दो प्रकार का है—भ्रान्ति ज्ञान या भोग तथा सम्यक् ज्ञान या अपवर्ग। अतः संयोग से भोग और अपवर्ग होते हैं, अर्थात् भोग और अपवर्ग-रूप ज्ञानद्वय ही पुम्प्रकृति की संयुक्तावस्था होते हैं। अपवर्ग सिद्ध होने पर पुम्प्रकृति का वियोग हो जाता है।

२३—(२) बुद्धितत्व का साक्षात्कार कर तत्परस्थ पुरुषतत्वमें स्थिति के लिये एक बार बुद्धि का निरोध करने के बाद जब संस्कारवश बुद्धि पुनरुत्थित होती है, तब 'पुरुष बुद्धि से परे या पृथक् तत्व है' ऐसी जो ख्याति या प्रबल ज्ञान होता है, वही दर्शन यानी प्रकृत्त विवेक-ख्याति है। वह निरुद्ध बुद्धि के (जिससे पुरुष-स्थिति प्राप्त होती है) संस्कार-विशेष की स्मृतिमूलक ख्याति है। अतः उस प्रकार की ख्याति का एकमात्र फल होता है बुद्धिनिरोध या पुम्प्रकृति का वियोग। बुद्धि का भोगरूप व्युत्थान ही अदर्शन है, सुतरां विवेक-दर्शन-द्वारा भोग की निवृत्ति होने पर अदर्शन या विपरीत दर्शन (बुद्धि तथा पुरुष पृथक् होने से भी उनका एकत्वदर्शन निवृत्त होता है। वही दृश्यनिवृत्ति अर्थात् पुरुष का कैवल्य है। अतएव विवेकज्ञान परम्पराक्रम से कैवल्य का कारण है।

२३—(३) अदर्शन-सम्बन्धी आठ प्रकार के विभिन्न-मत शास्त्रकारों ने कहे हैं। भाष्यकार ने उनका संग्रह प्रदर्शित किया है। सब लक्षण भिन्न भिन्न प्रकार गृहीत हुए हैं। उनमें चौथा विकल्प ही सम्यक् ग्राह्य है। अब उन आठ प्रकार के मतों का व्याख्यान नीचे किया जाता है ।

१ला—गुण का अधिकार ही अदर्शन है। अधिकार का अर्थ है कार्यारंभण-सामर्थ्य। गुण समूह सक्रिय रहने से ही उस समय अदर्शन रहता है इस लक्षण में इतना सत्य है, 'देह में ताप रहना ही ज्वर है' इस प्रकार लक्षण के समान यह सदोष है।

२रा—प्रधान चित्त का अनुत्पाद ही अदर्शन है, दृशिरूप स्वामी के निकट जो चित्त भोग्य विषय तथा विवेक विषय का दर्शन कराकर निवृत्ति प्राप्त करता है, वही प्रधान चित्त है। भोग्य विषय का पार-दर्शन (विवेकद्वारा) तथा विवेक दर्शन होने से ही चित्त निवृत्त होता है, इस दर्शन से युक्त चित्त ही प्रधान चित्त है। चित्त में ही भोग-दर्शन और विवेक-दर्शन इन दोनों का बीज रहता है, उस बीज का सम्यक् प्रकाश न होना ही इस मत में अदर्शन कहा जाता है। यह लक्षण भी संपूर्ण नहीं है। 'स्वस्थ रहना ही भोग है' इसके समान इस लक्षण में भी कुछ सत्य है।

३रा—गुण की अर्थवत्ता ही अदर्शन है। अर्थवत्ता अर्थात् गुण की अव्यपदेश्य कार्यजननशीलता। सत्कार्यवाद में कार्य और कारण सत् हैं। जो उत्पन्न होगा, वह वर्त्तमान में अव्यपदेश्य रूप से रहता है। भोग तथा अपवर्ग रूप अर्थ का उस प्रकार अव्यपदेश्य भाव में रहना ही गुण की अर्थवत्ता है। वह अर्थवत्ता ही अदर्शन है, यह भी कुछ सत्य लक्षण है। अर्थवत्ता और अदर्शन अविनाभावी हैं किन्तु अविनाभावित्व के उल्लेखमात्र से ही संपूर्ण लक्षण नहीं होता। रूप क्या है ?—जो विस्तृत है। विस्तार और रूपज्ञान अविनाभावी होते हैं, तब भी विस्तार का उल्लेख मात्र ही रूप का लक्षण नहीं है।

४था—अविद्या संस्कार ही संयोग का हेतु अदर्शन है। अविद्यामूलक कोई वृत्ति उठने से उसके पीछे होनेवाली वृत्ति भी अविद्यामूलक होगी, यह अनुभव किया जाता है; अतः अविद्यामूलक संस्कार बुद्धि तथा पुरुष का संयोग घटाता है यह सिद्ध हुआ। पूर्वानुक्रम से सोचने पर प्रलयकाल में जो चित्त अविद्यावासित होकर लीन होता है, वही सर्गकाल में साविद्य होकर बुद्धि-पुरुष का संयोग घटाता है। इस मत की आगे सम्यक् व्याख्या होगी। यह मत ही बुद्धि-पुरुष के संयोग को (अतः संयोग के सहभावी अदर्शन को भी) समझाने के लिये समर्थ है।

५ वाँ—प्रधान की गति या वैषम्य-परिणाम एवं स्थिति या साम्य-परिणाम हैं, क्योंकि, यदि गति एकमात्र स्वभाव हो तो विकार-नित्यता होती है तथा स्थितिमात्र स्वभाव हो तो विकार नहीं होता। प्रधान के इन दोनों स्वभावों में स्थितिसंस्कार के क्षय से गति-संस्कार की अभिव्यक्ति ही (अर्थात् उसका समूह विषयज्ञान ही) अदर्शन होती है; यह पञ्चम कल्प है। इसमें मूल कारण का स्वभावमात्र कहा गया है, सनिमित्त कार्यरूप संयोग का निमित्तभूत पदार्थ व्याख्यात नहीं हुआ। घट क्या है ? परिणामशील मृत्तिका का परिणाम विशेष ही घट है—केवल ऐसा कहने से जिस प्रकार घट सम्यक् लक्षित नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार मूल कारण भी यहाँ सम्यक् लक्षित नहीं हुआ।

६ ठा—दर्शनशक्ति ही अदर्शन है। प्रधान की प्रवृत्ति होने पर समस्त विषय दृष्ट होते हैं, अतः प्रधान-प्रवृत्ति की जो शक्तिरूप अवस्था है वही अदर्शन है। अदर्शन एक

प्रकार का दर्शन है। वह दर्शन प्रधानाश्रित है और प्रधान-प्रवृत्ति की हेतुभूत शक्ति हैं। अदर्शन, कार्य या चित्तधर्म होता है, उसके लक्षण में मूलाशक्ति का उल्लेख करने पर वह उतना बोधगम्य, नहीं होता है। ठीक वैसे ही जैसे कि सूर्यालोक-जात शस्य तण्डुल है' कहने से तण्डुल सम्यक् लक्षित नहीं होता।

७वाँ—दृश्य तथा पुरुष दोनों ही धर्म अदर्शन है। अदर्शन ज्ञान-शक्ति-विशेष है। ज्ञान दृश्यगत होने पर भी पुरुष-सापेक्ष है। अतः वह पुरुषगत न होकर भी पुरुष धर्म के समान अवभासित होता है। पुरुष की अपेक्षा रहती है अतः ज्ञान (शब्दादि तथा विवेक ज्ञान) दृश्य तथा पुरुष दोनों ही का धर्म है। 'सूर्य-सापेक्ष ज्ञान ही दृष्टि होता है' यह जैसे दृष्टि का सम्यक् लक्षण नहीं होता वैसे ही अपेक्षत्वमात्र कहने से द्रव्य लक्षित नहीं होता।

८ वाँ—विवेकज्ञान को छोड़कर जो शब्दादि विषयज्ञान है वही अदर्शन है और वही पुम्प्रकृति की संयोगवस्था है।

सांख्यशास्त्र में ये आठ प्रकार के मत अदर्शन संबन्ध में देखे जाते हैं। अदर्शन = नञ् + दर्शन। नञ् शब्द के छः प्रकार के अर्थ हैं—(१) अभाव या निषेधमात्र, जैसे अपाप; (२) सादृश्य, जैसे अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मणसदृश; (३) अन्यत्व, जैसे अमित्र वो मित्र-भिन्न शत्रु; (४) अल्पता, जैसे अनुदरी कन्या अर्थात् अल्पोदरी; (५) अप्राशस्त्य, जैसे अकेशी अर्थात् अप्रशस्तकेशी; (६) विरोध; जैसे असुर वा सुर-विरोधी।

इनमें अभाव अर्थ छोड़ के अन्य सभी अर्थ और एक भाव पदार्थ के स्पष्ट द्योतक हैं। जैसे अमित्र का अर्थ शत्रु। निषेधमात्र ज्ञापन करने से उसे प्रसज्यप्रतिषेध कहते हैं; और भावान्तर समझाने से उसे पर्युदास कहते हैं। उक्त आठ प्रकार के मतों में केवल द्वितीय मत प्रसज्यप्रतिषेध होता है, क्योंकि उसमें उत्पत्ति का अभावमात्र कहा गया है। अन्य सब मत पर्युदास पक्ष में गृहीत हुए हैं अर्थात् अदर्शन शब्द नञ् भावार्थ में गृहीत हुए हैं।

२३—(४) उक्त मत समूह (चतुर्थ को छोड़कर) प्रकृति तथा पुरुष के संयोग-मात्र को समझाते हैं। वह संयोग स्वभाविक नहीं है। यदि ऐसा होता तो कभी वियोग न होता। परन्तु वह नैमित्तिक है। अतः उस निमित्त का उल्लेख ही संयोग की संपूर्ण व्याख्या है। अविद्या ही वह निमित्त है, जिससे संयोग होता है।

वस्तुतः 'गुण के साथ पुरुष का संयोग' यह सामान्य है अर्थात् सभी लक्षणों में यह स्वीकृत हुआ है। जभी संयोग होता है, तभी गुणविकार देखा जाता है। सर्ग काल में व्यक्तरूप और प्रलयकाल में संस्काररूप गुणविकार के साथ पुरुष का संयोग सिद्ध होता है। अतः संयोग वास्तव में स्वबुद्धि तथा प्रत्यक् चेतन का (प्रति पुरुष का) संयोग है। यह संयोग अविद्या से पैदा होता है। अतः चतुर्थ विकल्प में जो अविद्या को संयोग का कारणभूत अदर्शन कहा गया है, वही सम्यक् लक्षण है। सूत्रकार ने यही कहा है।

भाष्यम्—यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः,

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः। विपर्ययज्ञानवासनावासिता न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः

प्राप्नोति साधिकारा पुनरावर्त्तते। सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसाना कार्यनिष्ठां प्राप्नोति चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते। अत्र कश्चित् षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति, मुग्धया भार्य्यया अभिधीयते षण्डकः, 'आर्यपुत्र! अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहमिति।' स तामाह 'मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति'', तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा। तत्राचार्यदेशीयो वक्ति ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः, अदर्शन कारणाभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः, तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्त्तते। तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥ २४ ॥

भाष्यानुवाद—प्रत्यक्चेतन के साथ जो स्वबुद्धि संयोग,

२४—उसका हेतु अविद्या है (१)। सू

अर्थात् विपर्यय ज्ञानवासना। विपर्ययज्ञानवासनावासिता बुद्धि पुरुष ख्याति रूप कार्यनिष्ठा अर्थात् कर्त्तव्यता (चेष्टा) का अन्त नहीं पाती, अतः साधिकार के कारण पुनरावर्त्तन करती है, और पुरुष ख्याति के पर्यवसित होने पर वह बुद्धि कार्यसमाप्ति प्राप्त कर लेती है। तब चरिताधिकारा, अदर्शनशून्य बुद्धि बन्धकारणाभाव के कारण और दुबारा आवर्त्तन नहीं करती (२)। इस पर कुछ व्यक्ति (विपक्षवादी) निम्नोक्त षण्डकोपाख्यान-द्वारा उपहास करते हैं। एक नपुंसक की मुग्ध पत्नी उससे कह रही है—'आर्यपुत्र! मेरी बहन के सन्तान है, मेरे क्यों नहीं हैं?' नपुंसक ने पत्नी से कहा कि 'मरने के बाद आकर मैं तेरे पुत्र पैदा करूँगा।' इस प्रकार जब यह विद्यमान ज्ञान ही चित्तनिवृत्ति नहीं करता तब वह विनष्ट होकर करेगा इसकी क्या आशा? कोई आचार्यकल्प व्यक्ति इसका उत्तर देते हैं कि 'बुद्धिनिवृत्ति ही मोक्ष है, अदर्शनरूप कारण का अपगम होने पर बुद्धिनिवृत्ति हो जाती है। यह बन्धकारण अदर्शन, दर्शन से निर्वात्तित होता है।' फलतः चित्तनिवृत्ति ही मोक्ष है अतः उक्त विपक्षवादी का अनवसर मतिविभ्रम व्यर्थ है।

टीका—२४। (१) प्रत्यक् चेतन शब्द का विस्तृत अर्थ १।२९ सूत्र की टिप्पणी में देखिए, प्रतिपुरुषरूप एक एक चित् ही प्रत्यक्चेतन हैं।

अविद्या का अर्थ विपर्ययज्ञान वासना है। विपर्यय का अर्थ है मिथ्याज्ञान। अनात्म में आत्मज्ञान आदि अविद्या लक्षण में कथित विपर्ययज्ञान स्मरणीय है। सामान्यतः बुद्धि तथा पुरुष के अभेदज्ञान ही बन्धकारण विपर्ययज्ञान है। उस ज्ञान की वासना ही मूलतः संयोग का कारण है। संयोग अनादि है, अतः कोई समय नहीं जब कि संयोग नहीं था। अतएव संयोग की आदि प्रवृत्ति देखकर उसका कारण निर्णय नहीं होता है। परन्तु वियोग जानकर ही संयोग का कारण निर्णय होता है। कुछ खनिज मैनसिल मिला उसकी उत्पत्ति स्थान को मैंने नहीं देखा, परन्तु उसका विश्लेषण कर जाना कि वह गन्धक और शङ्ख धातु (आर्सेनिक) है। संयोग के विषय में भी यही बात है। विवेक ज्ञान होने पर बुद्धि, सम्यक् निरुद्ध होती है या बुद्धि-पुरुष का वियोग होता है, अतः विवेकज्ञान का विरोधी जो अविवेक या अविद्या है वही संयोग का कारण है। भाष्यकार ने ऐसा ही दिखाया है।

विपर्ययज्ञानवासना जब तक रहती है, तब तक वियोग नहीं होता। सम्यक् पुरुष-ख्याति होनेपर ही चित्त का कार्य शेष होता है या वियोग होता है; अतएव पुरुषख्याति के विपरीत जो विपर्ययज्ञान है वही संयोग का कारण है। पूर्व संस्कार को हेतु करके ही वर्त्त-

मान विपर्यय ज्ञान उदित होता है । पूर्व क्रम से संस्कार अनादि है । अतएव अनादि-विपर्यय संस्कार या अनादि विपर्ययज्ञानवासना ही, संयोग का हेतु है ।

२४—(२) कैवल्यावस्था में दर्शन और अदर्शन सभी निवृत्त होते हैं । दर्शन और अदर्शन परस्पर सापेक्ष हैं । मिथ्या ज्ञान रहने से चित्त में सत्यज्ञानरूप परिणाम होता है । 'बुद्धि तथा पुरुष पृथक् हैं' समाहित चित्त के इस प्रकार के साक्षात्कार । (विवेकज्ञान) काल में 'बुद्धि' पदार्थ का ज्ञान रहना चाहिये । वही ज्ञान (मेरी बुद्धि है या थी ऐसा) विपर्यय-मूलक है । बुद्धि पदार्थ का ऐसा ज्ञान रहने पर चित्त-वृत्ति का सम्यक् निरोधरूप कैवल्य नहीं होता है । अतः कैवल्य में विवेक-अविवेक कुछ भी नहीं रहता । अविवेक, विवेक-द्वारा नष्ट होता है । ऐसा होने से ही चित्त-निरोध या बुद्धि-निवृत्ति होती है ।

अविद्या, अस्मिता, राग आदि समस्त क्लेश, विवेक तथा तन्मूलक परवैराग्य-द्वारा नष्ट होते हैं । 'शरीरादि कुछ भी मैं नहीं हूँ एवं शरीरादि से मैं कुछ नहीं चाहता हूँ' इस प्रकार की समापत्ति होने पर आबुद्धि सभी दृश्य स्पन्दन शून्य या निरुद्ध हो जायेंगे यह स्पष्ट है । अतएव विवेक-द्वारा अविवेक नष्ट होता है, अविवेक नष्ट होने पर चित्तनिवृत्ति होती है । विवेक अग्नि के समान स्वाश्रय को नष्ट करता है ।

भाष्यम्—हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम् अतःपरं हानं वक्तव्यम्—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभावः आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थ एतद् हानम् । तद्दृशेः कैवल्यम् पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः । दुःखकारण निवृत्तौ दुःखोपरमो हानं तदा स्वरूप प्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

भाष्यानुवाद—हेय दुःख, हेय का कारण संयोग तथा संयोग का भी कारण बतला चुके हैं । अब हान कहा जाता है ।

२५—उसके (अविद्या के) अभाव से जो संयोगाभाव है वही हान है, और वही द्रष्टा का कैवल्य है ॥ सू

उसका अर्थात् अदर्शन का अभाव होने पर बुद्धि पुरुष का संयोगाभाव अर्थात् बन्धन की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है यही हान, यही दृशि का कैवल्य अर्थात् पुरुष का अमिश्री-भाव तथा गुणों के साथ पुनः असंयोग है । दुःखकारण की निवृत्ति होने से जो दुःख की निवृत्ति है, वही हान है । इस अवस्था में पुरुष स्वरूप प्रतिष्ठ रहते हैं, यह कथित हुआ ।

टीका—२५ । (१) द्रष्टा के कैवल्य का अर्थ है केवल द्रष्टा । द्रष्टा तथा दृश्य का संयोग रहने पर केवल द्रष्टा है यह नहीं कहा जा सकता है । शंका हो सकती है कि कैवल्य और अकैवल्य क्या द्रष्टृगत भेदभाव हैं ?—नहीं, ऐसा नहीं है । बुद्धि ही निरोधरूप परिणाम या अदृश्यपथ प्राप्त होती है । द्रष्टा का उससे कुछ भी नहीं होता या हो नहीं सकता । यह विषय इस पाद के बीसवें सूत्र की दूसरी टिप्पणी में निवृत किया गया है । पुरुष का कैवल्य—यह यथार्थ कथा है, पर पुरुष की मुक्ति—यह औपचारिक कथा है ।

भाष्यम्—अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति —

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।। २६ ।।

सत्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः, सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञानाप्लवते । यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं संपद्यते तदा विधूत क्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायाँ वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्यय-प्रवाहो निर्म्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः, ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसवः । इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ।। २६ ।।

भाष्यानुवाद—हान-प्राप्ति का उपाय क्या है ?—

२६—अविप्लवा विवेकख्याति हान का उपाय है ।। सू

बुद्धि तथा पुरुष का अन्यता- (भेद-) प्रत्यय ही विवेकख्याति है, वह अनिवृत्त मिथ्या-ज्ञान-द्वारा भग्न हो जाती है (१) । जब मिथ्याज्ञान दग्ध-बीज-भाव तथा प्रसवशून्य अवस्था प्राप्त करता है, तब विधूतक्लेशमल बुद्धिसत्व की विलक्षणता या सम्यक् निर्मलता होने पर वशीकार-संज्ञक वैराग्य की परावस्था में वर्त्तमान योगी का विवेकप्रत्ययप्रवाह निर्मल होता है । यही अविप्लवा विवेकख्याति हान का उपाय होती है। उससे (विवेकख्याति से) मिथ्या ज्ञान की दग्ध बीजभावप्राप्ति तथा पुनः प्रसवशून्यता होती है । यही मोक्ष-मार्ग या हान का उपाय है।

टीका—२६—(१)विवेक पहले बहुत स्थानों पर व्याख्यात हुआ है। विवेक का अर्थ है बुद्धि और पुरुष का भेद । तद्विषयक जो ख्याति या प्रबल ज्ञान या प्रधान ज्ञान अर्थात् मन का प्रख्यात भाव है वही विवेकख्याति है ।

सर्व-प्रथम विवेकज्ञान शास्त्र-श्रवण से होता है; बाद में वह युक्तिपूर्वक मनन-द्वारा दृढ़तर तथा स्फुटतर होता है । योगाङ्गों का अनुष्ठान करते-करते वह क्रमशः प्रस्फुट होता रहता है । सम्प्रज्ञात योग या समापत्ति-द्वारा दृश्यविषयक मिथ्या-ज्ञान उत्पन्न होने की संभावना जब निवृत्त होती है , तब उसे मिथ्याज्ञान की दग्धबीजावस्था कहते हैं, वैसा होने पर एवं दृष्टादृष्टविषयक राग सम्यक् निवृत्त होने पर समाधि-निर्मल विवेकज्ञान की ख्याति होती है। यही विवेकख्याति अविप्लवा या मिथ्याज्ञान-द्वारा अभग्ना होने से ही उसके द्वारा हान या दृश्य का सम्यक् त्याग सिद्ध होता है । विवेकख्याति के समय में मिथ्याज्ञान दग्धबीजवत् हो जाता है । हान सिद्ध होने पर वे दग्धबीजकल्प विपर्यय और विवेकज्ञान दोनों ही विलीन हो जाते हैं । वही कैवल्य है ।

विवेकख्याति द्वारा कैसे बुद्धिनिवृत्ति होती है यह आगामी सूत्र द्वारा व्याख्यात हुआ है ।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।। २७ ।।

भाष्यम्—तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः, सप्तधेति । अशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति, तद्यथा—परिज्ञातं

हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति ।—१। क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति ।—२। साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम् ।—३। भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः ।—४। इत्येषा चतुष्टयी कार्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः । चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी ।—चरिताधिकारा बुद्धिः । —५। गुणा गिरिशिखर कूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति, न चैषां विप्रिलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति ।—६। एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति ।—७। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते, प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति ॥ २७ ॥

२७—उनकी (विवेकख्यातिमान् योगी की) सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा होती हैं (१) ॥ सू

भाष्यानुवाद—उसके अर्थात् उदितख्याति के द्वारा प्रसन्नचित्त योगी के सम्बन्ध में यह शास्त्र में कथित हुआ है । सप्तधा इति । चित से अशुद्धिरूप आवरणमल का अपगम होने के बाद यदि प्रत्ययान्तर उत्पन्न नहीं होता तो विवेकी की सात प्रकार की प्रज्ञा होती है,— (१)समस्त हेय परिज्ञात हो चुके हैं,और इस विषय में अन्य परिज्ञेय नहीं है ।—(२)समस्त हेय हेतु क्षीण हो चुके हैं और उनकी क्षीणकर्त्तव्यता नहीं है ।—(३) निरोध समाधिद्वारा हान साक्षात्कृत हो चुका है ।—(४) विवेकख्यातिरूप हानोपाय भावित हो चुका है । प्रज्ञा की ये चारप्रकार की कार्यविमुक्ति हैं, और उसकी चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की हैं—(५) बुद्धि चरिताधिकारा हो चुकी है ।—(६) समस्त गुण गिरिशिखरच्युत उपलखण्ड के समान निरवस्थान होकर स्वकारण में प्रलयाभिमुख हुए हैं, एवं उस कारण के साथ विलीन हो रहे हैं, उन विप्रलीन गुणों का फिर प्रयोजन न रहने के कारण और उत्पत्ति नहीं होगी।— (७) इस अवस्था में (सप्तम भूमि में) पुरुष गुणसम्बन्धातीत, स्वरूपमात्रज्योति, अमल तथा केवली होता है (प्रज्ञा-द्वारा केवल इस प्रकार ही अवभासित होते हैं)। इस सप्त-प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुदर्शन करनेपर पुरुष को कुशल कहा जाता है । चित्त प्रलीन होनेपर भी उसे मुक्त, कुशल कहा जाता है क्योंकि उस समय पुरुष गुणातीत हो जाता है ।

टीका—२७ । (१) प्रान्तभूमिप्रज्ञा=प्रज्ञा की चरम अवस्था । जिसके बाद और तद्विषयक प्रज्ञा नहीं हो सकती, जिसके होने से तद्विषयक प्रज्ञा की समाप्ति या निवृत्ति होती है वही प्रान्तभूमि प्रज्ञा कहाती हैं । 'जो जानने का है वह जान चुका हूँ, और मेरा ज्ञातव्य नहीं है' ऐसी ख्याति होनेपर जो ज्ञाननिवृत्ति होगी वह स्पष्ट है ।

प्रथम प्रज्ञामें विषय के दुःखमयत्व का सम्यक् ज्ञान होकर विषयाभिमुख से चित्त सम्यक् निवृत्त होता है ।

द्वितीय प्रज्ञा में क्लेश-क्षय (लय नहीं) करने की चेष्टा सम्यक् सफल होने के कारण ऐसी ख्याति होती है कि मेरी उस विषय में और कोई कर्त्तव्यता नहीं है । इस प्रकार से संयमचेष्टा की निवृत्ति होती है ।

तृतीय प्रज्ञा-द्वारा चरम-गति-विषयक जिज्ञासा निवृत्त होती है, क्योंकि तब उसका साक्षात्कार होता है । इससे आध्यात्मिक गति के विषय में जिज्ञासा निवृत्ति होती है । एक बार निरोध-समाधि कर हान सम्यक् उपलब्ध होने से पश्चात् योगी को तदनुस्मृतिपूर्वक इस प्रकार का सम्प्रज्ञान होता है ।

चतुर्थ प्रज्ञा—हानोपाय लाभ होने से चित्त में और किसी योगधर्म की भावनीयता नहीं रहती। इससे कुशल-धर्मोत्पादन की चेष्टा निवृत्ति होती है। इस चार प्रकार की प्रज्ञा का नाम कार्य-विमुक्ति है। चेष्टा-द्वारा यह विमुक्ति होती है अर्थात् दूसरे शब्दों में साधन-कार्य इससे परिसमाप्त होता है इस कारण इसका नाम कार्यविमुक्ति होता है। अवशिष्ट तीन प्रकार की प्रान्तभूमि का नाम चित्तविमुक्ति (चित्त से विमुक्ति) है। कार्यविमुक्ति होने पर ये तीन प्रकार की प्रज्ञा स्वतः ही उदित होकर चित्त को सम्यक् निवृत्त कर देती है। वही परवैराग्य ज्ञान की पराकाष्ठा है। वही अग्र्या बुद्धि है। बुद्धिव्यापार की वह प्रान्त या सीमान्त रेखा है। उसके बाद कैवल्य है। ये तीन प्रान्त-प्रज्ञा जैसे—

पंचम—बुद्धि चरिताधिकारा हुई है अर्थात् भोग तथा अपवर्ग निष्पादित हो चुके हैं। अपवर्ग लब्ध होने पर भोग निवृत्त होता है। भोग का समाप्त करना ही अपवर्ग है। 'बुद्धि द्वारा और कुछ अर्थ नहीं है' इस प्रकार की प्रज्ञा होकर बुद्धि के व्यापार से विरति होती है।

षष्ठ—बुद्धि का स्पन्दन निवृत्त हो जायगा तथा वह और नहीं उठेगा इस प्रकार का ज्ञान षठ प्रज्ञा के स्वरूप में होता है। उसमें सब क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कारों के अपगम से चित्त का शाश्वतिक निरोध होगा, उसकी स्फुट प्रज्ञा होती है। पर्वत चूड़ से बृहत् उपलखण्ड नीचे गिरने पर जैसे वह अपने स्थान में फिर नहीं लौटता, उसी प्रकार गुणसमूह भी पुरुष से विच्युत होकर प्रयोजनाभाव के कारण और संयुक्त नहीं होंगे। यहाँ गुण का अर्थ है सुख-दुःख-मोह रूप बुद्धि का गुण, मौलिक त्रिगुण नहीं, क्योंकि वे ही तो मूल होते हैं, वे फिर किसमें लीन होंगे।

सप्तम—इस प्रज्ञावस्था में पुरुष गुण-सम्बन्ध से शून्य, स्वप्रकाश, अमल, केवली, प्रख्यात होता है। यहाँ गुण का अर्थ त्रिगुण है। यह कैवल्य नहीं, पर कैवल्य विषयक सर्वोत्तम प्रज्ञा है। कैवल्य में चित्त का प्रतिप्रसव या लय होता है; अतः उस समय प्रज्ञान भी लीन हो जाता है।

ये सप्त-प्रान्तभूमि प्रज्ञा के बाद चित्त निरुद्ध होने पर शान्तोपाधिक पुरुष को मुक्त कुशल कहा जाता है। इस प्रज्ञा के भावना काल में पुरुष को कुशल कहा जाता है। यही जीवन्मुक्ति अवस्था है। जीवन काल में भी जिसे दुःख-संस्पर्श नहीं लगता, उस योगी को जीवन्मुक्त कहा जाता है। विवेक ख्याति के बाद जब लेशमात्र संस्कार रहता है और योगी प्रान्तभूमि-प्रज्ञा की भावना करते हैं तब वे जीवन्मुक्त कहे जाते हैं क्योंकि उस समय दुःख-कर विषय उपस्थित होने पर भी वे उसका अतिक्रमण करते हैं। विवेक-दर्शन में समापन्न हो सकने के कारण उनको दुःखसंस्पर्श नहीं हो सकता; अतः वे जीवन्मुक्त होते हैं। निर्माण-चित्त अवलम्बन कर जीवित रहने से भी योगी जीवन्मुक्त हैं। फलतः मुक्त या दुःख-संपर्श से अतीत होकर भी जीवित रहने से अर्थात् सामर्थ्य रहने पर भी सम्यक् चित्त-निरोध कर विदेह-कैवल्य को आश्रय न करने से ही योगी को जीवन्मुक्त कहा जाता है **"जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति"** (४। ३०)।

आधुनिक मतों में जो जीवन्मुक्ति है, योगमत में वह श्रुतानुमानज प्रज्ञामात्र है। विवेकख्याति-सिद्ध योगी 'भयसे संत्रस्त' नहीं होते या 'दुःख से विलाप नहीं करते।' आधुनिक जीवन्मुक्त को गीत, संत्रस्त, शोकार्त्त या अन्य कुछ होने से या करने से दोष नहीं लगता; केवल **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस प्रकार समझने से ही काम चल जाता है। योगी-

जीवन्मुक्त कैवल्य और ऐसे 'जीवन्मुक्तों' में आकाश-पाताल का भेद है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है ।

भाष्यम्—सिद्धा भवति विवेकख्याति हीनोपायः, न च सिद्धिरन्तरेण साधन मित्ये-तदारभ्यते—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।। २८ ।।

योगाङ्गानि अष्टावभिधायिष्यमाणानि, तेषामनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशु-द्धिरूपस्य क्षयः नाशः । तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः । यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते । यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षय क्रमानुरोधिनी ज्ञान-स्यापि दीप्तिर्विवर्द्धते, सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवति आ विवेकख्यातेः—आ गुणपुरुष-स्वरूपविज्ञानादित्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणं यथा परशुश्छेद्यस्य, विवेकख्या-तेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम् ।

कति चैतानि कारणनि शास्त्रे भवन्ति, नवैवेत्याह, तद्यथा—'उत्पत्तिस्थित्याभि-व्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः । वियोगान्यत्वधृतयः कारणन्नवधा स्मृतम्" इति तत्रोत्पत्तिकारणं —मनो भवति विज्ञानस्य, स्थितिकारणं—मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्येवाहार इति । अभि व्यक्ति कारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम् । विकारकारणं—मनसो विषयान्तरं, यथाग्निः पाक्यस्य । प्रत्ययकारणं—धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य । प्राप्तिकारणं—योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः । वियोग कारणं—तदेवाशुद्धेः । अन्यत्वकारणं—यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः । एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्य अविद्या मूढ़त्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्वज्ञानं माध्यस्थ्ये । धृतिकारणं—शरीरमिन्द्रियाणां तानि च तस्य, महाभूतानि शरीराणां तानि च परस्परं सर्वेषां, तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वात् । इत्येवं नव कारणानि । तानि च यथासम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि । योगाङ्गानुष्ठानन्तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति ।। २८ ।।

भाष्यानुवाद— विवेकख्यातिरूप हानोपाय सिद्धि होता है अर्थात् वह एक प्रकार की सिद्धि है; किन्तु साधन के बिना सिद्धि नहीं होती, अतः ये (योगसाधन के विषय) आरम्भ होते हैं ।

२८—योगाङ्ग के अनुष्ठान से अशुद्धि-क्षय होने से विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती रहती है (१) ।। सू

योगाङ्ग = अभिधायिष्यमाण (जो अभिहित होंगे) अष्टसंख्यक हैं । उनके अनु-ष्ठान से पंचपर्व विपर्यय-रूप अशुद्धि का क्षय या नाश होता है । उनके क्षय से सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है । ज्यों ज्यों साधनों के अनुष्ठान किए जाते हैं त्यों त्यों अशुद्धि तनुता (क्षीणता) प्राप्त करती जाती है । अशुद्धि-क्षय के साथ ही साथ क्षयक्रमानुसारिणी ज्ञानदीप्ति बढ़ती रहती है । जब तक विवेकख्याति या गुण तथा पुरुष का स्वरूपविज्ञान न हो, तब तक ज्ञान बढ़ता रहता है । योगाङ्ग का अनुष्ठान अशुद्धि का वियोग-कारण (२)

होता है; जैसे परशु, छेद्य वस्तु का वियोग-कारण होता है, और वह विवेकख्याति की प्राप्ति-कारक है; जैसे कि धर्म सुखका होता हैं वह (योगाङ्गानुष्ठान) दूसरे प्रकार से कारण नहीं होता ।

शास्त्र में नौ प्रकार के कारण कहे गए हैं, उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व तथा धृति । उनमें मन, विज्ञान का उत्पत्तिकारण है; मन का स्थितिकारण पुरुषार्थता है जैसे शरीर का आहार । आलोक-रूप का अभिव्यक्ति कारण है और रूपज्ञान रूप का (अर्थात् रूपज्ञान भी रूप के प्रतिसंवेदन का कारण है, उससे 'मैंने रूप जाना' इस प्रकार की रूपबुद्धि का प्रतिसंवेदन होता है) । मन का विकार कारण विषयांतर है जैसे अग्नि पाक्य वस्तु का । धूमज्ञान, अग्नि ज्ञान का, प्रत्यय कारण है । योगाङ्गा-नुष्ठान विवेकख्याति का प्राप्तिकरण है और वही वियोगकारण अशुद्धि का । सोनार सोने का अन्यत्वकारण है वैसे ही एक ही स्त्रीज्ञान के मूढ़त्व, दुःखत्व, सुखत्व तथा माध्यस्थ्यरूप अन्यत्वकारण यथा क्रम अविद्या, द्वेष, राग तथा तत्त्वज्ञान हैं । शरीर इन्द्रियों का और इन्द्रिय शरीर का धृतिकारण है । वैसे ही महाभूत समस्त शरीरों का और वे (महाभूत) आपस में एक दूसरे के धृतिकारण होते हैं । पशु, मनुष्य एवं देवता भी परस्पर एक दूसरे के अर्थ होने से धृतिकारण हैं । ये नौ कारण हैं । ये यथासम्भव अन्य पदार्थों में भी योज्य हैं । योगाङ्गानुष्ठान दो प्रकार से कारणता प्राप्त करता है (वियोग तथा प्राप्ति) ।

टीका—२८ । (१) क्लेशसमूह या अविद्यादि पांच प्रकार के अज्ञान प्रबल रहने से भी श्रुतानुमानजनित विवेकज्ञान होता है । परन्तु वे सब अज्ञान-संस्कारों की साधन-द्वारा जितनी क्षीणता होती रहती है उतनी ही विवेकज्ञान की प्रस्फुटता होती है । तदुपरांत समाधिलाभ पूर्वक सम्प्रज्ञात समापत्ति में सिद्ध होने से विवेक की भी पूर्ण ख्याति होती है । इस प्रकार से विवेकज्ञान की स्फुटता होना ही ज्ञानदीप्ति है । 'विषयों में राग होना, दुःख का हेतु है' ऐसा जानकर भी जो उसके अर्जन तथा रक्षण में यत्नवान् होते हैं उनका ज्ञान एक प्रकार का है, और जो उसे जानकर विषय-संपर्क त्याग करने में यत्नवान् होते हैं उनमें तद्विषयक ज्ञान की दीप्ति या स्फुटता होती है, और जो विषय-त्याग कर उनके पुनर्ग्रहण से सम्यक् विरत हैं, उनका 'विषय दुःखमय है' इस ज्ञान की ख्याति या सम्यक् स्फुटता हो चुकी है, यह जानना चाहिये । विवेक-ज्ञान के संबंध में भी उसी प्रकार जानिए ।

२८ । (२) यम-नियम आदि योगाङ्ग ज्ञान रूप विवेक के किस प्रकार कारण हो सकते हैं भाष्यकार ने इसी शंका का समाधान किया है कि योगाङ्ग अशुद्धि के वियोग कारण हैं ।

अविद्यादि सभी अज्ञान होते हैं । योगाङ्गानुष्ठान का अर्थ है अविद्यादिवश कार्य न करना । उससे (अविद्यादिवश कार्य न करने से) अविद्यादि क्षीण होते हैं और विवेकज्ञान की दीप्ति होती है । जैसे द्वेष एक अज्ञानमूलक वृत्ति है, हिंसा ही प्रधान द्वेष है । अहिंसा करने पर उस द्वेषरूप अज्ञान का कार्य रुक जाता है । अतः क्रमशः उसके द्वारा विवेकज्ञान की ख्याति हो सकती है । इसी प्रकार सत्य-द्वारा लोभादि नाना अज्ञान नष्ट होते हैं । आसन-प्रणायामद्वारा शरीर स्थिर, निश्चल, वेदनाशून्यवत् होनेपर 'मैं शरीरी हूँ' इस अवि-द्या-ख्याति का ह्रास होकर 'मै अशरीरी हूँ' इस विद्या-भावना की अनुकूलता होती है । इसी

प्रकार योगाङ्गानुष्ठान विद्या का कारण होता है। साक्षात् सम्बन्ध उसके द्वारा-रूप विपर्यय-संस्कार वियुक्त होता है, ऐसा होने से ही विद्या की ख्याति होती है।

अशुद्धि का अर्थ केवल अज्ञा ननहीं पर अज्ञानमूलक कर्म है और उसका संचित संस्कार है। योगाङ्गानुष्ठान का अर्थ है ज्ञानमूलक कर्म का आचरण। ज्ञानमूलक कर्म-द्वारा अज्ञानमूलक कर्म नष्ट होता है। उससे ज्ञान की सम्यक् ख्याति होती है। ज्ञान की ख्याति होने पर अज्ञान नष्ट होता है। अज्ञान भली भाँति नष्ट होने पर बुद्धिनिवृत्ति या कैवल्य होता है। इसी प्रकार योगाङ्गानुष्ठान कैवल्य का हेतु होता है।

बहुत-से स्थूलदर्शी व्यक्ति 'योग-द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है' यह सुनकर बिगड़ बैठते हैं। वे कहते है कि अनुष्ठान ज्ञान का कारण नही है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ही ज्ञान के कारण होते हैं। वस्तुतः इस बात को योगी लोग भी मानते हैं। योगानुष्ठान ज्ञान का कारण किस प्रकार होता है यह प्रदर्शित किया जा चुका है। फलतः समाधि परम प्रत्यक्ष है, तत्पूर्वक विचार ही विवेकज्ञान में पर्यवसित होता है। प्रत्यक्षदर्शी पुरुषों-द्वारा उपदिष्ट ज्ञान ही मोक्ष-विषयक विशुद्ध आगम होता है।

योगानुष्ठान, विद्या का कारण है। कारण कहने से ही केवल उपादान कारण नहीं समझना चाहिए यह भाष्यकार ने सुस्पष्ट रूप से समझाया है। वस्तुतः मोक्ष का कोई भी उपादान कारण नहीं है। बन्ध का अर्थ है गुण तथा पुरुष का संयोग। वाह्य द्रव्य का संयोग जिस प्रकार एकदेशीय होता है, अबाह्य पुम्प्रकृति का संयोग उस प्रकार नहीं होता। उसका संयोग 'अविविक्त प्रत्यय'-मात्र है। वह अविवेक-प्रत्यय के विवेक द्वारा नष्ट होता है। योग अशुद्धि का वियोगकारण और विवेक का प्राप्ति कारण है। विवेक-द्वारा अविवेक का नाश होता है, अतः इस परम्परा से योग मोक्ष का कारण है। परन्तु संयोग का जैसे कोई उपादान कारण नहीं है, वैसे ही वियोग (दुःखवियोग या मोक्ष) का भी नहीं।

भाष्यम्—तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२६॥

यथाक्रममेतेषामनुष्ठानं स्वरूप च वक्ष्यामः ॥२६॥

भाष्यानुवाद—यहाँ पर योगाङ्ग अवधारित (१) हो रहे हैं—

२६—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ योगाङ्ग हैं। सू

यथाक्रम इनका अनुष्ठान और स्वरूप बतायेंगे।

टीका—२६ (१)—दूसरे शास्त्रों में योग के छः अंग कथित हुए हैं। कुछ व्यक्ति ऐसी आपत्ति व्यर्थ करते हैं। तोड़-फोड़कर कैसे भी योगाङ्ग क्यों न बनाए जायँ इन अष्टांगों के अन्तर्गत साधनों को अतिक्रान्त करने का कोई उपाय नहीं है।

महाभारत में भी है "वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः" अर्थात् मनीषिगण वेदों में योग को अष्टाङ्ग कहते हैं।

भाष्यम्—तत्र—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदासर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तं "स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसादिनिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोतीति।" सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वंचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति, एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्, तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥३०॥

भाष्यानुवाद—उनमें—

३०—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (ये पाँच) यम हैं। सू

इनके अन्दर अहिंसा (१) सर्वथा, सर्वदा सर्व भूतों के प्रति अनभिद्रोह है। सत्य आदि अन्य यमनियम अहिंसामूलक हैं। वे अहिंसा-सिद्धि के हेतु होने के कारण अहिंसा-प्रतिपादन के ही लिए शास्त्र में प्रतिपादित हुए हैं। अहिंसा को निर्मल करने के लिए ही वे (सत्यादि) उपादेय होते हैं। कहा भी है (श्रुति में) 'वे ब्रह्मवित् जिस प्रकार व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, उसी प्रकार (उन व्रतों द्वारा) प्रमादकृत हिंसामूलक कर्म से निवर्त्तमान होकर उसी अहिंसा को निर्मल करते हैं अर्थात् ब्रह्मवित् व्यक्ति के समस्त आचरण अहिंसा को निर्मल बना देते हैं'। यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य (२) है अर्थात् जिस प्रकार दृष्ट, अनुमित अथवा श्रुत हुआ है, उसी प्रकार का वाक्य और मन अर्थात् कथन और चिन्तन। अपने ज्ञान की संक्रान्ति के लिए दूसरे से वाक्य कहते हैं वे वाक्य यदि वञ्चक या भ्रान्त या श्रोता के पास अर्थशून्य न हों (तो वे वाक्य सत्य होते हैं)। वे वाक्य सर्वभूत के उपघातक न होकर उपकारार्थ प्रयुक्त होना चाहिये, क्योंकि वाक्य कहने पर यदि किसी को उपघातक हो जाय तो वह सत्यरूप पुण्य नहीं परन्तु पाप ही होता हैं। उस प्रकार पुण्यवत् प्रतीयमान, पुण्यसदृश वाक्य-द्वारा दुःखमय तम या निरय का लाभ होता है। अतएव विचारपूर्वक सर्वभूतहितजनक सत्य वाक्य ही कहना चाहिये। स्तेय का

(३) अर्थ है अशास्त्रपूर्वक (अवैधरूप से) दूसरे की वस्तु लेना; अस्तेय—अस्पृहारूप स्तेय-प्रतिषेध। ब्रह्मचर्य— गुप्तेन्द्रिय रूप से उपस्थ का संयम (४) अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग और हिंसा- विषयक इन पांच प्रकार के दोषों को देखकर उनका ग्रहण न करना (५) अपरिग्रह है। ये ही यम हैं।

टीका—३०। (१) भाष्यकार ने अहिंसा का सुस्पष्ट विवरण दिया है। श्रुति कहती हैं '**मा हिंस्यात्सर्वभूतानि।**' केवल प्राणिपीड़ा को त्यागना ही अहिंसा नहीं है, परन्तु प्राणियों के प्रति मैत्रि-आदि सद्भाव का पोषण भी है सर्वथा वाह्य-विषयक स्वार्थपरता न त्यागने से अहिंसा का आचरण संभव नहीं होता। दूसरे के मांस से अपने शरीर के तोषण-पोषण की इच्छा हिंसा का प्रधान निदान है, और बाहरी सुख खोजनें से अवश्य ही दूसरे को पीड़ा देना अवश्यंभावी होता है। अन्य को डराना, परुष वाक्य से मर्म छेदना इत्यादि सभी हिंसा हैं। सत्यादि— द्वारा लोभद्वेषादि-स्वार्थपरतामूलक वृत्ति क्षीण होते रहने के कारण अन्य सब यम तथा नियमों के साधन अहिंसा को ही निर्मल करते हैं।

बहुतों का विचार है कि जब जीवन-धारणार्थ प्राणि-हत्या अवश्यंभावी होती है तब अहिंसा-साधन कैसे संभव होगा? अहिंसा-साधन का मूलतत्त्व समझने के कारण ही इस भाँति की शंका उठा करती है। योगभाष्यकार कहते हैं '**नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवति**' (२।१५), अतः देह-धारण करने से प्राणिपीड़ा अवश्यंभावी है। ऐसा जानकर (१) देह-धारण न करने के उद्देश्य से ही योगीगण योगाचरण करते हैं, यह प्रथम अहिंसा साधन है। (२) यथाशक्ति अनावश्यक स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों की हिंसा से विराम द्वितीय साधन है। (३) प्राणियों में यथाशक्ति ऊँचे प्राणियों को दुःख न देना तृतीत अहिंसा-साधन है।

फलतः हिंसा या प्राणिपीड़न, क्रूरता, जिघांसा, द्वेष आदि जिन दूषित मनोभावों से जाती है उन्हें त्यागते रहना ही अहिंसा है। किसी में क्रूरतादि दूषित भाव न हो और यदि उसके किसी कर्म से उसके माता पिता भी निहत हो जाँय तो उस कर्म को व्यवहारतः या परमार्थतः हिंसा नहीं माना जाता है। हिंसा में तारतम्य है। पितामाता का या संतान की हिंसा करना और दुश्मन का बध करना एक प्रकार का अपकर्म नहीं है। कितनी अधिक क्रूरतादि दुष्ट प्रवृत्ति रहने पर लोग पिता आदि की हिंसा कर सकते हैं? हृदय की दुष्ट प्रवृत्तियों के तारतम्य से हिंसादि अपकर्म का भी तारतम्य होता है। अतः आदमियों को मारना और तिनका तोड़ना समान हिंसा नहीं है, और परुष वाक्य से पीड़ा देना तथा प्राणि-बध करना भी समान हिंसा नहीं है। प्राण, प्राणियों को सबसे प्रिय होता है, अतः प्राणिनाश सबसे प्रवल हिंसा है। उसमें भी प्रधान होती है पितामाता आदि की हिंसा, उसके बाद दोस्त रिश्तेदारों की, उसके बाद साधारण आदमियों की, उसके बाद दुश्मनों की, उसके बाद उपकारी जानवरों की, उसके बाद जानवरों की, उसके बाद अपकारी जानवरों की, उसके बाद साधारण पेड़ों की, उसके बाद अपकारक पेड़ों की, उसके बाद भक्ष्य कपेड़ों की, उसके बाद भक्ष्य खेती की, उसके बाद अदृश्य प्राणियों की हिंसा क्रमशः मृदुतर होती है। ऐसे ही आततायि-वध तथा वृक्षादिनाश साधारण लोगों के लिए दोषावह हिंसा नहीं मानी जाती है क्योंकि साधारण लोग जिस अवस्था में हैं उसमें वे उस प्रकार के कर्म से अधिकतर दूषित नहीं होते। कृमि स्वेद भोजन करने से और क्या दूषित होगा? इसी लिए मनुजी कहते हैं कि मांसादि भक्षण में दोष नहीं है, क्योंकि वह प्राणियों की प्रवृत्ति है, पर उससे निवृत्ति

होने से महाफल होता है। जैसे स्याही से कपड़े में और स्याही डालने से वह अधिक मैल नहीं होता, वैसे ही प्रवृत्तिपंक में मग्न मनुष्य मांसादि भोजन या क्षेत्रादि कर्षण से और अधिक क्या अपुण्य होगा ? तब किन्तु साधारण व्रतादि-धर्मकर्म-द्वारा इस से निवृत्त होने पर महाफल होता है।

यह तो साधारण लोगों की बात है योगियों के लिये अहिंसादि का सार्वभौम महाव्रत आचरणीय है। अतः वे जहाँ तक हो सकता है अहिंसादि के आचरण की चेष्टा करते हैं। प्रथमतः वे मनुष्यजाति की यहाँ तक कि आततायी की भी हिंसा नहीं करते तथा जानवर के प्रति भी यथासम्भव अहिंसा अथवा अति मृदु हिंसा (जैसे सर्पादि को डरा के केवल भगाना) करते हैं। द्वितीयतः व्यर्थ स्थावर प्राणियों का भी उत्पीड़न नहीं करते। देहधारण के लिए कोई कोई शीर्णपत्रादि भोजन करते हैं अथवा भिक्षान्न से ही देहधारण करते हैं। प्राचीन काल में यह नियम था (अब भी आर्यावर्त्त में किसी किसी स्थान स्थान पर है) कि गृहस्थ कुछ अधिक अन्न पाक करें और उसका एक भाग अभ्यागत, सन्यासी तथा ब्रह्मचारीको दें। **"सन्यासी ब्रह्मचारी च पक्वान्न स्वामिनावुभौ।"** सन्यासी यदृच्छया विचरण करते करते किसी गृहस्थ के घर पर मधुकरी लें तो उनको उसमें अन्नधटित हिंसादोष नहीं होता। मनु जी और भी कहते हैं पादक्षेपादि में जो अवश्यभावी हिंसा होती है संन्यासी उसके क्षालनार्थ कम-से-कम बारह बार प्राणायाम करें। इसी प्रकार योगी लोग मृदुतम अवश्यंभावी हिंसा करते हुए भी अहिंसाधर्म को प्रवर्द्धित करने के पश्चात् योगसिद्धि द्वारा देह धारण से नित्य विमुक्त होकर समस्त प्राणियों के अहिंसक होते हैं। देश, काल तथा आचार-भेद से प्राचीन काल के समान अच्छा अवसर न पाने से भी अहिंसा के इन तत्त्वों को दृष्टि करके यथाशक्ति अहिंसा का आचरण करते जाने पर हृदय हिंसादोष से मुक्त होता है और योग के अनुकूल होता है। अवश्यंभावी कुछ हिंसा न छोड़ सकने से भी "मैं योग-द्वारा अनंत काल के लिए सर्व प्राणियों का अहिंसक हो सकूँ" इस प्रकार विशुद्ध अहिंसा-संकल्प-द्वारा उस दोष का वारण हो जाता है, क्योंकि हृदयशुद्धि ही योगांग का उद्देश्य है।

३०—(२) सत्य। जो विषय प्रमित हुआ है, चित्त तथा वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा ही सत्यसाधन होता है। परपीड़क सत्य वाच्य या चिन्त्य नहीं होता; जैसे—पराये यथार्थ दोष का कीर्त्तन कर पर को पीड़ित करना अथवा 'असत्यमतावलंबिगण नाश प्राप्त हों' इस भाँति की चिन्ता करना।

सत्य के विषय में श्रुति है—**'सत्यमेव जयते नानृतम्।' 'सत्येन पन्था विततो देवयानः।'** इत्यादि। सत्य-साधन करने में पहले मौन या अल्प भाषिता का अभ्यास करना पड़ता है। अधिक बातें कहने से अनेक असत्य कथा प्रायः कही जाती हैं। मन को सत्यप्रवण करने में काव्य, गल्प, उपन्यास आदि काल्पनिक विषयों से विरत होना पड़ता है। बाद में अपारमार्थिक सत्यसमूह त्यागकर केवल पारमार्थिक सत्य या तत्त्वसमूह का चिंतन करना पड़ता है।

साधारण मनुष्यों के चित्त में आत्मिक चिंतन में सदा लगे हुए रहने के कारण तात्त्विक सत्य की चिंता मन में प्रतिष्ठित नहीं हो पाती। अतएव साधारण व्यक्ति गल्प उपमा प्रकृति मिथ्या-प्रपंच-द्वारा सद्विषय का किंचित् ग्रहण करते हैं। लड़के से पिता कहता

है "सच बात बोल नहीं तो तेरा सिर तोड़ दूँगा" **"अश्वमेधसहस्रं च सत्यंच तुलयाधृतम्"** इत्यादि अलीक उपमा से सत्य का उपदेश साधारण मानव के लिए काम देता है।

सम्यक् सत्याचरणशील योगी के लिए उस भाँति का उपदेश या चिंतन काम नहीं देता है। वे समस्त काल्पनिकता और अलीकता छोड़कर वाक्य तथा मन को केवल तत्त्व-विषयक एवं प्रमितपदार्थ विषयक करते हैं। कल्पनाविलास न छोड़ने से प्रकृत सत्यसाधन कठिन होता है। सत्य कहने से जहाँ पर दूसरे का अनिष्ट होता है वहाँ पर मौन विधेय है। सदुद्देश्य के लिए भी असत्य अकथनीय है। अर्ध सत्य ("नरो वा कुंजरो वा" के समान) अधिकतर हेय होता है। भ्रान्त तथा प्रतिपत्तिबन्ध्य वाक्य-द्वारा ही अर्ध-सत्य कथित होता है।

३० (३)—जो अदत्त या धर्मतः अप्राप्य होता है उस प्रकार के द्रव्य का ग्रहण स्तेय कहाता है। उसे त्यागकर मन म उस प्रकार की स्पृहा न उठनेवाला जो निस्पृह भाव-विशेष है वही अस्तेय है। अचानक मिलने से या निधि को पाने से उसे ग्राह्य नहीं करना है, क्योंकि वह परस्व है। कोई योगी पर्वत पर रहते हों उनको यदि वहाँ एक मणि भी मिल जाय तो; वह भी उनके ग्रहणयोग्य नहीं होती, क्योंकि पर्वत राजा का है अतः वहाँ की सभी वस्तुएँ राजा के अधिकार में हैं। फलतः जो निजस्व नहीं है उस प्रकार के द्रव्य का ग्रहण न करना एवं उस प्रकार के द्रव्य में स्पृहा त्यागने की चेष्टा ही अस्तेयसाधन कहलाता है। इस विषय पर श्रुति है (ईश) जैसे—**'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'**

३०—(४) ब्रह्मचर्य = गुप्तेन्द्रिय = चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों को रक्षा करके अर्थात् अब्रह्मचर्य के विषय से समस्त इन्द्रियों को संयत करके, उपस्थसंयम करना ही ब्रह्मचर्य है। केवल उपस्थसंयममात्र ही ब्रह्मचर्य नहीं कहलाता। **'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः'** ॥ इस प्रकार अष्ट अब्रह्मचर्यवर्जन ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अब्रह्मचर्य की चिन्ता मन में उठने पर ही उसे दूर फेंक देना चाहिए। कभी उसको टिकने नहीं देना चाहिए, नहीं तो ब्रह्मचर्य कदापि सिद्ध नहीं होता। ब्रह्मचर्य के लिए मिताहार आवश्यक है। प्रचुर घी-दूध आदि भोगी के लिये सात्त्विक आहार होते हैं, योगी के लिए नहीं। मिताहार तथा मितनिद्रा द्वारा शरीर को कुछ क्लिष्ट रखना ब्रह्मचारी के पक्ष में आवश्यक होता है। तत्पूर्वक अब्रह्मचर्य का आचरण भलीभाँति त्यागकर तथा मन को काम्य-विषयक संकल्प से शून्यकर उपस्थेन्द्रिय को मर्महीन करने से, तभी ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। अब्रह्मचारी को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, इस पर श्रुति भी है—**'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येणनित्यम्'** (मुंडक)। मैं जीवन में कभी अब्रह्मचर्य न करूँ इस प्रकार का संकल्प करना तथा उस प्रकार के संकल्प-द्वारा 'जननेन्द्रिय सूख जाना' इस प्रकार जननेन्द्रिय के मर्मस्थान पर निष्क्रियता की भावना करने से ब्रह्मचर्य में सहायता होती है।

३०—(५) विषय के अर्जन से दुःख, रक्षण से दुःख, क्षय होने से दुःख, संग करने से संस्कार-जनित दुःख तथा विषय-ग्रहण से अवश्यंभावी हिंसा और तज्जनित दुःख होता है, इन सब दुःखों को समझकर दुःख से मुक्ति चाहने वाले पहले विषय त्यागते हैं बाद में और विषय ग्रहण नहीं करते। केवल प्राणधारण के उपयुक्त द्रव्यमात्र ही स्वीकार योग्य

होता है । श्रुति बोलती हैं 'त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः ।' बहुत द्रव्य के स्वामी होकर उसे परार्थ में नहीं लगाना स्वार्थपरता और परदुःख में सहानुभूति का अभाव है । योगी लोग निःस्वार्थपरता की चरम सीमा में जाना चाहते हैं, अतः उनके लिए भलीभाँति भोग्य विषय का त्याग आवश्यक होता है । मान लो कि तुम्हारे पास प्रयोजन से अतिरिक्त धन है और कोई दुःखी व्यक्ति आकर तुमसे उसे माँगता है यदि तुम नहीं देते तो तुम स्वार्थपर तथा दयाहीन हो । इस कारण योगिगण पहले ही निजस्व परार्थ में त्यागते हैं और बाद में प्राणयात्रार्थ आवश्यक द्रव्य के अतिरिक्त और ग्रहण नहीं करते । प्राणधारण न करने से योगसिद्धि-द्वारा दोष की सम्यक् निवृत्ति न होगी, अतः प्राणधारण के उपयोगी भोग्य का ही परिग्रह करते हैं । अधिक भोग वस्तु का स्वामी बनने से योगसिद्धि दूर हो जाती है ।

भाष्यम्—ते तु—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

तत्राऽहिंसा जात्यवच्छिन्ना—मत्स्यबन्धकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा । सैव देशावच्छिन्ना—न तीर्थेहनिष्यामीति । सैव कालावच्छिन्ना—न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति । सैव त्रिभिरूपरतस्य समयावच्छिन्ना—देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति, यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति । एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः, सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यते ॥ ३१ ॥

भाष्यानुवाद—वे (यमसमूह) तो—

३१ । जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न होकर सार्वभौम होने पर महाव्रत होते हैं (१) ॥ सू

जात्यवच्छिन्ना अहिंसा का उदाहरण है मछुओं की मत्स्यगत हिंसा और अन्य-जातिगत अहिंसा । अर्थात् उनकी हिंसा केवल आजीविकार्थ मत्स्यों तक ही सीमित हो और अन्यत्र वे अहिंसक हों तो यह जात्यावच्छिन्न अहिंसा होगी । इसी प्रकार देशावच्छिन्न अहिंसा है तीर्थ 'में हनन नहीं करूँगा' इत्यादि । कालावच्छिन्न अहिंसा है—'चतुर्दशी में या पुण्य दिन में हनन नहीं करूँगा' इत्यादि । यह अहिंसा जाति देश-काल से अवच्छिन्न न होकर भी समयावच्छिन्न हो सकती है । जैसे 'देव-ब्राह्मण के लिए हिंसा करूँगा अन्य किसी प्रयोजन से नहीं ।' अथवा क्षत्रियों के युद्ध में ही हिंसा करना (कर्तव्य की दृष्टि से) अन्यत्र न करना यह समयावच्छिन्न अहिंसा है । । इस प्रकार जाति, देश, काल तथा समय-द्वारा अवच्छिन्न या सीमित न कर अहिंसा, सत्य प्रभृति का सार्वभौम परिपालन करना उचित है । सर्व भूमि में, सर्व-विषय में, सर्वथा व्यभिचारशून्य या सार्वभौम होनेपर यमसमूह को महाव्रत कहा जाता है ।

टीका—३१ । (१) सभी धार्मिक व्यक्ति अहिंसा का कुछ न कुछ आचरण करते हैं,

पर योगिगण उनका परिपूर्ण रूप से आचरण करते हैं। इस प्रकार से आचरित यमसमूह सार्वभौम होते हैं तथा महाव्रत कहे जाते हैं।

समय का अर्थ है कर्त्तव्य के लिये नियम, जैसे अर्ज्जुन ने क्षत्रिय कर्तव्य की दृष्टि से युद्ध किया। यह समयवश हिंसा है। योगी लोग सर्वथा और सर्वत्र हिंसादि का वर्जन करते हैं। यहाँ पर भाष्य सुगम है।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपः द्वन्द्वसहनम्, द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमैनाकारमौने च। व्रतानि चैव यथायोगं कृच्छ्चान्द्रायणसान्तपनादीनि। स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वर-प्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्म्मार्पणं, "शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीण-वितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी।" यत्रेदमुक्तं "ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" इति ॥ ३२ ॥

३२। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं। सू

भाष्यानुवाद—उनमें मृज्जलादिजनित और मेध्य आहार प्रभृति जो शौच हैं वे वाह्य हैं। आभ्यन्तर शौच चित्तमल का क्षालन (१) है। सन्तोष (२)—सन्निहित साधन (केवल प्राणधारण योग्य उपलब्ध साधन) से अधिक साधन के ग्रहण में इच्छाशून्यता। तपस (३)—द्वन्द्वसहन। द्वन्द्व यथा—क्षुधा और पिपासा, शीत और उष्ण, स्थान (स्थिरावस्थान) और शासन, काष्ठमौन और आकारमौन। कृच्छ, चान्द्रायण, सान्तपन इत्यादि व्रत समूह भी तपस कहे जाते हैं। स्वाध्याय (४)—मोक्षशास्त्राध्ययन अथवा प्रणव जप। ईश्वर प्रणिधान (५)—परम गुरु ईश्वर को सर्व-कर्म का अर्पण, (जैसे कहा भी है) 'शय्या या आसन पर रहते हुए अथवा राह चलते हुए आत्मस्थ तथा परिक्षीण-वितर्क-जाल योगी संसार-वीज को क्षीयमाण निरीक्षण करते करते नित्य मुक्त अर्थात् नित्य तृप्त और अमृत भोगभागी हों।' इस विषय में सूत्रकार ने भी कहा है 'उस से (ईश्वर प्रणिधान से) प्रत्यक् चेतनाधिगम एवं अन्तरायसमूह का अभाव होता है।' (१। २९ सूत्र)।

टीका—३२। (१) शौचाचरण द्वारा ब्रह्मचर्यादि में सहायता आती है। पूतियुक्त जान्तव पदार्थ के आघ्राण से अस्फूर्त्तिजनक (Sedative) भारीपन होता है। अतः लोग उत्ते-जना चाहते हैं और तदर्थ वे उत्तेजक शराब आदि पीते हैं जिससे इन्द्रियों में उत्तेजना आ जाती है। अतएव अशुचि व्यक्ति का चित्त मलिन तथा शरीर योगोपयोगी कर्मण्यता से शून्य होता है। अतः शरीर और आवास निर्मल रखना तथा मेध्य आहार करना योगी का कर्त्तव्य है। अमेध्य आहार द्वारा शरीर में अशुचि पदार्थ जाने से मन में मलिन भाव आते हैं। सड़े हुए दुर्गन्धित नशीले, अस्वाभाविक रूप से शरीर यन्त्र के लिए उत्तेजक पदार्थ

अमेध्य कहे जाते हैं। उनका संसर्ग या आहार अविधेय है। मादक द्रव्य के सेवन से कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती। योग में चित्त को वशीकृत करना पड़ता है। मादक द्रव्य उसे वशीकृत नहीं होने देते, अतः वे योग के शत्रु हैं। चरक में भी ठीक यही कहा है—**'प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयस्तथा मोक्षे च यत्परम्। मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥ मद्येन मनसश्चायं संक्षोभः क्रियते महान्। श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धामद्य लालसाः॥'** २४ अ:। अर्थात् परलोक और इहलोक में जो हितकर तथा परम श्रेयः हैं वे सब देही को मन की समाधि द्वारा ही प्राप्त होते हैं। परन्तु मद्य से मन में अत्यंत संक्षोभ हो जाता है। मद्य से जो अंध हैं तथा मद्य में जिनकी लालसा है श्रेयः से विमुक्त होते हैं।

मद (गर्व), मान, असूय आदि चित्तमल को क्षालन करना आभ्यन्तरिक शौच है।

३२—(२) सन्तोष। किसी इष्ट पदार्थ के प्राप्त होने से जो तुष्ट, निश्चित भाव होता है उसकी भावना कर सन्तोष को आयत्त करना पड़ता है। पश्चात् 'जो प्राप्त किया है वही पर्याप्त है'—इस प्रकार की भावना से उक्त तुष्ट और निश्चिन्त भाव में ध्यान लगाना पड़ता है। यही सन्तोष का साधन है। सन्तोष के संबन्ध में शास्त्रोक्ति है कि जैसे 'काँटे से बचाने के लिए समस्त भूतल चमड़े से नहीं ढका जा सकता किन्तु जूते पहने जा सकते हैं' वैसे ही 'समस्त काम्य विषय पाकर सुखी होऊँ' ऐसी इच्छा से सुख नहीं हो सकता, परन्तु सन्तोष के द्वारा हो सकता है। ययाति ने कहा है—**'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।'** अन्यत्र—**सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्। उपानद्गूढ़पादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः॥**

३२—(३) तप (।२।१ सूत्र की टिप्पणी-द्रष्टव्य।) केवल काम्य विषय के लिए तपस्या करना योगांग नहीं होता। श्रुति में कहा है, **'न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः'**। जो अल्पमात्र दुःख से घबराते हैं, उनके द्वारा योग-सिद्धि होने की आशा नहीं। अतः दुःखसहिष्णुतारूप तपस्या द्वारा तितिक्षा-साधन करणीय है। शरीर कष्टसहिष्णु होने पर एवं शारीरिक सुख के अभाव में मन विकृत न होने पर ही योग-साधन में उत्तम अधिकार होता है।

काष्ठमौन = वाक्य, आकार तथा सङ्केत से भी कुछ न जानना, आकारमौन = आकार आदि-द्वारा विज्ञापन करना, पर वाक्य न बोलना। मौन-द्वारा वृथा वाक्य, परुष वाक्य आदि न कहने की सामर्थ्य होती है। सत्य कथन में सहायता होती है। गालीसहना, अर्थिता-संकोच आदि भी सिद्ध होते हैं।

क्षुत्पिपासा सहन करने से क्षुधादि से सहसा ध्यान में विघ्न नहीं होता। आसन से शरीर की निश्चलता होती है कृच्छ्रादि व्रतसमूह पापक्षय के लिए आवश्यक होने से ही करणीय हैं, अन्यथा नहीं।

३२—(४) स्वाध्याय-द्वारा वाक्य एकतान होता है। उससे एकतान-भाव-सहित अर्थस्मरण में अनुकूलता होती है। मोक्षशास्त्राध्ययन से विषयचिन्ता क्षीण, परमार्थ में रुचि और ज्ञान बढ़ता है।

३२—(५) प्रशान्त ईश्वर-चित्त में अपने चित्त को स्थापित कर अर्थात् आत्मा या निजको ईश्वर में तथा ईश्वर की निजमें भावना कर सर्व अपरिहार्य चेष्टा मानो उन ही के द्वारा हो रही हैं, प्रत्येक कर्म में इस प्रकार की भावना करना अर्थात् कर्म का फल की

आकांक्षा भी त्यागना ईश्वरार्थ सर्व कर्मार्पण है। उसी प्रकार निश्चिन्त साधक शयन-आसन आदि सब कार्यों में निज को ईश्वरस्थ या शांतस्वरूप जानकर करण वर्ग की निवृत्ति की अपेक्षा शरीर-यात्रा का निर्वाह कर जाते हैं। चिद्रूप ईश्वर का आत्म-मध्य में चिन्तन करते हुए योगी को प्रत्यक्चेतन का अधिगम होता है (१।२९ सूत्र द्रष्टव्य)। ईश्वर को विस्मृत कर कोई कर्म करने से उस समय ईश्वर में कर्म का समर्पण नहीं होता। वह सम्पूर्ण अभिमान पूर्वक ही होता है। 'मैं अकर्ता हूँ' ऐसी भावना तथा हृदय या अन्तर्बाह्य में ईश्वर का स्मरण करते हुए कोई भी कर्म करना तथा 'उस कर्म का फल योग या निवृत्ति की ओर जाय' इस प्रकार के चिंतन-द्वारा समस्त कर्म और कर्म फल ईश्वर को समर्पित होते हैं।

भाष्यम्—एतेषां यमनियमानाम्—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन् हनिष्याम्यहमपकारिणम्, अनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि, दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीत्येवमुन्मार्ग प्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत्—घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः, स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान्पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेन इति भावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इत्येवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥ ३३ ॥

भाष्यानुवाद—इन यमनियमों की—

३३—वितर्क द्वारा बाधा होने पर, प्रतिपक्ष की भावना करना। सू

इस ब्रह्मविद् को जब हिंसादि वितर्क होते हैं, कि 'मैं अपकारी का हनन करूँगा, असत्य वाक्य कहूँगा, इसकी चीज लूँगा, इसकी दारा के साथ व्यभिचार करूँगा, इन सब वस्तुओं का स्वामी होऊँगा' तब ऐसे अतिदीप्त उन्मार्गप्रवण वितर्कज्वर द्वारा बाध्यमान होने पर उसके प्रतिपक्ष की भावना करे जैसे,—'घोर संसार-अंगार से जलते हुए मैंने सर्वभूत में अभय-दान कर, योग-धर्म की शरण ली है। वही मैं वितर्क-समूह त्याग कर फिर उन्हीं को ग्रहण करने से कुत्तों जैसा आचरण कर रहा हूँ।' जैसे कुत्ता वान्त वस्तु को भी चाट जाता है अर्थात् उगले हुए अन्न को खा जाता है, वैसे ही त्यक्त पदार्थ का ग्रहण करना भी वैसा ही है इत्यादि प्रकार से प्रतिपक्षभावन अन्य सूत्रों में युक्त साधनों में भी करे।

टीका—३३। (१) वितर्क = अहिंसादि जो दशविध यम तथा नियम हैं उनके विरुद्ध कर्म, जैसे - हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और अशौच, असन्तोष, अतितिक्षा, वृथा वचन, हीन पुरुष के चरित्र की भावना या अनीश्वरगुण की भावना।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥ सू

भाष्यम्—तत्र हिंसा तावत्कृता कारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा, लोभेन—मांसचर्मार्थेन, क्रोधेन—अपकृतमनेनेति, मोहेन—धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधाः मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिभेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा, मृदुमृदुः मध्यमृदुः तीव्रमृदुरीति तथा मृदुमध्यः मध्यमध्यः तीव्रमध्य इति तथा मृदुतीव्रः मध्यतीव्रः अधिमात्रतीव्र इति एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यम्।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनं दुःखमज्ञानञ्चानन्तफलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। तथा च हिंसकः प्रथमं तावद् वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति, ततः शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति, ततो जीवितादपि मोचयति। ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति, दुःखोत्पादान्नरक तिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति, जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथंचिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथञ्चित् पुण्यादपगता (पुण्यावापगता इति पाठान्तरम्) हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं तथासम्भवम्। एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत। प्रतिपक्षभावनाद्धेतोर्हेया वितर्काः ॥ ३४ ॥

३४—हिंसा, अनृत, स्तेय इत्यादि वितर्क कृत, कारित तथा अनुमोदित होते हैं; क्रोध, लोभ तथा मोह-पूर्वक आचरित एवं मृदु, मध्य तथा अधिमात्र होते हैं। वे अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान के कारण हैं। यही प्रतिपक्षभावन है (१) ॥

भाष्यानुवाद—उनम हिंसा कृत, कारित तथा अनुमोदित इस प्रकार त्रिविध है। इन तीनों में प्रत्येक फिर त्रिविध है। लोभ पूर्वक, जैसे कि मांसचर्म के लिए; क्रोधपूर्वक जैसे कि 'इसने मेरा अपकार किया है, अतः यह हिंसा है' और मोह पूर्वक जैसे कि 'हिंसा (पशुबलि) से धर्माचरण होगा'। लोभ, क्रोध और मोह भी त्रिविध हैं—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र। इस प्रकार हिंसा सत्ताईस प्रकार की होती हैं। मृदु, मध्य तथा अधिमात्र भी पुनः त्रिविध हैं—मृदु-मृदु, मध्य-मृदु और तीव्र-मृदु; मृदु-मध्य, मध्य-मध्य और तीव्र-मध्य; मृदु-तीव्र, मध्य-तीव्र और अधिमात्र-तीव्र। इस प्रकार हिंसा इक्यासी प्रकार की है। वही हिंसा फिर नियम, विकल्प और समुच्चय भेद से असंख्य प्रकार का है, क्योंकि प्राणिगत भेद भी अपरिसंख्येय हैं। इस प्रकार की विभाग-प्रणाली अनृत, स्तेय आदि में भी योज्य है।

'ये सब वितर्क अनन्त दुःख-अज्ञान फलक हैं' इस प्रकार की भावना प्रातिपक्षभावना है। अर्थात् 'अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान वितर्कों के फल हैं' इस प्रकार की प्रतिपक्षभावना। इसके साथ ही हिंसक पहले वध्य का वीर्य (बल) नाश करता है (वन्धनादिपूर्वक); बाद में अस्त्राघात से दुःख देता है फिर जीवन-विमुक्त करता है। तदनन्तर बध्य का वीर्याक्षेप करने के कारण हिंसक के चेतनाचेतन (करण और शरीरादि) उपकरण क्षीण वीर्य (दुर्बल) हो जाते हैं, दुःख-प्रदान के फलस्वरूप हिंसक को नरक-तिर्यक्-प्रेतादि योनियों में दुःखानुभव होता है। प्राण का विनाश करने से हिंसक व्यक्ति प्रतिक्षण जीवन-

नाशकारक मोह-मय रुग्ण अवस्थादि में वर्त्तमान रहकर मरने की इच्छा करते हुए भी उसे दुःखविपाक की नियत-विपाक-वेदनीयता के कारण (२) किसी प्रकार केवल जीवित ही रहता है और यदि किसी पुण्य से हिंसा का अपगम भी (३) हो जाय, तो सुखप्राप्ति होने पर भी अल्पायु होता है। (यह युक्ति-शैली) अनृत-स्तेय आदि में भी यथासंभव योज्य है। वितर्कसमूह के इस प्रकार के अवश्यंभावी अनिष्ट फल का चिंतन कर मन को वितर्क में और अधिक निविष्ट नहीं करना चाहिए। प्रतिपक्ष-भावना-द्वारा वितर्कसमूह हेय (त्याज्य) किए जा सकते हैं।

टीका—३४। (१) कृत = स्वयं किए हुए। कारित = किसी के द्वारा कराये हुए। अनुमोदित = मौन या प्रकट स्वीकृति दिए हुए। प्राणी को स्वयं पीड़ा देना कृत हिंसा है। मांसादि खरीदना कारित हिंसा है। शत्रु, अपकारी या भयंकर किसी प्राणी की पीड़ा या वध में मौन या प्रकट स्वीकृति देना अनुमोदित हिंसा है।'तुमने साँप मारा, बहुत अच्छा किया' यह अनुमोदना है। इस प्रकार के हिंसा आदि फिर क्रोधपूर्वक, लोभपूर्वक या मोहपूर्वक (जैसे—भगवान् ने भक्षणार्थ पशुओं की सृष्टि की है, इत्यादि मोहयुक्त सिद्धान्त पूर्वक) आचरित होते हैं।

कृत, कारित, अनुमोदित एवं क्रोध, लोभ, मोहपूर्वक आचरित हिंसादि समस्त वितर्क फिर मृदु, मध्य और अधिमात्र (प्रबल) होते हैं और इस प्रकार हिंसादि प्रत्येक वितर्क इक्यासी प्रकार का है।

फलतः सर्वथा अणुमात्र भी हिंसादि दोष न हों यह योगियों का कर्तव्य है। तभी विशुद्ध योगधर्म का प्रादुर्भाव होता है।

३४—(२) नियतविपाक वेदनीयता के कारण अर्थात् वह दुःख जिस हिंसाकर्म का फल है वह कर्म सम्पूर्ण रूप फलवान् होगा या हुआ है, अतः उस दुःखदायक कर्म का फल जब तक समाप्त न हो जाय, तब तक जीवन भी समाप्त नहीं होता।

३४—(३) "पुण्यादपगता" और "पुण्यावापगता" ये दो प्रकार के पाठ हैं। पुण्यावापगता का अर्थ है प्रबल पुण्य के साथ आवापगत या फलीभूत। उससे हिंसा का फल भलीभाँति विकसित नहीं हो पाता, परन्तु वह उसके द्वारा अल्पायु होता है। अपगत का अर्थ यहाँ नाश नहीं, परन्तु सम्यक् फलीभूत न होना है।

भाष्यम्—**यदास्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिणः सिद्धिसूचकं भवति, तद्यथा—**

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

सर्व प्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

भाष्यानुवाद—जब (प्रतिपक्ष भावना द्वारा) योगी के हिंसादि वितर्क समूह अप्र-

सैवधर्मा (१) अर्थात् दग्ध-बीज-कल्प हो जाते हैं तब तज्जनित ऐश्वर्य योगी की सिद्धि का सूचक होता है, जैसे –

३५—अहिंसा प्रतिष्ठित होने पर तत्सन्निधि में सब प्राणी निर्वैर होते हैं ।। सू०

टीका—३५। (१) समस्त यम तथा नियम समाधि द्वारा या उसके निकटस्थ ध्यान द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं। ईश्वर-प्रणिधान की प्रतिष्ठा तथा समाधि सहजन्मा हैं। हिंसादि वितर्क भी सूक्ष्मानुसूक्ष्म रूप से ध्यान बल से ही लक्ष्य होते हैं और ध्यान बल से ही वे चित्त से विदूरित होते हैं। उच्च ध्यान ही यमनियम की प्रतिष्ठा का हेतु होता है।

बहुतों का विचार है कि पहले यम, फिर नियम, इत्यादि क्रम से योग का साधन करना पड़ता है। यह सम्पूर्ण भ्रान्ति है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारानुकूल धारणा का अभ्यास पहिले से ही करना चाहिये, धारणा पुष्ट होने से ध्यान बनता है और उसके बाद ध्यान से ही समाधि बन जाती है। साथ ही साथ यम नियम आदि प्रतिष्ठित तथा आसन आदि सिद्ध होते रहते हैं।

यमनियम की प्रतिष्ठा का अर्थ है वितर्कसमूह की अप्रसवधर्मता। जब हिंसादि वितर्क चित्त में स्वतः या किसी उद्बोधक हेतु से और नहीं उठते, तभी अहिंसा आदि प्रतिष्ठित हुए हैं ऐसा कहा जा सकता है।

मेस्मेरिज्म् विद्या से इच्छाशक्ति का सामान्य उत्कर्ष करके मनुष्य और जानवरों ो वशीकृत किया जा सकता है। जिन योगियों की इच्छाशक्ति इतनी उत्कृष्ट हो चुकी है कि उसके द्वारा वे प्रकृति से हिंसा को सम्पूर्णतया दूर कर चुके हैं, उनकी सन्निधि में प्राणिगण उनके मनोभाव से भावित होकर हिंसा छोड़ देंगे, इसमें संदेह नहीं हो सकता।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।। ३६ ।।

भाष्यम्—धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः, स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति, अमोघास्य वाग्भवति ।। ३६ ।।

३६—सत्य प्रतिष्ठित होने पर (१) वाक्य क्रियाफलाश्रयत्वगुण से युक्त होता है। सू०

भाष्यानुवाद—"धार्मिक हो जाओ" कहने से धार्मिक होता है, "स्वर्गप्राप्त करो" कहने से स्वर्ग प्राप्त करता है। सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के वाक्य अमोघ होते हैं।

टीका—३६। (१) सत्यप्रतिष्ठाजनित फल भी इच्छा शक्ति द्वारा होता है। जिनके वाक्य और मन सदा ही यथार्थ विषयक होते हैं—प्राणरक्षार्थ भी जो अयथार्थ बोलने का विचार नहीं करते—उनकी वाक्यवाहित इच्छाशक्ति अमोघ होगी, यह असंदिग्ध है। Hypnotic suggestion द्वारा रोग, मिथ्यावादित्व, भयशीलता प्रभृति भाग जाती हैं, हमने भी ऐसी परीक्षा की है। उस क्षेत्र में जैसे वश्य व्यक्ति के मन में अचल विश्वास उत्पन्न होता है और उसके रोगादि दूर होते हैं, वैसे ही परम उत्कृष्ट इच्छाशक्ति योगी के

मन में उत्पन्न होकर सरल अरुद्ध नल में जल प्रवाह के समान सरल सत्य वाक्य-द्वारा वाहित होकर श्रोता के हृदय पर आधिपत्य कर लेती है। इससे श्रोता में उस वाक्य के अनुरूप भाव प्रबल होते हैं और उसके विरुद्ध भाव दुर्बल। इस प्रकार 'धार्मिक हो जाओ' कहने से धार्मिक प्रकृति का आपूरण होकर श्रोता धार्मिक बनता है। 'जल मिट्टी हो' इस प्रकार का वाक्य सत्यप्रतिष्ठा द्वारा सिद्ध नहीं होता। अतः सत्यप्रतिष्ठ योगी क्षमता के बहिर्भूत व्यर्थ संकल्प छोड़ देते हैं। जो वाक्यार्थ समझते हैं उसी प्राणी के ऊपर सत्यप्रतिष्ठाजनित शक्ति काम करती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—सर्वदिस्थान्यक्स्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

३७। अस्तेय की प्रतिष्ठा होने से सर्व रत्न उपस्थित होते हैं ॥ सू०

भाष्यानुवाद—सर्वदिक्स्थित सभी रत्न उपस्थित होते हैं (१)।

टीका—३७। (१) अस्तेय की प्रतिष्ठा द्वारा साधक का ऐसा निस्पृहभाव मुखादि से विकीर्ण होता है कि उसको देखने से ही प्राणी उन्हें अतिमात्र विश्वासयोग्य मानते हैं और इस कारण दानी व्यक्ति अपनी अपनी अच्छी वस्तुएँ उसे भेंट कर अपने को कृतार्थ करते हैं। इस प्रकार के योगी के पास (योगी अनेक स्थानों का पर्यटन करे तो) नानादिक्स्थित रत्न (अच्छी अच्छी वस्तुएँ) उपस्थित होते हैं। योगी के प्रभाव से मुग्ध होकर उसको परम आश्वासस्थल जानकर चेतन रत्नसमूह स्वयं उनके पास आ सकते हैं, पर अचेतन रत्न समूह दाताओं के ही द्वारा उपस्थापित होते हैं। जिस जाति के अन्दर जो उत्कृष्ट होता है वही रत्न है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति, सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

३८। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्यलाभ होता है। सू०

भाष्यानुवाद—जिसकी प्राप्ति से अप्रतिघ गुणसमूह (१) अर्थात् अणिमादि उत्कर्ष पाते हैं और सिद्ध (ऊहादि-सिद्धि, संपन्न होकर) शिष्यों के हृदय में ज्ञान आधान करने में समर्थ होते हैं।

टीका—३८। (१) अप्रतिध गुण – प्रतिधातशून्य वा व्याहतिशून्य ज्ञान, क्रिया और शक्ति अर्थात् अणिमा आदि। अब्रह्मचर्य से शरीर के स्नायु आदि सब की सारहानि होती है। वृक्षादि भी फलित होने के बाद निस्तेज होते हैं—यह देखा जाता है। ब्रह्मचर्य द्वारा सारहानि रुद्ध हो जाने के कारण वीर्यलाभ होता है। उससे क्रमशः अप्रतिध गुण का उपचय होता है, और ज्ञानादिलाभ में सिद्ध होकर उस ज्ञान को शिष्य के हृदय में आहित करने की सामर्थ्य होती है। अब्रह्मचारी का ज्ञानोपदेश शिष्य के हृदय में आहित नहीं होता जैसे दुर्बल धानुष्क द्वारा प्रक्षिप्त शर से केवल चर्ममात्र विद्ध होता है।

सिर्फ इन्द्रिय कार्य से विरत रहकर आहार-निद्रादिपरायण होकर जीवन बिताने से ही ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा नहीं होती। स्वाभाविक नियम से जो देहियों में देहवीज उत्पन्न होते हैं उन्हें धृति-संकल्प, आहारनिद्रादिका संयम तथा काम्यविषयक संकल्प त्याग द्वारा रुद्ध करने से ही ब्रह्मचर्य साधित और सिद्ध होता है।

अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथन्तासम्बोधः॥ ३६॥

भाष्यम्—अस्य भवति। कोऽहमासं, कथमध्मासं, किंस्विदिदं, कथंस्विदिदं, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इति, एवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्त्तते। एता यमस्थैर्ये सिद्धयः॥ ३६॥

३६। अपरिग्रहस्थैर्य से जन्मकथन्ता का ज्ञान होता है॥ सू०

भाष्यानुवाद—योगी के पास प्रादुर्भूत होता है (१)। मैं कौन था और क्या था? यह शरीर क्या है? कैसे यह हुआ? भविष्यत् में क्या क्या होऊँगा? किस प्रकार होऊँगा? (इसका नाम जन्म कथन्ता है)। योगी को इस प्रकार अतीत, भविष्यत और वर्त्तमान के आत्मभाव की जिज्ञासा यथास्वरूप ज्ञानगोचर होती है। पूर्वलिखित सिद्धियाँ यमस्थैर्य में प्रादुर्भूत होती हैं।

टीका—३६। (१) शरीर के भोग्य विषय में अपरिग्रह-द्वारा तुच्छता-ज्ञान होने से शरीर भी परिग्रह स्वरूप ऐसा जान पड़ता है। अतएव विषय और शरीर से मन का अलगाव होता है। इस पृथक् भाव का ध्यान करने से जन्मकथन्ता-सम्बोध होता है। वर्तमान में शरीर तथा विषय के साथ घनिष्ठता जनित मोह ही पूर्वापर ज्ञान का प्रतिबन्धक है। शरीर को सम्यक् स्थिर और निश्चेष्ट करने पर जिस प्रकार शरीर-निरपेक्ष दूरदर्शनादि ज्ञान होते हैं उसी प्रकार भोग्य विषय के साथ शरीर भी 'परिग्रहमात्र है' ऐसी ख्याति होनेपर आत्मा (निज) का पृथक्त्व का बोध तथा शारीर मोह से ऊपर हो जाने के कारण जन्म-कथन्ता का ज्ञान होता है।

भाष्यम्—नियमेषु वक्ष्यामः —

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति । किंच परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥

भाष्यानुवाद—नियम की सिद्धियाँ कहेंगे—

४०। शौच से अपने शरीर में जुगुप्सा या घृणा एवं पर के साथ असंसर्ग (वृत्तियाँ सिद्धि होती हैं) । सू०

अपने शरीर में जुगुप्सा वा घृणा होने से शौचाचरणशील योगी कायदोषदर्शी और शरीर में प्रीतिशून्य होते हैं। पर के साथ संसर्ग में अनिच्छा होती है, (क्योंकि) कायस्वभाव-दर्शी और स्वकीय शरीर में हेयता-बुद्धि-युक्त व्यक्ति अपने शरीर को मृज्जलादि से क्षालन करते हुए भी जब शुद्धि नहीं देख पाते, तब अत्यन्त मलिन परकाय के साथ कैसे संसर्ग करेगें (१) ।

टीका—४० । (१) स्वशरीर का शोधन करते करते स्वशरीर में जुगुप्सा तथा पराये शरीर के साथ संसर्ग में अरुचि होती है । जानवर खाने का अभिनय कर तथा चाट कर प्यार जताते हैं । मनुष्य भी पुत्रादि का चुम्बनादि कर पशुतुल्य खाने के अभिनय के समान प्यार जताते हैं । शौच द्वारा ऐसा पाशव प्रेम हट जाता है । मैत्रीकरुणादि योगी के प्रेम हैं । वे इन्द्रियस्पृहा से (Sensuality) शून्य हैं । स्त्री-पुत्रादि के आसंग की लिप्सा शौचप्रतिष्ठा द्वारा सम्यक् दूर हो जाती है ।

भाष्यम्—किंच ।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

भवन्तीति वाक्यशेषः । शुचेः सत्वशुद्धिस्ततः सोमनस्यं तत ऐकाग्र्येयं तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्वस्य भवति । इत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

भाष्यानुवाद—इसके अतिरिक्त —

४१ । सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, ऐकाग्र्य, इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शनयोग्यत्व (सिद्ध होते हैं) ॥

जो शुचि है उसकी सत्त्वशुद्धि अर्थात् उसके अन्तःकरण की निर्मलता होती है, उससे (सत्त्वशुद्धि से) सौमनस्य अर्थात् मानसिक प्रीति या स्वतः आनन्द का लाभ होता है । सौमनस्य से ऐकाग्र्य होता है ; ऐकाग्र्य से इन्द्रियजय होता है ; इन्द्रियजय से बुद्धि सत्त्व की आत्मदर्शन क्षमता होती है (१) । ये नब शौचस्थैर्य से प्राप्त होते हैं ।

टीका—४१ । (१) मद-मान आसंगलिप्सादि दोष मन से सम्यक् दूर होने पर मन में शुचिता या अपने तथा पराये शरीर पर जुगुप्सावश शरीर से विविक्तता का बोध होता है, शारीरभाव-द्वारा अकलुषित यह अवस्था ही आभ्यन्तर शौच है। आभ्यन्तर शौच से चित्त की शुद्धि या मदमानादि दूषित विक्षेपमल की अल्पता होती है, उससे चित्त में सौमनस्य या आनन्दभाव (शरीर में भी सात्त्विक स्वाच्छन्द्य) आता है । सौमनस्य के बिना एकाग्रता की संभावना नहीं होती है। एकाग्रता के बिना इन्द्रियातीत आत्मदर्शन भी संभव नहीं होता।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तथा चोक्तम् "यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षय-सुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्" इति ॥ ४२ ॥

४२ । सन्तोष से अनुत्तम सुख का लाभ होता है ॥ सू०

भाष्यनुवाद—इस पर उक्त हुआ है "इहलोक में काम्य-वस्तु का जो उपभोगजनित सुख है अथवा स्वर्ग का जो महान् सुख है वह तृष्णाक्षयजनित सुख के षोड़श भाग के एक भाग के समान भी नहीं है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात्काय-सिद्धिरणिमाद्या, तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥ सू०

४३ । तपाचरण से अशुद्धि का क्षय होने के कारण कायेन्द्रियसिद्धि होती है ॥ सू०

भाष्यानुवाद—तप सम्पद्यमान होने से अशुद्धिजनित आवरणमल को नष्ट कर देता है। उस आवरणमल का अपगम होने पर कामसिद्धि (अणिमादि) तथा इन्द्रियसिद्धि (दूर से श्रवण दर्शनादि) उत्पन्न होती है (१)।

टीका—४३ । (१) प्राणायाम आदि तपस्या-द्वारा शरीर की वशवर्त्तितारूप अशुद्धि प्रधानतः दूर हो जाती है। शरीरवशीभाव दूर होने से (क्षुत्पिपासा, स्थानासन, श्वासप्रश्वास आदि कायधर्म-द्वारा अनभिभूत होने से) तज्जनित आवरणमल भी दूर होता है। उस समय शरीरनिरपेक्ष-चित्त अव्याहत इच्छाशक्ति के प्रभाव से कायसिद्धि तथा इन्द्रियसिद्धि की प्राप्ति कर सकता है। योगांग तपस्या को योगिगण सिद्धि की ओर प्रयुक्त नहीं करते, परमार्थ ही उनका लक्ष्य होता है।

विनिद्रता, निश्चलस्थिति, निराहार, प्राणरोध इत्यादि तपस्या मानुष-प्रकृति के विरुद्ध और दैव सिद्ध-प्रकृति के अनुकूल हैं अतः उनसे कायेन्द्रिय सिद्धि हो जाती है। उस सिद्धि के लिये ऐसी तपस्या से हीन, केवल विवेक-वैराग्य के अभ्यासशील ज्ञानयोगियों को सिद्धि नहीं भी हो सकती किन्तु, विवेक सिद्धि होने से समाधि अवश्य ही सिद्ध होती है, तब इच्छा करने से उस योगी को विवेकज्ञान (३।५२ देखिए) नामक सिद्धि हो सकती है किन्तु विवेकी योगी को ऐसी इच्छा होने की संभावना नहीं होती। अतएव ऐसे ज्ञानयोगियों को कायेन्द्रिय सिद्धि न होने पर भी कैवल्य सिद्ध हो जाता है। [३।५५ (१) देखिए]

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्त्तन्त इति ॥ ४४ ॥

४४। स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ मिलन होता है (१) ॥ सू०

भाष्यानुवाद—देव, ऋषि तथा सिद्धगण स्वाध्यायशील योगी को दृष्टिगोचर होते हैं और उनके द्वारा योगी का कार्य भी सिद्ध होता है।

टीका—४४। (१) साधारण अवस्था में जप करने के समय अर्थभावना ठीक नहीं रहती। जापक कभी कभी निरर्थक वाक्य उच्चारण करता रहता है, और मन विषयान्तर में दौड़ता रहता है। स्वाध्याय स्थैर्य होने पर बहुकाल तक मन्त्र तथा मन्त्रार्थभावना अविच्छिन्न रहती है। ऐसी प्रबल इच्छा के साथ देवादि की भावना करने से वे दर्शन देगें ही, यह असंदिग्ध है। एक क्षण शायद अत्यन्त कातर होकर भावना की, किन्तु अन्य क्षण शायद नामोधारण मुख से किया, परन्तु आकाश-पाताल मिलने लगा तो ऐसी भावना से जप सफल नहीं होता।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्राणिधानात् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च, ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥ ४५ ॥

४५। ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है। सू०

भाष्यानुवाद—ईश्वर में सर्वभावार्पित योगी को समाधिसिद्धि होती है (१), जिसके द्वारा समस्त अभीष्ट विषय, जो देहान्तर, देशान्तर या कालान्तर में हो चुके हैं या हो रहे हैं, उन्हें योगी यथार्थरूप से जान सकते हैं। अतः उनकी प्रज्ञा यथाभूत-विषय विज्ञानमयी होती है।

टीका—४५। (१) अर्थात् ईश्वर प्रणिधान यथानियम आचरित होने पर उसके द्वारा समाधिसिद्धि सुखपूर्वक होती है। अन्यान्य यमनियम दूसरी प्रकार से समाधि के सहायक होते हैं; पर परन्तु ईश्वर-प्रणिधान साक्षात् समाधि का सहायक होता है क्योंकि, वह समाधि के अनुकूल भावना-स्वरूप है। वह भावना प्रगाढ़ होकर शरीर को निश्चल (आसनस्थ) और इन्द्रियों को विषयविरत (प्रत्याहृत) करती है और धारणा तथा ध्यान के रूप में परिपक्व होकर अन्त में समाधि में परिणत हो जाती है। 'ईश्वरार्थ सर्वभावार्पण' का अर्थ है भावना द्वारा ईश्वर में आत्मनिमग्न होना।

अज्ञ लोग शंका करते हैं कि यदि ईश्वर-प्रणिधान ही समाधिसिद्धि का हेतु हो, तो अन्य योगांग व्यर्थ हैं। यह शङ्का निःसार है। अयत-अनियत हो दौड़ने-फिरने से विषयज्ञान जनित विक्षेप आते रहते हैं अतः समाधि नहीं होती। समाधि का अर्थ है ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था; ध्यान है धारणा की एकतानता। समाधिसिद्धि कहने से ही समस्त योगांग कथित हो जाते हैं। किन्तु अन्य ध्येय ग्रहण न कर पहले ही से साधक यदि ईश्वर-प्रणिधान-परायण हो तो सहज ही में समाधिसिद्ध हो जाता है। यही तात्पर्य है। समाधिसिद्धि होने से सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग-क्रम से कैवल्य-लाभ होता है, यह भाष्यकार कह चुके हैं।

यमनियम में किसी एक के नष्ट होने से ही सब व्रत नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रोक्ति है—**"ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं तपो दमः। सन्तोषः सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः। एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते"** (मनु)

भाष्यम्—उक्ता सह सिद्धिभिर्यमनियमा आसनादीनि वक्ष्यामः। तत्र—

स्थिरसुखमासनम्॥ ४६॥

तद् यथा पद्मासनम्, वीरासनम्, भद्रासनम्, स्वस्तिकम्, दण्डासनम्, सोपाश्रयम्, पर्यङ्कम्, क्रौञ्चनिषदनम्, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्र निषदनम्, समसंस्थानम्, स्थिरसुखम्, यथासुखञ्च इत्येवमादीति॥ ४६॥

भाष्यानुवाद—सिद्धियों के साथ यमनियम उक्त हुए, अब आसनादि कहेंगे।

४६। निश्चनत और सुखावह (उपवेशन ही) आसन है। जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, पंडासन, सोपाश्रय, पर्यंक, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन उष्ट्र निषदन, समसंस्थान इत्यादि स्थिर सुख अर्थात् यथासुख होने से आसन कहे जाते हैं (क)।

टीका—४६। (१) पद्मासन प्रसिद्ध है। इसमें बाँये ऊरु के ऊपर दायाँ पैर तथा दायें उरु के ऊपर बायाँ पैर रखकर रीढ़ को सीधी कर बैठना होता है। वीरासन अर्धपद्मासन है; अर्थात् इसमें एक पांव उरु के ऊपर और एक पांव अन्य उरु के नीचे रहता है। भद्रासन में दोनों पैर का तलवा वृषण के समीप एकत्र कर उसके ऊपर दोनों हथेली संपुटित करके रखना चाहिये। स्वस्तिक आसन में एक एक पैर का पत्ता दूसरी ओर के जांघ और उरु के बीच में आवद्ध कर सीधे बैठना चाहिये। दंडासन में पैर फैला कर

बैठिए, पैरों के गल्फ और उँगली जोड़कर रखिए। सोपाश्रय योगपट्टक के साथ उपवेशन है। योगपट्टक=पृष्ठ और जानु को घेरनेवाला वलय के आकार का दृढ़ वस्त्र। पर्यंक आसन में जानु और बाहु फैलाकर शयन करना चाहिये ; इसे श्वासन भी कहते हैं। क्रौञ्च-निषदन आदि निर्दिष्ट पशु-पक्षी के निषण्ण-भाव देखकर जान लीजिए। दोनो पैरों की पार्ष्णि और अग्रभाग का आकुंचन कर परस्पर संपीड़नपूर्वक उपवेशन करना समसंस्थान कहाता है।

सभी प्रकार के आसनों में मेरुदण्ड या रीढ़ को सीधा रखना चाहिये। श्रुति भी कहती है **"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्"** अर्थात् वक्ष, ग्रीवा और सिर उन्नत रहना साथ ही आसन स्थिर तथा सुखावह होना चाहिये। जिसमें किसी प्रकार की पीड़ा या कष्ट हो या शरीर के अस्थैर्य की सम्भावना रहे, वह योगांगभूत आसन नहीं है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—भवतीति वाक्यशेषः । **प्रयत्नोपरमात् सिध्यत्यासनं, येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनन्निर्वर्त्तयतीति ॥ ४७ ॥**

४७। प्रयत्नशैथिल्य एवं अनन्तसमापत्ति द्वारा (आसन-सिद्ध होता है)॥ सू०

भाष्यानुवाद—प्रयत्नोपरम से आसनसिद्धि होती है जिससे अंगमेजय (अंग कम्पन रूप समाधिविघ्न) न हो ; अथवा अनन्त में समापन्न चित्त आसनसिद्धि को निर्वर्त्तित करता है (१)।

टीका—४७। (१) आसन सिद्धि अर्थात् शरीर की सम्यक् स्थिरता तथा सुखावहता प्रत्यनशैथिल्य और अनन्त समापत्ति-द्वारा होती है। प्रयत्न-शैथिल्य का अर्थ है शव के समान शरीर का निष्प्रयत्न-भाव। आसन करके शरीर (हाथ-पैर) को उस प्रकार निष्प्रयत्न भाव से रखिए कि शरीर कुछ भी वक्र न हो। ऐसा करने से स्थैर्य आ जाता है और पीड़ा-बोध कम होकर आसन विजित होता है। चित्त को भी अनन्त में या चतुर्दिक् व्यापी शून्यवद्भाव में समापन्न करने पर आसन सिद्ध होता है। पहले पहल कुछ कष्ट न करने से आसन सिद्ध नहीं होता। कुछ समय तक आसन करने से शरीर में नाना स्थानों पर पीड़ा-बोध होगा। परन्तु प्रयत्न शैथिल्य तथा अनन्तशून्यवत् ध्यान (शरीर में भी शून्यवत् भावना) करने से आसनविजित होता है। सदा ही शरीर को स्थिर तथा प्रयत्नशून्य रखने का अभ्यास करने से आसन में भी सहायता होती है। स्थिर होकर आसन करते करते बोध होगा कि मानों शरीर भूमि के साथ जम कर एक हो गया है। और भी अधिक स्थैर्य-लाभ होने से शरीर का अस्तित्व ही नहीं जान पड़ेगा 'मेरा शरीर शून्यवत् होकर अनन्त आकाश में मिल गया है, मैं व्यापी अकाश के समान हूँ' इस प्रकार की भावना ही अनन्त समापत्ति है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—शितोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

४८—उससे द्वन्द्वाभिघात नहीं होता । सू०

भाष्यानुवाद—आसन-जय होने पर शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व द्वारा (साधक) अभिभूत नहीं होते हैं (१) ।

टीका—४८ । (१) शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि से आसनजयी योगी अभिभूत नहीं होते हैं । आसनस्थैर्य के कारण शरीर शून्यवत् होने पर बोधशून्यता (anaesthesis) आ जाती है, उससे शीतोष्ण लक्ष्य नहीं होते । क्षुधा और पिपासा के स्थल पर भी उस प्रकार की स्थैर्य भावना प्रयोग करने से वे भी बोधशून्य होती हैं । वस्तुतः पीड़ा एक प्रकार की चंचलता है, स्थिरता-द्वारा चंचलता अभिभूत होती है ।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः, तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

४९—यह (आसन जय) होने पर श्वासप्रश्वास का गतिविच्छेद ही प्राणायाम है । सू०

भाष्यानुवाद—आसन-जय होने पर श्वास या बाह्य वायु का आचमन तथा प्रश्वास या कौष्ठ्य वायु का निःसारण, इन दोनों की गतियों का जो विच्छेद है अर्थात् उभयाभाव है वही (एक) प्राणायाम है ।

टीका—४९ । (१) हठयोग आदि में जो रेचक, पूरक और कुम्भक उल्लिखित हैं, योग का प्राणायाम ठीक वैसा नहीं है । व्याख्याकारों ने उस अप्राचीन रेचकादि के साथ इसे भी मिलाने का प्रयत्न किया है परन्तु वह ठीक हुआ नहीं है ।

श्वास लेकर फिर प्रश्वास न करने से जो श्वास प्रश्वास का गति-विच्छेद होता है वह एक प्रकार का प्राणायाम है । वैसे ही प्रश्वास (वायु-रेचन) कर श्वासप्रश्वास का गति-विच्छेद करने से भी एक अन्य प्रकार का प्राणायाम होता है (पूरकांत अथवा रेचकांत जो भी प्रकार हो, गतिविच्छेद करना ही एक प्रकार का प्राणायाम है) ।

परंपराक्रम से ऐसे ही एक न एक प्राणायाम का अभ्यास करना पड़ता है । **'प्रच्छर्द्दन-विधारणाभ्याम्'** इत्यादि सूत्र में रेचकांत प्राणायाम का विवरण दिया गया है ।

आसनसिद्ध होने पर प्राणायाम होता है । सम्यक् आसन जय न होने से भी आसन-कालीन शारीरिक स्थैर्य और मानसिक शून्यवत् भावना अथवा अन्य किसी समापन्न भाव के अनुभत होने से तत्पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास किया जा सकता है । अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगांग नहीं होता है । प्रत्येक प्राणायाम में जैसे श्वासप्रश्वास का केवल गति-विच्छेद ही होता है, वैसे ही शरीर की स्पन्दनहीनता तथा मन की एक विषयता रक्षित

न होने से वह समाधि का अङ्गभूत प्राणायाम नहीं होता। अतः सर्व प्रथम आसन के साथ एकाग्रता का अभ्यास करना आवश्यक है। ईश्वर-भाव, देह-मन का शून्य भाव, आध्यात्मिक मर्मस्थान में ज्योतिर्मय भाव इत्यादि किसी एक भाव में एकाग्रता का अभ्यास करने के बाद, श्वासप्रश्वास के साथ उस एकाग्रता से मिलने का अभ्यास करना पड़ता है, अर्थात् प्रति श्वास और प्रश्वास में वह एकाग्र भाव मानों उदित रहे, श्वासप्रश्वास ही मानों उस एकाग्रभाव को उदय कराने के कारण हों, इस प्रकार श्वास-प्रश्वास के साथ स्थैर्य-संयोजन का अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यस्त होने से गतिविच्छेद का अभ्यास करना पड़ता है। गतिविच्छेद-काल में भी उस एकाग्रभाव को अचल रखना होता है। जिस प्रयत्न से श्वासप्रश्वास का गतिविच्छेद किया जाय उसी प्रयत्न से 'चित्त को उस स्थिर एकाग्र भाव को मानों पकड़े हुए हूँ' ऐसी भावना द्वारा उसे (चित्तस्थैर्य को) अचल रखना पड़ता है। अथवा मानों 'आभ्यन्तरिक दृढ़ आलिंगन सहित श्वासरोधप्रयत्न द्वारा ही ध्येय विषय को पकड़े हुए हूँ,' ऐसी भावना करनी होती है। जब तक श्वासप्रश्वास का गतिविच्छेद रहता है, तब तक चित्त का भी यदि गतिविच्छेद रहे, तो वह एक यथार्थ प्राणायाम हुआ। परंपराक्रम से उसी का साधन कर धारणादि का अभ्यास करना पड़ता है। परन्तु समाधि में श्वासप्रश्वास सूक्ष्मीभूत होकर अलक्ष्य हो जाता है अथवा सम्यक् रुद्ध होता है।

सूत्र का अर्थ यह है—वायु की श्वासरूप जो आभ्यंतर गति एवं प्रश्वासरूप जो वहिर्गति है उनका विच्छेद ही प्राणायाम होता है, अर्थात् श्वासगति तथा प्रश्वासगति रोध करना ही प्राणायाम है। इस गतिरोध के भेद आगामी सूत्र-द्वारा प्रदर्शित हुए हैं।

भाष्यम् — स तु—

वाह्याभ्यन्तरस्तम्भ वृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः, यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति, यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्येत तथा द्वयोर्युगपद्भवत्यभाव इति। त्रयोऽप्येते देशेन परिवृष्टाः—इयानस्य विषयो देश इति। कालेन परिदृष्टाः—क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। संख्याभिः परिदृष्टाः—एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीय एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

भाष्यानुवाद—वह (प्राणायाम)—

५०—वाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तंभवृत्ति होता है। (वे फिर) देश, काल तथा संख्या-द्वारा परिदृष्ट होकर दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं। (१)

जिसमें प्रश्वासपूर्वक गत्यभाव है वह वाह्यवृत्तिक (प्राणायाम) है, जिसमें श्वासपूर्वक गत्यभाव है वह आभ्यंतर वृत्तिक है। तृतीय स्तंभ वृत्तिक है उसमें उभयाभाव (अर्थात् वाह्य और आभ्यंतर वृत्ति का अभाव) होता है; वह सकृत् (एककालीन) प्रयत्न-द्वारा

होता है। जैसे तप्त प्रस्तर पर न्यस्त जल सब ओर से संकुचित होता है वैसे ही (तृतीय वा स्तंभ वृत्ति में) अन्य दो वृत्तियों का युगपत् अभाव होता है। ये तीन वृत्तियाँ भी पुनः देशपरिदृष्ट होती हैं—देश अर्थात् जितनी दूर तक उसका विषय है। काल-द्वारा परिदृष्ट अर्थात् क्षणसमूह के परिमाण-द्वारा नियमित। संख्या-द्वारा परिदृष्ट जैसे, इतने श्वासप्रश्वास द्वारा प्रथम उद्घात। ऐसे निगृहीत होने पर इतनी संख्या द्वारा द्वितीय उद्घात, उसी प्रकार तृतीय उद्घात; इस प्रकार मदु, मध्य तथा तीव्र भेद होते हैं। यह संख्यापरिदृष्ट प्राणायाम है। प्राणायाम इस प्रकार से अभ्यस्त होने पर दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है।

टीका— ५०। (१) प्राचीन काल में, रेचक, पूरक और कुंभक ये तीन शब्द अपने वर्त्तमान पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत नहीं होते थे। ऐसा होता तो सूत्रकार अवश्य ही उसका उल्लेख करते। यह अर्थ परवर्ती उद्भावना है।

वाह्यवृत्ति, आभ्यंतर वृत्ति और स्तंभवृत्ति ये तीन रेचक, पूरक, और कुंभक नहीं है। भाष्यकार ने वाह्य वृत्ति को "**प्रश्वासपूर्वक गत्यभाव**" कहा है। यह रेचक नहीं क्योंकि रेचक प्रश्वास-विशेष-मात्र होता है। वास्तव में अर्वाचीन व्याख्याकारों ने अर्वाचीन प्रणाली के साथ उन्हें मिलाने की चेष्टा की हैं; परन्तु वह सुसंगत नहीं हो सका है।

गत्यभाव शब्द का अर्थ 'स्वाभाविक गत्यभाव' करने से रेचक-पूरकादि के साथ वाह्यवृत्ति आदि का किसी प्रकार मेल होता है। रेचनपूर्वक वायु का वहिः स्थापन या श्वासग्रहण न करना वाह्यवृत्ति है यह क्रिया रेचक तथा कुंभक दोनों में होती है। आभ्यंतर वृत्ति भी उसी प्रकार पूरक तथा कुंभक होती है। रेचकांत कुंभक तान्त्रिक और पूरकांत कुंभक वैदिक प्राणायाम हैं। ऐसा कई जगह कहा गया है। **'पूरणादि रेचनान्तः प्राणायामस्तु वैदिकः। रेचनादि पूरणान्तः प्राणायामस्तु तान्त्रिकः'**॥ फलतः 'वाह्यवृत्ति' आदि केवल आधुनिक रेचक, पूरक या कुंभक नहीं होते हैं।

रेचकादि का प्राचीन लक्षण इस योगदर्शनोक्त प्रणाली के अनुरूप है यथा—"**निष्क्राम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन। निरुध्य सन्तिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः॥ वाह्ये स्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्। नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद् यः स पूरको नाम महानिरोधः॥ न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम्। सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥**" ये ही वाह्यवृत्ति आभ्यंतर वृत्ति और स्तंभवृत्ति हैं।

जिस प्रयत्नविशेषद्वारा स्तंभवृत्ति साधी जाती है वह सर्वांग का आभ्यंतरिक संकोचजनित प्रयत्न है। उस प्रयत्न के अत्यंत दृढ़ होने पर उस के द्वारा बहुत समय तक रुद्धश्वास हो कर रहा जा सकता है, नहीं तो केवल श्वासारोध का अभ्यास करने से २।३ मिनट से अधिक (अक्सिजन वायु से श्वास प्रश्वास कर लेने पर ८।१० मिनट तक भी रुद्धश्वास—रुद्धप्राण नहीं—होकर रहा जा सकता है) रुद्धश्वास होकर नहीं रहा जा सकता है, यह भली भाँति समझ लें।

हठयोग में इस प्रयत्न को मूलबन्ध (गुदा-संकोचन), उड्डीयान बन्ध (उदर-संकोचन) और जालन्धर बन्ध (कंठदेश-संकोचन) कहा जाता है। खेचरीमुद्रा भी ऐसी है। उसमें जिह्वा को खींच खींच कर क्रमशः बढ़ाना पड़ता है। उस बढ़ी हुई जिह्वा को ब्रह्मतालु

(Nasopharynx) में घुसाकर वहाँ के स्नायु के ऊपर गुरुत्व या खिंचाव देने से रुद्धप्राण होकर कुछ समय तक रहा जा सकता है। फलतः इन सब प्रक्रियाओं से संकोचनादि प्रयत्न-द्वारा स्नायुमण्डल निरोध की ओर उद्रेक पाने के कारण रुद्धश्वास तथा रुद्धप्राण भाव आ जाता है। आहारविशेष द्वारा तथा सम्यक् स्वास्थ्य के अभ्यास द्वारा स्नायु और पेशियों की सात्त्विक स्फूर्त्ति (बौद्ध लोग इसे शरीर की मृदुता तथा कर्मण्यता धर्म कहते हैं) होती है एवं उसी के द्वारा ऐसा दृढ़तर प्रयत्न किया जाता है। स्थूल तथा सुदृढ़ पेशीरहित शरीर-द्वारा यह साध्य नहीं होता है, अतएव नाना मुद्रादि प्रक्रिया-द्वारा पहिले शरीर को दृढ़ और सम्यक् स्वस्थ करने की विधि है।

यही हठपूर्वक या बलपूर्वक प्राणरोध का उपाय है। इससे चित्तरोध नहीं होता, परन्तु उसमें सहायता होती है। यह सिद्ध होने से यदि कोई इसकी सहायता से धारणादि साधन कर चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करें तो वे ही योगमार्ग में अग्रसर हो सकते हैं, नहीं तो कुछ काल मृतवत् भाव से रहने के सिवाय अन्य किसी फल का लाभ नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त दूसरे उपाय से भी प्राणरोध होता है। जो ईश्वर-प्रणिधान, ज्ञानमय धारणा इत्यादि का साधन कर चित्त एकाग्र करते हैं, उनकी उस महानन्दकर एकाग्रता से भी सात्त्विक निरोधप्रयत्न प्राप्त कर वे उसके द्वारा रुद्धप्राण हो सकते हैं। परन्तु वह एकाग्रता यदि नित्य या स्थायी हो तो उसमें आनन्द-विभोर होते हुए बिना क्लेश के ही अल्पाहार अथवा निराहार-द्वारा रुद्धप्राण होकर समाहित हुआ जाता है। **'छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारत या नृप'** (शांतिपर्व) इत्यादि शास्त्रविधि इसी प्रकार के साधकों के लिए हैं। विशुद्ध ईश्वरभक्ति, सात्त्विक धारणा इत्यादि से अन्तरतम में जो आनन्दावेग होता है उसमें हृदय-द्वारा उस हृदयस्थ आनन्दभाव का मानों दृढ़ आलिंगन के साथ रहने के समान आवेग होता है, उससे स्नायुमंडल में सात्त्विक संकोचवेग उद्भूत होकर प्राणरोध हो सकता है। हठप्रणाली में जैसे वाह्य से संकोचनवेग उद्भूत होता है वैसे ही संकोचनवेग आभ्यंतर में ही उद्भूत होता है।

दीर्घकाल तक रुद्धप्राण रहना हो तो हठप्रणालीद्वारा आँतों से मल सम्यक् निकासना पड़ता है। नहीं तो उसके पूतिभाव के कारण विघ्न होता है तथा उदर-संकोचन भी भलीभाँति नहीं होता। निराहार वा अल्पाहार-प्रणाली द्वारा (जिसमें केवल जल या थोड़ा दूध से मिला हुआ जल पीकर रहना पड़ता है **'अपः पीत्वा पयोमिश्राः'**) उसकी आवश्यकता नहीं होती। [१।१९ (२) देखिए।]

प्राणरोध करने का यह प्रयत्न किसी-किसी को स्वाभाविक होता है। वे ऐसे प्रयत्न-द्वारा अल्पाधिक समय तक रुद्धप्राण रह सकते हैं। हम एक व्यक्ति के विषय में जानते हैं कि वह प्रोथित अवस्था में १०।१२ दिन तक रह सकता था। उस समय वह सम्यक् वाह्य-संज्ञा हीन भी नहीं होता था परन्तु जड़वत् रहता था। अन्य एक व्यक्ति था, जो अपनी इच्छा से एक अंग को जड़वत् कर सकता था। कहना अनावश्यक है कि इसके साथ योग का कोई सम्बन्ध नहीं। अज्ञ लोग इसे समाधि मान लेते हैं। परन्तु समाधि तो बहुत दूर की बात है, यदि कोई तीन मास तक मृत्तिका के अन्दर प्रोथित अवस्था में रहे तो भी शायद वह योगांग धारणा के भी निकटवर्ती नहीं होता। योग प्रधानतः चित्तरोध है परन्तु शरीर-मात्र का रोध नहीं है, यह सर्वदा भलीभाँति याद रखना चाहिये। सम्पूर्ण चित्तरोध होने

पर अवश्य ही शरीर-रोध भी होगा ; किन्तु सम्पूर्ण शरीररोध होने पर कुछ भी चित्तरोध नहीं हो सकता।

प्रश्वासपूर्वक गति-विच्छेद करने से एक वाह्यवृत्तिक प्राणायाम होता है। श्वासपूर्वक करने से एक आभ्यंतर प्राणायाम होता है। श्वास-प्रश्वास का प्रयत्न न कर कुछ पूरित या कुछ रेचित अवस्था में एक प्रयत्न से श्वास यंत्र रुद्ध करना तृतीय स्तंभवृत्ति है। उससे फुसफुस् का वायु क्रमशः शोषित होकर कम हो जाता है। अतएव यह बोध होता हैं कि मानों समस्त शरीर का वायु सूखा जा रहा है।

उत्तप्त प्रस्तर में न्यस्त जल बिन्दु जैसे चारों ओर से एक साथ सूख जाता है, स्तंभवृत्ति द्वारा भी श्वासप्रश्वास उसी प्रकार एक साथ रुद्ध होते हैं। अर्थात् प्रयत्नपूर्वक वायु बाहर निःसारण कर धारणपूर्वक गतिविच्छेद नहीं करना पड़ता है; अथवा उस प्रकार अभ्यंतर में प्रवेश करा कर धारणपूर्वक गतिविच्छेद नहीं करना पड़ता।

प्रथमतः वाह्यवृत्ति या आभ्यंतर वृत्ति किसी एक को लेकर अभ्यास करना चाहिये। सूत्रकार ने वाह्यवृत्ति के अभ्यास की प्रधानता **'प्रच्छर्द्दन विधारणाभ्यां वा'** इस सूत्र में दिखाई है। बीच-बीच में स्तंभवृत्ति के अभ्यास से प्राण को निगृहीत करना पड़ता है।

वाह्य अथवा आभ्यंतर वृत्ति का कुछ समय तक अभ्यास होने के बाद स्तंभवृत्ति के प्रयत्न का स्फुरण होता है। कुछ समय तक वाह्य वा आभ्यंतरवृत्ति का अभ्यास कर के दो-चार बार स्वाभाविक श्वासप्रश्वास करने पर स्तंभवृत्ति का प्रयत्न आप-ही-आप स्फुरित होता है। उस प्रयत्न बल से श्वासयंत्र को दृढ़ रूप से रुद्ध कर स्तंभवृत्ति का अभ्यास करना उचित है। पहले पहल दीर्घकाल के बाद स्तंभवृत्ति के प्रयत्न की स्फूर्त्ति होती है पश्चात् वह घनीभूत हो जाती है। फुप्फुस सम्पूर्ण रूप से स्फीत या संकुचित रहने से स्तंभवृत्ति प्रायः नहीं होती है। ऐसा होने से वाह्याभ्यंतर वृत्ति होती है।

वाह्य, आभ्यंतर तथा स्तंभ ये तीन प्राणायामवृत्तियाँ देश, काल और संख्या-द्वारा परिदृष्ट होकर अभ्यस्त होने से क्रमशः दीर्घ और सूक्ष्म होती हैं। उनमें देशपरिदर्शन प्रथम है। देश—वाह्य, और आध्यात्मिक द्विविध है। नासाग्र से जितनी श्वास की गति होती है वह वाह्यदेश है। अभ्यंतर में हृदय तक श्वास की गति है अतः प्रधानतः वही आध्यात्मिक देश है। हृदय से आपादतलमस्तक भी आध्यात्मिक देश है।

नासाग्र से प्रश्वास जिससे क्रमशः कम दूर होता जाय इस प्रकार के परिदर्शन के साथ प्राणायाम करना ही वाह्यदेश-परिदृष्टि है। उससे प्रश्वास क्रमशः क्षीण होता है। अर्थात क्रमशः मृदुतर भाव से प्रश्वास की गति का ध्यान रखकर प्राणायाम करना वाह्यदेश-परिदृष्ट प्राणायाम होता हे। आध्यात्मिक देश का परिदर्शन अनुभव-द्वारा करना पड़ता है। श्वास से वायु जब वक्ष में प्रवेश करती, तब उसी हृत्प्रदेश का अनुभव करना चाहिये। यही आध्यात्मिक देश का परिदर्शनपूर्वक प्राणायाम है।

श्वास काल में हृदय को प्रधान कर समस्त शरीर पर मानों वायु-सा आभ्यंतरिक स्पर्शानुभव फैल गया हो और प्रश्वास काल में फिर उपसंहृत होकर हृदय में आ गया हो, इस प्रकार प्रथमतः सर्व शरीर व्यापी (विशेष करके पादतल और करतल पर्यन्त) देश का भी परिदर्शन करना आवश्यक है। इससे नाड़ी-शुद्धि होती है अर्थात् सर्व शरीर का बोध्य भाव अव्याहत होता है या सात्त्विक प्रकाशशील भाव उत्पन्न होता है और सात्त्विकता-जनित

सर्व शरीर में सुख बोध होता है। इस सुखबोध के साथ प्राणायाम करने पर ही प्राणायाम में सुफल मिलता है, अन्यथा नहीं; प्रत्युत शरीर रुग्ण हो सकता है।

ऐसा सुखबोध होने पर उसको लेकर स्तंभादि वृत्ति का अभ्यास करने से सात्विकता और भी बढ़ जाती है तथा निरांयास बहुत क्षण तक प्राणरोध किया जा सकता है। रोध करने की शक्ति भी जड़ता न रहने के कारण बहुत दृढ़ होती है।

हृदय से मस्तिष्क तक जो रक्तवहा धमनी (carotid artery) है वह भी आध्यात्मिक देश है। ज्योतिर्मय-प्रवाह के रूप में उसका परिदर्शन करना पड़ता है। इसके सिवाय मूर्द्ध-ज्योति भी आध्यात्मिक देश कहलाता है। प्राणायाम विशेष में इसका भी परिदर्शन करना पड़ता है।

समस्त आध्यात्मिक देश में चित्त रख कर (आभ्यंतरिक स्पर्शानुभव-द्वारा) प्राणायाम करना होता है। प्रच्छर्दनकाल में सर्व शरीर से हृदय देश में बोध उपसंहृत होकर प्रश्वास वायु की गति के साथ ब्रह्मरन्ध्र (मस्तिष्क का निम्नभाग) तक जा रहा है, ऐसे अनुभव के साथ देश-परिदर्शन करना चाहिये। आपूरण में हृदय से सब शरीर पर वायुवत् स्पर्श-बोध फैल गया है ऐसे अनुभव के साथ देश-परिदर्शन करना चाहिये। विधारण-प्रयत्न में हृदय को लक्ष्य कर सर्वशरीरव्यापी बोध के प्रति अस्फुट भाव से दृष्टि रखकर देश-परिदर्शन करना चाहिये।

हृदय इत्यादि देश की स्वच्छ आकाश-कल्प धारणा करना ही सबसे अच्छी होती है। ज्योतिर्मय धारणा करना भी बुरा नहीं। इष्टदेव की मूर्ति की भी हृदयादि देश में धारणा हो सकती है। इस प्रकार देशपरिदर्शन करने पर प्राणायाम का गतिविच्छेदकाल दीर्घ होता है और श्वास-प्रश्वास सूक्ष्म होता है। भाष्यकार कहते हैं 'इतना इसका विषय है' इस प्रकार का परिदर्शन ही देशपरिदृष्टि है। इसका अर्थ है—इतना = हृदयादि आध्यात्मिक तथा वाह्य देश। इसका = श्वास, प्रश्वास, अथवा विधारण। विषय = श्वास-प्रश्वास की गति और विधारण की वृत्ति (अनुभूतिपूर्वक चित्तधारण) के व्याप्य देशों का परिमाण देखते रहना ही उसका विषय होता है।

इसके बाद काल-परिदृष्टि कही जाती है। क्षण = निमेष क्रिया का चौथा भाग; क्षण की इयत्ता = इतने क्षण। उसके अवधारण-द्वारा अवच्छिन्न अर्थात् इतने काल से अवच्छिन्न श्वास, प्रश्वास और विधारण करणीय हैं ऐसा ध्यान रखना ही काल परि-दर्शन पूर्वक प्राणायाम होता है। काल-परिदर्शन जप-द्वारा करना चाहिये। परन्तु उसके साथ काल की धारणा रखना अच्छा ही है। क्रिया द्वारा हमें काल का अनुभव होता है। शाब्दिक क्रिया-धारा में मन लगाने से काल का अनुभव स्फुट होता है। अति-द्रुत-प्रणव-जप करते हुए उसी पर मन लगाकर रखने से जो एक धारा या प्रवाह-सा चलता रहता है वही कालानुभव है, एकबार कालानुभव कर सकने से प्रत्येक शब्द में ही (जैसे अनाहत नाद में) कालानुभव होगा। शब्द एकाकार न होने पर भी उसमें इस प्रकार की काल-धारा का अनुभव हो सकता है। अर्थात् गायत्री के उच्चारण में भी कालधारा का अनुभव हो सकता है अथवा एकतान दीर्घ रूप से एक दीर्घ श्वासप्रश्वासव्यापी प्रणव-उच्चारण (मन-ही-मन) करने से वैसा कालानुभव होता है। पूर्वोक्त देश परि-दर्शन तथा काल-परिदर्शन एक समय में ही अविरोध रूप से करने पड़ते हैं।

प्राणायाम किसी एक विशेष काल को तथा जितने काल तक साध्य हो उतने काल को व्याप्त कर भी किया जा सकता है। निर्दिष्टसंख्यक प्रणव जप अथवा निर्दिष्ट बार गायत्री आदि मंत्र जप के साथ काल स्थिर रखना चाहिये। 'सव्याहृतिं सप्रणवां **गायत्रीं शिरसा सह। त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते'** अर्थात् 'ॐ भूर्भुवः स्वः **महः जनः तपः सत्यं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहिधियो यो नः प्रचोदयात्। ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्'**। इस मंत्र को तीन बार पढ़ना चाहिए। किन्तु पहले जिनको जितना सहज बोध हो, उतने समय तक ही व्याप्त कर श्वास, प्रश्वास और विधारण करना आवश्यक है। प्रणव-जप की संख्या रखने के लिए सामूहिक भाव में प्रणव जप करना चाहिये। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मन-ही-मन जप करना चाहिए, नहीं तो करादि में जप करने से चित्त कुछ बहिर्मुख हो जाता है। सामुहिक भाव का जप यह है—ॐ ॐ, ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। एक समूह में सात बार प्रणव जप हुआ। इस प्रकार जितने समूह आवश्यक हों उतने जप करने से संख्या मन में ठीक होती जायगी।

जहाँ तक हो सके वहाँ तक श्वास-प्रश्वास-रोध कर प्राणायाम करने की विधि भी है। यह अनेक स्थलों पर सहज होता है। यथाशक्ति धीरे धीरे प्रश्वास निकालने में जितना समय लगता है यथासाध्य विधारण करने में भी उतना ही समय लगता है, वही यहाँ पर, प्राणायाम-काल समझना होगा। इसमें जप की संख्या रखने की आवश्यकता नहीं है। इसमें एकमात्र दीर्घ प्रणव (प्रधानतः अर्ध मात्रावाला मकार) एक तान भाव से मन ही मन उच्चारित हो सकता है एवं सहज में ही पूर्वोक्त कालानुभव हो सकता है। इस प्रकार क्षण-परंपरा से अवच्छिन्न काल का परिदर्शन कर प्राणायाम साधा जाता है।

उद्‌घातक्रम से जो प्राणायाम का कालावच्छेद होता है उसे संख्या-परिदृष्टि कहते हैं, क्योंकि, उसमें श्वासप्रश्वास की संख्या-द्वारा काल निर्णीत होता है। स्वस्थ मनुष्य के स्वाभाविक श्वासप्रश्वास का काल मात्रा कहलाती है। यदि एक मिनट में १५ बार श्वासप्रश्वास मान लें तो एक मात्रा ४ सेकंड की हुई। इस प्रकार बारह मात्रा का नाम एक उद्‌घात (४८ सेकंड) होता है। चौबीस मात्रा द्विरुद्‌घात या द्वितीय उद्‌घात होती है। छत्तीस मात्रा का (२$\frac{2}{5}$ मिनट का) नाम तृतीय उद्‌घात है। **'नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्‌घात ईरितः। मध्यमस्तु द्विरुद्‌घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः। मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्‌घातः षट्‌त्रिंशन्मात्र उच्यते॥**

मतान्तर में मात्राकाल १$\frac{1}{3}$ सेकंड अर्थात् पूर्वोक्त काल का $\frac{1}{3}$ अंश होता है। उसमें प्रथम उद्‌घात ३६ मात्रावाला, द्वितीय ७२ मात्रावाला और तृतीय १०८ मात्रावाला होता है। उद्‌घात का और एक अर्थ है; यथा—**'प्राणेनोत्सर्यमाणेन अपानः पीड्यते यदा। गत्वा चोर्द्ध्वं निवर्त्तेत एतदुद्‌घातलक्षणम्।'** इसके अनुसार भोजराज ने कहा है कि **'उद्‌घातो नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोशिरस्यभिहननम्'**। अर्थात् श्वासप्रश्वास रुद्ध करने से उनके ग्रहण या त्याग के लिये जो उद्वेग होता है, वही उद्‌घात है। विज्ञान-भिक्षु उद्‌घात का अर्थ श्वास-प्रश्वास-रोधमात्र ही मानते हैं।

वस्तुतः ये तीनों अर्थ ही समन्वययोग्य हैं। उद्‌घात का अर्थ इस प्रकार है—जितने समय तक श्वास अथवा प्रश्वास के रोध से वायु के त्याग या ग्रहण के लिए उद्वेग होता है,

उतने समय तक का रोध ही उद्‌घात है। यह समय प्रथमतः १२ मात्रा या ४८ सेकंड होता है, अतः द्वादश मात्रा से अवच्छिन्न काल ही प्रथम उद्घात होता है।

इतने श्वासप्रश्वास के काल में इतने उद्‌घात होते हैं, यह इस प्रकार श्वास प्रश्वास की संख्या के परिदर्शन के साथ निश्चित होता है, अतः इसको संख्यापरिदर्शन बोला जाता है। फलतः यह पहले से ही निश्चित रहता है, प्राणायामकाल में इसका परिदर्शन करना आवश्यक नहीं है। किंतु कितनी संख्या का प्राणायाम करना चाहिये, किस प्रकार की संख्या से उसे बढ़ाना पड़ता है, इत्यादि रूप से भी संख्यापरिदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। हठयोग के मतानुसार दिन में चार बार, अस्सी प्राणायाम करणीय है। क्रमशः बढ़ा कर अस्सी संख्या में आना चाहिये, सहसा नहीं **'शनैरशीति पर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्'**। सावधानी से धीरे धीरे प्राणायाम की संख्या बढ़ानी चाहिये। प्रथम उद्‌घात का नाम मृदु, द्विरुद्‌घात का नाम मध्य, तृतीय उद्‌घात का नाम उत्तम प्राणायाम होता है।

इस प्रकार अभ्यस्त होनेपर प्राणायाम दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है। दीर्घ का अर्थ है दीर्घकालव्यापी रेचन वा विधारण। सूक्ष्म का अर्थ है श्वासप्रश्वास की क्षीणता तथा विधारण की निरायासता। नासाग्र में रूई जिससे स्पन्दित न हो ऐसा प्रश्वास सूक्ष्मता का सूचक होता है।

वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, तथाभ्यन्तर विषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव, देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः ॥ ५१ ॥

५१—चतुर्थ प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यंतर विषय का आक्षेपक है (१)॥

भाष्यानुवाद—देश, काल तथा संख्या-द्वारा वाह्य विषय (वाह्यवृत्ति) परिदृष्ट होने पर (अभ्यासपटुता से) उसे आक्षिप्त या अतिक्रान्त किया जा सकता है। इसी प्रकार आभ्यंतर विषय अर्थात् आभ्यंतर वृत्ति (पहिले परिदृष्ट होकर अभ्यस्त होनेपर) आक्षिप्त होती है। उक्त उभय प्रकार से (ये दो वृत्तियाँ अभ्यस्त होने पर) दीर्घ तथा सूक्ष्म होती हैं। तत्पूर्वक अर्थात् उक्तरूप से अभ्यस्त बाह्याभ्यंतर वृत्तिपूर्वक भूमिजयक्रम से उन दोनों का गत्यभाव चतुर्थ प्राणायाम कहा जाता है। देश आदि विषयों का आलोचन न कर जो सकृत् प्रयत्न-द्वारा गत्याभाव है वही तृतीय प्राणायाम है। यह देश, काल तथा संख्या-द्वारा परिदृष्ट होकर दीर्घ और सूक्ष्म होता है। परन्तु श्वास और प्रश्वास के विषय (देशादि) के आलोचन के साथ अभ्यासक्रम से भूमिजय होने पर आक्षेपपूर्वक अर्थात् अतिक्रमपूर्वक उन दोनों का जो गत्यभाव होता है वही चतुर्थ प्राणायाम है, यही विशेषता है।

टीका—५१—(१) वाह्यवृत्ति, आभ्यंतर वृत्ति और स्तंभ वृत्ति के अतिरिक्त एक चतुर्थ प्राणायाम भी है। वह भी एक प्रकार की स्तंभ वृत्ति है। किन्तु, तृतीय स्तंभ वृत्ति से वह भिन्न है। तृतीय प्राणायाम सकृत् प्रयत्न-द्वारा अर्थात् तुरन्त ही साधित होता है परन्तु वाह्य वृत्ति और आभ्यन्तर वृत्ति का देशादि परिदर्शनपूर्वक अभ्यास कर उनका अतिक्रम कर चतुर्थ प्राणायाम साधा जाता है। चिरकाल तक अभ्यस्त होकर जब वाह्य और आभ्यंतर वृत्ति अति सूक्ष्म होती हैं तब उनका आक्षेप या अतिक्रमपूर्वक जो स्तंभ वृत्ति होती है वही चतुर्थ सूक्ष्म स्तंभ वृत्ति है। इससे भाष्य-बोध सुगम होगा।

यहाँ पर प्राणायाम-अभ्यास की अन्यतम प्रणाली विशद करके दिखाई जा रही है। पहिले आसन पर सुस्थिर हो बैठना। बाद में वक्ष स्थिर रख कर उदर-संचालन कर श्वास-प्रश्वास करना। प्रश्वास या रेचक बहुत धीरे (यथाशक्ति) सम्पूर्ण रूप से करना। उससे पूरण कुछ वेग से होगा पर उदर मात्र को स्फीत करके ही पूरण करना होगा यह ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार रेचन-पूरण के समय में हृत्प्रदेश में (वक्षस्थल के भीतर) स्वच्छ, आलोकित या शुभ्र, व्यापी, अनन्तवत् अवकाश की भावना करना। पहिले कुछ दिन रेचन-पूरण न कर केवल इस ध्यान का अभ्यास करना आवश्यक होता है। यह आयत्त होने पर उसके सहयोग से रेचन पूरण करना ठीक होता है; मानों उस शरीर-व्यापी अवकाश में ही रेचक कर रहे हों और उसी में मानों पूरण कर रहे हों। शास्त्र में है, **'रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणन्तथा।'** मन को उसके साथ शून्यवत् करना होता हैं। शास्त्र में भी है, **'शून्यभावेन युञ्जीयात्'** अर्थात् शून्यमन से शून्यवत् शरीरव्यापी स्पर्श-बोध का अनुभव करते रहना। हृदय को उस शून्य बोध का केन्द्ररूप से लक्ष्य रखना। वहाँ से समूचा शरीर पूरण-काल में मानों बोध से व्याप्त हो रहा है, इस प्रकार की भावना करना।

पहले धीरे धीरे रेचन और स्वाभाविक पूरण-मात्र ध्यान के साथ अभ्यास करना। यह आयत्त होने पर बीच बीच में वाह्य वृत्ति का अभ्यास करना। अर्थात् प्रश्वास फेंककर और श्वास ग्रहण न करना। इसी तरह आभ्यंतर वृत्ति का भी अभ्यास करना। उसमें पूरित हुआ वायु मानों समूचा शरीर पर व्याप्त होकर निश्चल पूर्ण कुम्भ के समान शरीर की समस्त चंचलता को रुद्ध कर चुका है, ऐसा बोध करना। कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्वास वायु पुप्फुस को छोड़कर शरीर के दूसरे स्थान में नहीं जाता, किन्तु पूरण से पुप्फुस पूर्ण होने पर समस्त शरीर पर भी वह पूर्णता का बोध मानों व्याप्त हो गया है इस प्रकार अनुभव होता है। ऐसे बोध की ही भावना करनी होगी। प्राणायाम के लिए शरीर-मय बोध की भावना ही सिद्धि का हेतु है, इस संकेत को याद रखना चाहिये। 'वायु-द्वारा शरीर पूर्ण करना' इसका गूढ़ अर्थ इस प्रकार ही जानिए।

पहले पहल बीच बीच में वाह्य तथा आभ्यंतर वृत्ति का अभ्यास करना चाहिये। पश्चात् आयत्त होने पर निरंतर अभ्यास किया जा सकता है। इसके बीच बीच में प्रथमतः स्तंभ वृत्ति का अभ्यास करिए। पहले कई बार स्वाभाविक रेचन-पूरण कर वाताशय में स्वल्प वायु रहने के समय एक बार आभ्यंतरिक प्रयत्न से फुप्फुस का संकोच करके श्वास-प्रश्वास का रोध करिए। पूर्वोक्त अभ्यास के कारण फुप्फुस में तथा सब शरीर में सात्त्विक स्वच्छन्दता अर्थात् लघु, सुखमय बोध रहने से तत्पूर्वक स्तंभ वृत्ति अभ्यास करिए। उससे

अत्यन्त दृढ़ भाव से श्वासयंत्र रुद्ध कर सुख के साथ बहुत समय तक रहा जा सकता है। सुखस्पर्श के साथ रुद्ध करने के कारण अर्थात् उस सुखमय बोध की भावना कर रोध करने के कारण स्तंभवृत्ति में सुखस्पर्शयुक्त श्वासरोधप्रयत्न अधिकतर सुखकर होता है; पश्चात् यदि सहा न जाय, तो प्रयत्न को श्लथ करके श्वासग्रहण अथवा त्याग करिए। पुप्फुस में स्वल्प वायु रहने तथा उसका अधिक भाग शोषित हो जाने के कारण स्तंभ वृत्ति के बाद पूरण ही करना पड़ेगा, रेचन नहीं। और उस समय पूरण करना भी आवश्यक है क्योंकि उससे हृत्पिंड का स्पंदन नहीं होता। अतः ऐसा स्वल्प वायु फुप्फुस में रख के स्तंभ वृत्ति का अभ्यास करना चाहिये जिसके पश्चात् पूरण करना पड़ेगा।

पहले एक बार स्तंभ वृत्ति के बाद कई बार स्वाभाविक रेचन-पूरण करिए। अभ्यास दृढ़ होने पर निरंतर अनेक बार स्तंभ वृत्ति की जा सकती है। यह कहना अनावश्यक है कि स्तंभ वृत्ति में भी पूर्वोक्त रूप से मन को किसी आध्यात्मिक देश पर (हार्द्दाकाश ही अच्छा है) शून्यवत् रखना चाहिये, नहीं तो (समाधि के लिए) अभ्यास व्यर्थ हो जायगा।

वाह्य तथा आभ्यंतर वृत्तियों में से अन्यतर का अभ्यास करने से ही फल मिल सकता है। उद्घात के उत्कर्ष के लिये स्तंभवृत्ति का अभ्यास करणीय है। स्तंभवृत्ति ही अंत में चतुर्थ प्राणायामरूप प्राणायामसिद्धि में परिणत होती है। वाह्य तथा आभ्यंतर वृत्ति में रेचन और विधारण तथा पूरण और विधारण जिससे वह एकतान अभग्न प्रयत्न के साथ हो, उसी पर ध्यान कर साधन करना चाहिये। अर्थात् पूरण तथा रेचन का प्रयत्न मानों सूक्ष्म होकर विधारण में मिल जाता है।

निम्न विषय प्राणायामी व्यक्ति को याद रखना चाहिए।

(१) श्वास-प्रश्वास के साथ आभ्यंतरिक स्पर्श-बोध अनुभव करते हुए सात्त्विकता या सुख तथा लघुता प्रकटित होनी चाहिये। तत्पूर्वक प्राणायाम करने से ही प्राणायाम का उत्कर्ष होता है, अन्यथा नहीं। सत्त्वगुण प्रकाशशील है, अतः जिस प्रयत्न में क्रिया सहज या स्वभाविक हो उसका बोध उदित रखकर भावना करने से ही सात्त्विकता या सुख प्रकाशित होता है। जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास से पुप्फुस में रहने वाले बोध की भावना करने पर वहाँ लघुता और सुख का बोध होता है उसी प्रकार सब शरीर में भी।

(२) धीरे धीरे, स्वास्थ्य तथा शारीरिक स्वाच्छन्द्य पर ध्यान रखकर प्राणायाम-अभ्यास करना चाहिए।

(३) बिना ध्यान के प्राणायाम का अभ्यास करने से चित्त अधिकतर चंचल होता है। अतः कोई कोई पागल हो जाते हैं। पहले ध्यानाभ्यास कर आध्यात्मिक देश पर चित्त को शून्यवत् न कर सकें तो प्राणायाम का अभ्यास न करना ही ठीक है। आध्यात्मिक देश में किसी मूर्ति पर चित्त को स्थिर किया जा सके तो भी प्राणायाम हो सकता है। योग के लिये शून्यवत् भाव ही अधिक उपयोगी होता है।

(४) आहारादि के ऊपर ध्यान रखना चाहिए। अधिक आहार, व्यायाम, मानसिक श्रम इत्यादि करने से प्राणायाम म अधिक उन्नति की आशा कम ही होती है। पेट कुछ खाली रखकर लघु, द्रव्य आहार करना ही मिताहार है। हठयोग के ग्रन्थ में

मिताहार का विशेष विवरण देख लेना चाहिए। श्वेतसार युक्त द्रव्य (Carbohydrate) सेवन करना चाहिये। स्नेह वा घृततैलादि का (Hydrocarbon) अधिक सेवन नहीं करना चाहिए।

अन्त में योगी को सम्पूर्ण स्नेह-वर्जित करना पड़ता है, इसको याद रखना चाहिये। दीर्घ काल तक प्राणरोध करते रहने के लिए उपवास भी करना चाहिये (जिसमें श्वास-प्रश्वास की आवश्यकता नहीं होती)। अतएव महाभारत में है (मोक्षधर्म-३०० अ०) — **आहारान्कीदृशान्कृत्वा कानि जित्वा च भारत। योगी वलमवाप्नोति तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ भीष्म उवाच। कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत। स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥ भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिन्दम। एकाहारो विशुद्धात्मा योगी वलमवाप्नुयात् ॥ पक्षान्मासानृतुंश्चैतान्संवत्सरानहस्तथा। अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी वलमवाप्नुयात् ॥ अखण्डमपि वा मासं सततं मनुजेश्वर। उपोष्य सम्यक्शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥** अर्थात् तंडुल का रवा, तिलकल्क भक्षण करके और दीर्घकाल तक रूखा यवागू आहार कर तथा स्नेह पदार्थ का वर्जन कर योगी बल लाभ करते हैं। पक्ष, मास, ऋतु या संवत्सर तक दूध से मिला हुआ जल पीकर अथवा एक मास संपूर्ण उपवास करके योगी बल पाते हैं। पहले पहल अवश्य ही मित परिमाण में स्नेहादि सेवन करना उचित है। आहार कम करने के लिये थोड़ा थोड़ा सा क्रमशः कम करने की विधि है।

केवल प्राणरोध कर रहना योगांगभूत प्राणायाम या समाधि नहीं है। कोई कोई स्वभावतः प्राणरोध कर सकते हैं, वे ही मृत्तिका के अन्दर प्रोथित रहकर लोगों को तमाशा दिखाकर पैसा कमाते हैं। यह योग-समाधि नहीं है इस कारण योग का फल इन सब व्यक्तियों में नहीं देखा जाता।

जिस प्राणरोध के साथ चित्त भी रुद्ध या एकाग्र किया जाता है वही योगांग प्राणायाम है। एक एक प्राणायामगत चित्तस्थैर्य धारावाही क्रम से वर्धित होकर अन्त में समाधि के रूप में परिणत होता है। अतएव यह क्रम कहा जाता है कि द्वादश प्राणायाम से एक प्रत्याहार, द्वादश प्रत्याहार से एक धारणा इत्यादि। फलतः चित्त की स्थिरता तथा निर्बिषयता का उत्कर्ष न होने पर वह योगांगभूत प्राणायाम नहीं होता, परन्तु केवल तमाशा-बाजी है। प्राणरोधमात्र करके रहना समाधि का वाह्य लक्षण है, आभ्यंतरिक लक्षण नहीं।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

भाष्यम्—प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म, यत्तदाचक्षते 'महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते' इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसार निवन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् बलं भवति, प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तं 'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति' ॥५२॥

५२—उससे प्रकाशावरण क्षीण होता है।

भाष्यानुवाद—प्राणायाम अभ्यासकारी योगी का विवेकज्ञान का आवरणभूत कर्म क्षीण होता है (१) यह जैसा है वह निम्न वाक्य में कहा गया है—'महामोहमय इन्द्रजालद्वारा प्रकाशशील सत्त्व को आवृत्त कर उसे अकार्य में लगाता है।' योगी का वह प्रकाशावरणभूत संसार-हेतु कर्म प्राणायामाभ्यास से बलहीन हो जाता है; और प्रतिक्षण क्षीण होता है। कहा भी है 'प्राणायाम से श्रेष्ठ तपस्या और नहीं है; उससे मलसमूह की विशुद्धि तथा ज्ञानोद्दीप्ति होती है।"

टीका ५२—(१) प्राणायाम के द्वारा जो प्रकाशावरण (विवेकख्याति का आवरण) क्षीण होता है, वह अज्ञानस्वरूप आवरण नहीं है; परन्तु, अज्ञानमूलक कर्मरूप आवरण है। कर्म ही अज्ञान की जीवनवृत्ति है। अतः कर्म क्षीण होने से अज्ञान भी क्षीण होता है। प्राणायाम शरीरेन्द्रिय की निष्कर्मता है। उसके संस्कार-द्वारा साधारण क्लिष्ट कर्म का संस्कार क्षीण होता है, जैसे कि क्रोध का संस्कार अक्रोध के संस्कार द्वारा क्षीण होता है। 'मैं शरीर हूँ' 'मैं इन्द्रियवान् हूँ' इत्यादि अविद्यादिरूप अज्ञान और तत्प्रेरित कर्म और कर्म का संस्कार प्राणायाम-द्वारा दुर्बल होकर क्षीण होता रहता है यह स्पष्ट है। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि अज्ञान, ज्ञान द्वारा ही नष्ट होता है। प्राणायामरूप कर्म द्वारा कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि, यहाँ पर भी ज्ञान-द्वारा ही अज्ञान का नाश हुआ करता है। प्राणायाम क्रिया है यह बात ठीक है परन्तु उस क्रिया से जो ज्ञान पैदा होता है, वही अज्ञान को नष्ट कर डालता है। प्राणायाम-क्रिया शरीरेन्द्रिय से मैंपन को वियुक्त करने की क्रिया है। अतः उस क्रिया का ज्ञान (सभी क्रिया का ज्ञान होता है) 'मैं शरीरेन्द्रिय नहीं हूँ' इस प्रकार की विद्या है।

भाष्यम्—किंच।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५३॥

प्राणायामाभ्यासादेव। 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' इति वचनात् ॥५३॥

भाष्यानुवाद—और भी—

५३—सब धारणाओं में मन की योग्यता होती है (१) ॥ सू०

प्राणायामका अभ्यास से ही आता है। 'अथवा प्राण के प्रच्छर्दनविधारण द्वारा स्थिति साधित होती है' इस सूत्र से भी (यही जान पड़ता है।)

टीका ५३—(१) आध्यात्मिक देश में चित्त का बन्धन धारणा कहाती है। प्राणायाम में निरंतर आध्यात्मिक देश की भावना (अनुभव) करनी पड़ती है। ऐसा करते रहने से जो चित्त को वहाँ बाँधने की योग्यता होगी यह कहना अनावश्यक है। **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'** इस सूत्र में (१।३४) प्राणायाम-द्वारा चित्त की जो स्थिति होती है यह उक्त हुआ है। स्थिति का अर्थ ही धारणा अर्थात् अभीष्ट विषय में चित्त को स्थापन करना है।

भाष्यम्—अथ कः प्रत्याहारः ।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।।५४।।

स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति, चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनुत्पतन्ति, निविशमानमनु निविशन्ते, तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि, इत्येवं प्रत्याहारः ।।५४।।

भाष्यानुवाद —प्रत्याहार क्या है ?—

५४—स्व विषय के साथ संयुक्त होने पर इन्द्रियों का जो स्वरूपानुकार होता है, इन्द्रियों का प्रत्याहार भी उसी प्रकार का है अथवा वही है । सू०

स्वविषय के साथ सम्प्रयोगाभाव (संयोगाभाव) होने पर चित्तस्वरूपानुकार के समान अर्थात् चित्तनिरोध होने पर निरुद्ध चित्त के समान निरुद्ध इन्द्रियगण भी अन्य इन्द्रियजय के उपायांतरों की अपेक्षा नहीं रखते (१) । जिस प्रकार उड़ती हुई रानी मक्षिका के पीछे अन्य मधुवायी मक्षिकाएँ भी उड़ती हैं और उसके बैठने पर बैठ जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियगण भी चित्तनिरोध होने पर निरुद्ध होते हैं, यही प्रत्याहार है ।

टीका ५४—(१) अन्य प्रकार के इन्द्रियजय में विषय से दूर रहना पड़ता है अथवा मन को प्रबोध देना आवश्यक होता है या अन्य किसी उपाय का अवलंबन करना पड़ता है, परन्तु प्रत्याहार में ऐसा नहीं करना पड़ता । क्योंकि, उसमें चित्त की इच्छा ही प्रधान होती है । इच्छापूर्वक चित्त को जिधर रखा जाय, इन्द्रियगण भी उधर ही जाते हैं । चित्त को आध्यात्मिक देश में निरुद्ध करने पर इन्द्रियगण उस समय वाह्य विषय का ग्रहण नहीं करते हैं । उसी प्रकार, वाह्य शब्दादि किसी विषय पर चित्त को स्थित करने से केवल उसी विषय का व्यापार होता है; अन्य विषय-व्यापार से इन्द्रियगण विरत रहते हैं ।

प्रत्याहार-साधन के लिए प्रधान उपाय ये हैं (१) वाह्य विषय पर ध्यान न देना और (२) मानस भाव लेकर रहना । अवहित होकर चक्षु आदि के द्वारा विषयग्रहण का अभ्यास न छोड़ने से प्रत्याहार नहीं होता है । जो वाह्य विषय में सम्यक मन (स्वभावतः) नहीं दे सकते उनको प्रत्याहार सुकर होता है । उन्माद भी एक प्रकार का प्रत्याहार है । Hysteric (मृगी रोगी) को भी एक प्रकार का प्रत्याहार होता है । जो Hypnotic Suggestions के वशीभूत हैं, उनको भी भलीभाँति प्रत्याहार होता है, नमक को शक्कर कहकर देने से, वे शक्कर का स्वाद पाते हैं ।

इन सब प्रत्याहारों से योगांग प्रत्याहार की विशेषता है । योगांग प्रत्याहार संपूर्ण स्वेच्छाधीन है । योगी जब इच्छा करते हैं कि मैं यह नहीं जानूँगा, तो शीघ्र ही उस ज्ञानेन्द्रिय शक्ति का रोध हो जाता है । प्राणायाम इस प्रकार के रोध का सहायक होता है । अधिक क्षण प्राणायाम करने से इन्द्रियसमूह में निरोध का भाव गाढ़ा होता रहता है । उसके साथ प्रत्याहार सुकर होता है । अन्य उपाय (भावना) के द्वारा भी वह हो सकता है । यम नियम आदि का अभ्यास के साथ ही प्रत्याहार होने से वह श्रेयस्कर होता है, नहीं तो दुष्टचित्त व्यक्तियों का दुष्पथ में चालित प्रत्याहार अधिकतर दोष-हेतु होता है ।

चित्तनिरोध होने से इन्द्रिय का निरोधसाधनरूप प्रत्याहार ही योगियों को उपादेय

होता है। जब मधुमक्खियों का एक झुण्ड एक नवीन छता बनाने के लिये पहला छत्ता त्यागते हैं तब उनकी एक रानी (मधुमक्खियाँ प्रायः क्लीब होती हैं, उनके छत्ते में एक या कदाचित् दो स्त्रियाँ रहती हैं। वे आकार में बड़ी होती हैं, समस्त मक्खियाँ उनकी सेवा में लगी रहती हैं) आगे चलती है। वह बड़ी मक्खी जहाँ बैठती है, वहीं अन्य सब भी। उसके उड़ने से वे भी उड़ती हैं भाष्यकार ने यही दृष्टांत दिया है। हिमवान् प्रदेश में मक्षिका-पालन होता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

भाष्यम्—शब्दादिष्वव्यसनम् इन्द्रियजय इति केचित्, सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। 'चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति' जैगीषव्यः। ततश्च परमात्वियं वश्यता यच्चित्त निरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रिय जयवत् प्रयत्नकृतम् उपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातंजले सांख्यप्रवचने वैयासिके साधनपादो द्वितीयः।

५५—उससे इन्द्रियसमूह की परम वश्यता होती है ॥ सू०

भाष्यानुवाद—कोई कहते हैं – शब्दादि में अव्यसन ही इन्द्रियजय है। व्यसन का अर्थ आसक्ति अर्थात् राग है, जो पुरुष को श्रेय से विरत कर देता है, अर्थात् दूर फेंक देता है। और कोई कोई यह भी कहते हैं—'शास्त्र के अविरुद्ध शब्दादि (विषय)-का सेवन ही न्याय्य है अर्थात् वही इन्द्रियजय है।' कुछ लोग कहते हैं—'स्वेच्छापूर्वक अर्थात् परतंत्र न होकर शब्दादि में जो इन्द्रियसंप्रयोग है वही इन्द्रियजय है।' 'अर्थात् भोग्यपरतंत्र न होकर जो भोग है वही इन्द्रियजय है।' 'रागद्वेष के अभाव में सुखदुःखशून्य जो शब्दादि ज्ञान है वही इन्द्रियजय है,' ऐसा भी कोई कोई कहते हैं। जैगीषव्य कहते हैं— चित्त की एकाग्रता होने :पर (इन्द्रियगण के विषय में) जो अप्रवृत्ति है अर्थात् विषयसंयोग-शून्यता है वही इन्द्रियजय है।' इस कारण से यही (जैगीषव्योक्त) योगी की परम इन्द्रियवश्यता है जिसके द्वारा चित्तनिरोध होने से इन्द्रियसमूह भी निरुद्ध होते हैं। योगी इसमें अन्य प्रकार के इन्द्रिजय के समान प्रयत्नकृत उपायान्तर की अपेक्षा नहीं करते (१)।

इति श्री पातंजल-योगशास्त्रीय वैयासिक सांख्यप्रवचन का साधनपाद का अनुवाद समाप्त।

टीका ५५—(१) भाष्यकार ने जिन इन्द्रियजयों का उल्लेख किया है, उनमें अंतिम को छोड़कर और सभी प्रच्छन्न इन्द्रिय-लौल्य हैं एवं परमार्थ में विघ्न हैं। 'अनासक्त भाव से' पापविषय का भोग करने पर अनासक्त भाव से ही निरय में जाना होगा। अग्निदाह जिसने जान लिया है वह और कभी अग्नि में हाथ देने की इच्छा नहीं करता है—अनासक्त

भाव से भी नहीं करता, आसक्त भाव से तथा स्वतन्त्र भाव से या परतन्त्र भाव से भी नहीं करता। अतः परमार्थ विषय का अज्ञान ही विषय के साथ स्वेच्छापूर्वक संप्रयोग का कारण होता है। अतः सभी इन्द्रियजय सदोष होती है।

महायोगी जैगीषव्य ने जो कहा है वही योगी लोगों के लिए उपादेय है। इच्छामात्र ही से चित्तरोध के साथ यदि इन्द्रियरोध हो जाय, तो उससे उत्तम इन्द्रिजय और नहीं हो सकता। अतएव प्रत्याहार-जनित जो इन्द्रिजय है, वही सबसे उत्तम है।

दूसरा पाद समाप्त

———————

विभूतिपादः

भाष्यम्—उक्तानि पञ्च बहिरङ्गाणि साधनानि, धारणा वक्तव्या ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्द्धि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु वाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद—बहिरङ्ग साधन समूह कहे जा चुके हैं; (अब) धारणा बतायी जायगी—

१—देश में बन्ध होना ही चित्त की धारणा है ॥ सू०

नाभिचक्र, हृदयपुंडरीक, मूर्द्धज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि देश में (बन्ध होना) अथवा वाह्य विषय में चित्त का जो वृत्तिमात्र के द्वारा बन्ध है, वही धारणा है (१) ।

टीका—१—(१) आध्यात्मिक देश में अनुभव-द्वारा चित्त बद्ध होता है । वाह्य देश में इन्द्रियवृत्ति द्वारा चित्त बद्ध होता है । बाहर के शब्दादि अथवा मूर्ति आदि वाह्य देश हैं । जिस चित्तबन्ध में केवल उसी देश का (जिसमें चित्त बद्ध किया गया) ज्ञान होता रहता है, और जब प्रत्याहृत इन्द्रियसमूह स्वविषय का ग्रहण नहीं करते हैं तब उस प्रकार प्रत्याहार-मूलक धारणा ही समाधि की अंगभूत धारणा होती है ।

प्राणायाम आदि में भी धारणा का अभ्यास आवश्यक होता है, परन्तु वह मुख्य धारणा नहीं होती, यह विचार रखना चाहिये । प्राणायाम आदि में जिसका अभ्यास करना पड़ता है, उसे साधारणतः 'ध्यान-धारणा' कहने से भी वस्तुतः उसे भावना कहना उचित है । उस भावना की उन्नति होने पर धारणा और ध्यान पैदा होते हैं ।

प्राचीनकाल में हृदयपुंडरीक ही धारणा का प्रधान स्थान माना जाता था । वहाँ से ऊपर जो सौषुम्न ज्योति रहती है वह भी धारणा का विषय था । पीछे षट्चक्र या द्वादशचक्र की धारणा का प्रचलन हुआ । षटचक्र प्रसिद्ध है । शिवयोगमार्ग में द्वादश प्रकार की धारणा का विषय कहा है, वह इस प्रकार है (१) मूलाधार; (२) स्वाधिष्ठान; (३) नाभिचक्र; (४) हृच्चक्र; (५) कण्ठचक्र; (६) राजदंत अथवा जिह्वामूल (यहाँ शून्यरूप दशम द्वार ध्येय है); (७) भ्रूचक्र (यहाँ दिव्यशिखारूप ज्ञानालोक ध्येय है); (८) निर्वाण चक्र (यह ब्रह्मरंध्र में है), (९) ब्रह्मरंध्र के ऊपर अष्टदल पद्म

(यहाँ त्रिकूट नामक तिमिर के भीतर आकाशबीजसह शून्यस्थित ऊर्द्ध्वशक्ति ध्येय है); (१०) समष्टिकार्य (अहंकार); (११) कारण (महत्तत्त्व वा अक्षर); (१२) निष्कल (ग्रहीतृपुरुष) ।

इनमें (१-५) ग्राह्य, (६-११) ग्रहण और (१२) ग्रहीता हैं । काल-क्रम से सांख्ययोग परिणत होकर इस प्रकार का हुआ । इन सब धारणाओं का अभ्यास करते करते चित्त समाहित होनेपर असम्प्रज्ञात योग हो सकता है । परंतु, उसमें सम्यक् तत्त्वदृष्टि की अपेक्षा रहती है । निष्कल पुरुष (ग्रहीतृपुरुष) अधिगत होनेपर तद्विषयक प्रज्ञा का निरोध होने से कैवल्य होता है । परन्तु परवैराग्य के साथ निरोध करना चाहिये ।

धारणा प्रधानतः द्विविध होती है—तत्त्वज्ञानमय धारणा तथा वैषयिक धारणा । ज्ञानयोगी सांख्यों की ही तत्त्वज्ञानमय धारणा होती है । उसमें पहले समस्त विषय इन्द्रिय में अभिहननकारी हों, इस प्रकार की धारणा कर इन्द्रियसमूह अभिमानात्मक हैं, अभिमान 'मैंपन' में प्रतिष्ठित है, मैंपन यानी बुद्धिपुरुषद्वारा प्रतिसंविदित है ऐसी धारणा के साथ ज्ञ-स्वरूप आत्मा में स्थिति पाने की चेष्टा करनी पड़ती है । इसमें भी अन्यान्य धारणाओं के समान इन्द्रियादि के अभ्यंतरस्थ आध्यात्मिक देश का सहारा लेना होता है, किन्तु तत्त्वज्ञान ही इसका मुख्य आलंबन है । (इसके बारे में 'ज्ञानयोग' और 'स्तोत्रसंग्रह' की तत्त्वनिदिध्यासन गाथा देखिए) ।

वैषयिक धारणाओं में शब्द तथा ज्योति की धारणा प्रधान होती हैं । इनमें हार्दज्योति का अवलंवन कर बुद्धि तत्त्व की धारणा (अर्थात् ज्योतिष्मती प्रवृत्ति) प्रधान है । शब्द-धारणाओं में अनाहत नाद की धारणा प्रधान है । इनका साधन निःशब्द स्थान पर (गिरि-कन्दर आदि में) करना चाहिये । निःशब्द स्थान में चित्त स्थिर करने से, विशेष कर कुछ प्राणायाम करने से, नाना प्रकार के अभ्यंतरस्थ नाद (प्रायः पहिले दायें कान में) सुने जाते हैं । चिंनाद, शंखनाद, घंटानाद, करतलनाद, मेघनाद आदि ही अनाहत नाद कहाते हैं । अभ्यस्त होने पर वे सर्वशरीर में, हृदय में, सुषुम्ना के भीतर और मस्तक में सुने जाते हैं । इस प्रकार आध्यात्मिक देशों में उनका श्रवण करते करते क्रमशः विन्दु में पहुँचना पड़ता है । शब्द वस्तुतः क्रिया की धारा है अतः शब्द में चित्त स्थिर होने पर दैशिक विस्तारज्ञान का लोप हो जाता है । वही ब्रिन्दु कहाता है । शब्द का विस्तारहीन मानसिक भावमात्र ही विन्दु है । अतः उसके द्वारा मन में पहुँचना होता है । ऐसे इस मार्ग द्वारा उच्च तत्त्व में जाना पड़ता है । शास्त्र में कहा है 'नाद के अंतर्गत विन्दु और विन्दु के अंतर्गत मन है वह मन जब विलीन होता है तभी विष्णु का परम पद प्राप्त होता है ।'

मार्गधारणा भी अन्यतम ज्योतिर्धारणा है, क्योंकि ज्योति ही के द्वारा ब्रह्ममार्ग की चिंता करनी होती हैं एवं उसका शास्त्रोक्त नाम भी अर्चिरादि मार्ग होता है । वह दो प्रकार का है—एक पिंडब्रह्मांडमार्ग और दूसरा उपरिलिखित शिवयोगमार्ग । प्राणियों की आध्यात्मिक अवस्थानुसार एक एक लोक में गति होती है । आध्यात्मिक उन्नति से देहाभिमानादि का त्याग होता है । जितना देहादि का अभिमान त्यागा जाता है उतनी ही उच्च उच्च लोकों में गति होती है । अतः निरभिमानता की एक एक अवस्था के साथ एक एक लोक संबद्ध है ।

पिंडब्रह्मांडमार्ग ही षट्चक्रमार्ग है । मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध

तथा आज्ञा (भौंहों के बीच में) रीढ़ के बीच में और उसके ऊपर सुषुम्ना में गुँथे हुए ये छः चक्र ही उक्त मार्ग हैं । इसमें कुंडलिनी नामक ऊर्ध्वगामिनी ज्योतिर्मयी धारा की धारणा से एक एक चक्र में उठना पड़ता है । नीचे के पाँचों चक्रों में पार्थिव, आप्य इत्यादि अभिमान वा देहेन्द्रियादि का अभिमान त्याग कर द्विदल आज्ञा चक्र में या मनःस्थान में पहुँचना होता है । इस एक एक चक्र के साथ भूः, भुवः आदि एक एक लोक का संबन्ध रहता है । सहस्रार में या मस्तकस्थ सप्तम चक्र में सत्यलोक वा ब्रह्मलोक है । वहाँ पहुँचने पर ज्ञान का प्रसाद प्राप्त कर तथा परवैराग्य के साथ पुरुष तत्त्व अधिगत कर लोकातीत परमपद का लाभ होता है । (प्राणतत्त्व १३ देखिए ।)

देहस्थ नाड़ी चक्र में धारणा का विशेष विवरण दिया जा रहा है । पहिले देखना है कि सुषुम्ना नाड़ी क्या है ? इसके बारे में चार प्रकार के मतभेद हैं । श्रुति में है—हृदय से ऊर्ध्वगत विशेष नाड़ी ही सुषुम्ना है । तंत्र शास्त्र में 'षट्चक्र-निरूपण' ग्रन्थ में तीन प्रकार के मत हैं । किसी मत में रीढ़ या पीठ की हड्डी में सुषुम्ना है और उसके दोनों ओर इडा और पिंगला हैं । **'मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे, मध्ये नाड़ी सुषुम्ना ।'** दूसरे तंत्र में है **'मेरोर्वामे स्थिता नाड़ी इडा चन्द्रामृता शिवे । दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः ।। तद्बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्ना वह्निसंयुता ।।'** इसमें तीन नाड़ियों को ही मेरु के बाहर कहा गया है । मतांतर में, मेरु मध्य में ही ये तीनों नाड़ियाँ रहती हैं । **'मेरोर्मध्यपृष्ठगतास्तिस्त्रो नाडचः प्रकीर्त्तिताः ।'** (निगमतत्त्वसार) । शरीर चीर-फाड़ करके इन नाड़ियों को पाने की संभावना नहीं है । वस्तुतः मस्तिष्क या सहस्रार से जो सब स्नायुएँ मेरु के बीच और बाहर होकर मलद्वार तक विस्तृत हैं, जिनके द्वारा बोध और चेष्टा होती है वे सुषुम्ना, इडा तथा पिंगला हैं । कुंडलिनी शक्ति का विचार करने पर यह स्पष्ट होगा । कुंडली, कुंडलिनी, कुलकुंडलिनी, नागिनी, भुजगांगना, बालविधवा, तपस्विनी आदि बहुत से नाम आदर और छन्दानुरोध से कुंडलिनी को ही दिए गये हैं ।

पहिले कुडलिनी के विषय में उसका स्वरूप समझने के लिए कई वचन उद्धृत किये जा रहे हैं, **'चित्रिणी शून्यविवरे·········भुजङ्गी विहरन्ति च ।'** चित्रिणी अर्थात् सुषुम्ना के अंगभूत नाड़ी के छेद में कुंडली बिहार करती है । **'कूजन्ती कुलकुंडली च मधुरं·········श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते, सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति ।'** कुंडली मधुरभाव से शब्द करती है (नाद रूप से, वाक्य के मूल रूप से), और वह श्वासप्रश्वास के प्रवर्त्तन-द्वारा संसार के जीवों (प्राणों) को धारण कराती है तथा वह मूलाधार पद्म के कुहर में प्रकाशित होती है । **'ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं·········विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम् ।'** विश्वातीत या अबाह्य ज्ञानरूप ऊर्ध्ववाहिनी कुंडली देवी का ध्यान करिए । **'कला कुण्डलिनी सैव नादशक्तिः शिवोदिता ।'** उस कुंडलिनी रूप कला को नाद शक्ति जानिए । **'शून्यरूपं शिवः साक्षाद् बिन्दुः परमकुण्डली ।'** साक्षात् शून्यरूप शिव ही परम कुंडली हैं । **'वृत्तः कुण्डलिनीशक्तिर्गुणत्रयसमन्वितः । शून्यभाग महेशानि शिवशक्त्यात्मकं प्रिये ।।'** त्रिगुणसमन्वित कुण्डलीशक्तिरूप जो वृत्त या बिन्दु है वह शून्य और शिवशक्त्यात्मक है । अंत के इन दोनों वाक्यों में परमकुंडली की बात कहा गई है । कुंडली शक्ति नाम इस लिए हुआ है कि वह सुप्तावस्था में साँप की भाँति कुंडली लगाए रहती है । सुप्ता कुंडलिनी मूलाधार में साढ़े

तीन पेंच की ('सार्धत्रिवलयेनावेष्टच') कुंडली मारकर रहती है। उसे जगा कर सहस्रार में ले जाना और विंदुरूप शिव के साथ युक्त करना ही कुंडलीयोग होता है।

अतः सुषुम्नादि नाड़ी जिस प्रकार रीढ़ के मध्यस्थ और वाह्यस्थ स्नायुस्रोत (जो मस्तिष्क से गुह्य तक विस्तृत है) हुए, वैसे ही कुंडलिनी तन्मध्यस्थ बोध और चेष्टाशीला शक्ति हुई। साधारण अवस्था में वह सुप्त या देहकार्य करने में लगी हुई है। इस योग का उद्देश्य है—उसको मस्तिष्क में ले जाना। वह धारणा तथा प्राणायाम-द्वारा साधा जाता है। उसके साधन के दो प्रधान उपाय हैं, एक तो हठयोग और दूसरा लययोग। धारणा नाना विध रूप (देव, देवी, विद्युत् आदि वर्ण प्रभृति) तथा नाद-द्वारा की जाती है। हठ प्रणाली में मूलबंध, उड्डीयान बन्ध इत्यादि द्वारा पेशी और स्नायु का संकोच कर कुंडली को प्रबुद्ध करना पड़ता है।

लययोग में प्रधानतः यही नाद-धारणा द्वारा होता है। नाद द्विविध है— आहत और अनाहत। ये दोनों नाद ही कुंडली शक्ति से होते हैं। वाक्यरूप आहतनाद चार प्रकार का है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। वाक्योच्चारण में पहले मूलाधार या गुह्यदेश में परा नामक सूक्ष्म चेष्टा होती है—(श्वास तथा प्रश्वास में गुह्यदेश स्वभावतः कुंचित होता है, अतः यह परा अवस्था जो शब्दोच्चारण की मूल क्रिया है काल्पनिक नहीं है। उसके बाद स्वाधिष्ठान में पश्यंती रूप (उदर संकोचन रूप) क्रिया होती है। फिर अनाहत या वक्षःस्थल में (पुप्फुस संकोचन रूप) जो क्रिया होती है, वह मध्यमा है। पश्चात् कंठ-तालु आदि में जो क्रिया होती है जिसका फल वैखरी या श्राव्य वाक्य है। ये सभी कुंडली के कार्य हैं। **'स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः। मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः॥ स एव चोर्ध्वतां नीतः स्वाधिष्ठानविजृम्भितः पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्ध्वं शनैः शनैः॥ अनाहते बुद्धितत्वसमेतो मध्यमाभिधः। तथा तयोरूर्ध्वगतो विशुद्धौ कण्ठदेशतः॥ वैखर्य्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः।'** इस प्रकार वाक्य के साथ सम्बन्ध रहने के कारण **'हुम्'** शब्द-द्वारा पहले कुंडली को प्रबुद्ध करना चाहिये। **'हूँकारेणैव देवीं यमनियमभ्यास-शीलः सुशीलः।'** अनहत नाद उठने पर उसके द्वारा यह साधा जाता है। इसका साधन संकेत इस प्रकार है—पीठ के अन्दर नीचे से ऊपर तक एक धारा उठ रही है—प्रयत्न-विशेष-द्वारा इस प्रकार की अनुभूति करनी चाहिये। वह 'हूम्-हूम्' अथवा अन्य प्रकार के नाद के साथ अनुभूत होती है।

अनाहत नाद द्विविध है—एक तो कानों से (विशेष करके दायें कान से) जो सुना जाता है, और दूसरा जो समस्त शरीर में उर्ध्वग धारारूप में अनुभूत होता है। इस शेषोक्त अनाहत के द्वारा ही कुंडली को क्रमशः दीर्घकाल के अभ्यास द्वारा-मस्तक पर उठाना पड़ता है और वह वहाँ विंदुरूप में परिणत होता है। **'नाद एव घनीभूतः क्वचिदभ्येति विन्दुताम्''** अर्थात् नाद ही घनीभूत (नाद के भीतर सम्यक् समाहित) होकर विंदुता प्राप्त करता है। (सूत्ररूप में सूक्ष्म होकर)। विंदु—**'केशाग्र कोटिभागैकभागरूप सूक्ष्मतेजोंऽशः'** अर्थात् केशाग्र कोटिभाग का एक भागरूप सूक्ष्म तेज वा ज्ञानरूप अंश ही विंदु कहलाता है। फलतः यही शब्दतन्मात्र (जो देश व्याप्तिहीन है) होता है। **'यत्रकुलापि वा नादे लगति प्रथमं मनः। तत्र तत्रस्थिरीभूत्वा तेन सार्द्धं विलीयते। विस्मृत्य सकलं वाह्यं नादे**

दुग्धाम्वुवन्मनः । एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते । ' नाद को शक्ति तथा विंदु को शिव कहकर तांत्रिकगण नाद की विंदुत्व-प्राप्ति को शिवशक्ति का योग कहते हैं ।

शिव के अतिरिक्त फिर परशिव भी तन्त्रमत में स्वीकृत हुए हैं । वे सांख्य के पुरुष-तत्व के समान हैं । परन्तु, सम्यक् तत्वदृष्टि के अभाव से इन सब विषयों में इतनी गड़बड़ी होगयी है कि अब तंत्रोक्त प्रणाली से मोक्षलाभ संभव नहीं होता । यह सब तत्वज्ञान के अभाव से प्रायशः अंधों-द्वारा हस्तिदर्शन के समान होता है । जिन्होंने जैसी अनुभूति की है उन्होंने वैसा ही कहा है । अवश्य ही सिद्ध के पास तदृष्ट मार्ग का विषय सीखने पर सफलता हो सकती है, अन्यथा ऐसी अटपटी बातें तंत्रशास्त्र में हैं कि जिन्हें पढ़कर किसी को भी प्रकृत सिद्धि की संभावना नहीं रहती है । कहा भी जाता है कि गुरुमुख से ही सीखना चाहिये, हजारों ग्रन्थ पढ़ने से भी कुछ नहीं होता है ।

शिवयोग-मार्ग में देहस्थित चक्रसमूह का संपूर्ण अतिक्रम कर पहले लिखे हुए देह-वाह्य में कल्पित चक्र तथा अवस्थासमूह का अतिक्रम कर सत्यलोक में पहुँचने की धारणा करनी चाहिये । श्रुति में जो सूर्यरश्मि नाड़ी में व्याप्त कहा गया है उस ज्योतिर्मयी धारा के अवलम्बन-द्वारा भी उर्ध्व उठने की धारणा करनी पड़ती है । हिंदुस्तान में कबीर पंथियों के किसी किसी संप्रदाय में इसकी विशेष चर्चा है ।

इसके सिवा बौद्धों की दश कसिन-धारणा, मूर्तिधारणा इत्यादि अनेक प्रकार की धारणाएँ भी हैं । अज्ञ, एकदेशदर्शी लोग इनमें से किसी ऐसे मार्ग को एकमात्र मोक्षमार्ग जानकर वाद-प्रतिवाद करते हैं । परन्तु, केवल धारणा से सम्यक् फललाभ नहीं होता । अभ्यास-वैराग्य-द्वारा धारणा में स्थिति प्राप्त कर ध्यान और समाधि लगा सकने से ही किसी मार्ग का सम्यक् फललाभ होता है ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

भाष्यम्—तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्यान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥२॥

२—उसमें प्रत्यय (ज्ञान वृत्ति) की एकतानता ध्यान है । सू०

भाष्यानुवाद—उस (पूर्वसूत्र के भाष्य में कथित) देश में, ध्येयविषयक प्रत्यय की जो एकतानता अर्थात् अन्य प्रत्यय के द्वारा अपरामृष्ट एकरूप प्रवाह है वही ध्यान है (१) ।

टीका— २ । (१) धारणा में प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति केवल अभीष्ट देश पर आबद्ध रहता है । परन्तु उसी देश में प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति (अर्थात् वह ध्येयदेशविषयक ज्ञान) खंड रूप से धारावाहिक क्रम से चलता रहता है । अभ्यासबल से जब वह एक तान या अखंड धारा की भाँति होता है, तब उसे ध्यान कहते हैं । यह योग का पारिभाषिक ध्यान

है । ध्येय विषय के साथ इस ध्यान-लक्षण का संबन्ध नहीं है । यह चित्तस्थैर्य की अवस्था-विशेष है । किसी भी ध्येय विषय पर इस ध्यान का प्रयोग हो सकता है । ध्यान शक्ति पैदा होने पर साधक किसी भी विषय को लेकर ध्यान लगा सकते हैं । धारणा का प्रत्यय मानों पानी की बूंद की धारा के समान और ध्यान का प्रत्यय मानों तेल की या शहद की धारा के समान एकतान है । एकतानता का मतलब यही है । एकतान प्रत्यय में मानों एक ही वृत्ति उदित हो रही है, ऐसा बोध होता है ।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। ३ ।।

भाष्यम्—ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ।। ३ ।।

३ । ध्येयविषयमात्रनिर्भास, स्वरूपशून्य के समान ध्यान ही समाधि है ।। सू०

भाष्यानुवाद—ध्येयाकारनिर्भास ध्यान ही जब ध्येयस्वभावावेश से अपने ज्ञानात्मक स्वभावशून्य के समान होता है, तब (उसे) समाधि कहते हैं (१) ।

टीका—३ । (१) ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम समाधि है । समाधि चित्त-स्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है । उससे बढ़कर और चित्तस्थैर्य नहीं हो सकता है । परंतु यहाँ समस्त सबीज समाधि को लक्ष्य किया गया है । अर्थशून्य निर्बीज समाधि इससे लक्षित नहीं हुई है ।

ध्यान जब अर्थमात्रनिर्भास होता है अर्थात् ध्यान जब इतना प्रगाढ़ होता है कि उसमें केवल ध्येय विषय मात्र की ही ख्याति होती रहती है तब उस ध्यान को समाधि कहते हैं । उस समय चित्त ध्येय विषय के स्वभाव में आविष्ट होता है अतः प्रत्यय स्वरूप की ख्यति नहीं रहती है । अर्थात् मैं ध्यान कर रहा हूँ इस प्रकार की ध्यान-क्रिया का स्वरूप, प्रख्यात ध्येय स्वरूप में अभिभूत हो जाता है । आत्मविस्मृति के समान ध्यान ही समाधि है । सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ध्यान करते करते जब हम आत्म-विस्मृत हो जाय, जब केवल ध्येय-विषयक सत्ता की ही उपलब्धि होती रहती हैं तथा अपनी सत्ता विस्मृत हो जाती है ध्येय से अपना पृथक्त्व ज्ञानगोचर नहीं होता है, ध्येय विषय पर उस प्रकार का चित्तस्थैर्य ही समाधि है ।

समाधि का लक्षण उत्तम रूप से समझ कर याद रखना चाहिये । नहीं तो योग का कुछ भी हृदयंगम नहीं होगा । समाधि के विषय में श्रुति है—'**शान्तो यान्त उपरत-स्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा, आत्मन्येवात्मानं पश्यति ।**' बृह० उप० । '**नाविरतो दुश्चरि-तान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।**' कठ ।। समाधि के द्वारा ही जो आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि के बिना वह नहीं होता है, इस श्रुति के द्वारा ही यह उक्त हुआ है । समाधि को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार या परमार्थसिद्धि नहीं होती हैं, यह पहिले भी बारंबार दिखाया गया है ।

यहाँ शंका हो सकती है कि समाधि यदि आत्मविस्मृति सा ध्यान है तो मैंपन के या अस्मि के ध्यान में समाधि कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि 'मैं जान रहा हूँ', 'मैं जान रहा हूँ' ऐसी वृत्ति जब रहती है तब एकतान प्रत्यय या समाधि नहीं होती है, पर सदृश वृत्तिरूप धारणा होती है। एकतानता होने पर 'जान रहा हूँ....' इस प्रकार जानने की धारा-मात्र रहती है। इस प्रकार के जानने की एकतानता में (मैंपन जिसके अन्तर्गत है) समाधि हो सकती है। उसमें केवल जानने का निर्भास होता है; परन्तु भाषा में 'मैं अपने को जान रहा था' ऐसा वाक्य कहना होगा। निज को जब तक स्मरण कर लाना पड़ता है तब तक स्वरूप शून्य के समान एकतान प्रत्यय नहीं होता है। स्मृति का उपस्थान सिद्ध (सहज) होने पर एकतान आत्मस्मृतिरूप ध्यान स्वरूप शून्य के समान (सम्पूर्ण स्वरूप शून्य नहीं) होता है।

भाष्यम्—तदेतद्धारणा-ध्यान-समाधित्रयमेकत्र संयमः—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एक विषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते, तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद—ये धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ही एकत्र संयम होकर कहे जाते हैं—

४। तीनों का एक ही विषय पर एकत्र होने से संयम है ॥ सू०

एक विषयक तीनों साधनों को संयम कहते हैं। इन तीनों की शास्त्रीय परिभाषा संयम (१) है।

टीका—४। (१) समाधि कहने से ही धारणा तथा ध्यान ऊह्य रहते हैं, अतः समाधि को ही संयम कहना चाहिए, धारणा और ध्यान का उल्लेख निष्प्रयोजन है, ऐसी शंका हो सकती है। इस पर यही कहना है कि—

संयम ध्येय विषय के ज्ञान तथा उसके वशीकरण के उपाय-रूप से कथित होता है। उसमें एक ही विषय अथवा ध्येय विषय की एक दिशा लेकर ही समाहित होने से कार्य सिद्धि नहीं होती है, परन्तु नाना दिशाओं में ध्येय विषय के नाना भाव की धारणा करनी पड़ती है और फिर समाहित होना पड़ता है। एक संयम में बहुत बार धारणा-ध्यान-समाधि हो सकती हैं, अतः वे तीनों साधन ही संयम नाम से परिभाषित हुए हैं। अतएव भाष्यकार ने ३।१६ सूत्र के भाष्य में कहा है **'तेन (संयमेन) परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणम्'** इत्यादि। साक्षात्क्रियमाण अभिप्राय है, बारंबार धारणा-ध्यान-समाधि का प्रयोग कर साक्षात्कार करना।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥५॥

भाष्यम्—तस्य संयमस्य जयात् समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥५॥

५—संयम से ज्ञालोक होता है। सू०

भाष्यानुवाद—संयम-जय से समाधिप्रज्ञा का आलोक (१) होता है। संयम में जितनी स्थिरता होती है, उतनी ही समाधिप्रज्ञा विशारदी (निर्मल) होती है।

टीका ५—(१) निम्नोच्च-भूमि के क्रम से संयम का प्रयोग करने पर समाधिप्रज्ञा का उत्कर्ष होता है। अर्थात् क्रमानुसार जितने सूक्ष्मतर विषय में संयम से किया जाता है, उतनी ही प्रज्ञा निर्मल होती रहती है। तत्वविषयक समाधिप्रज्ञा के विषय में पहिले (प्रथम पाद में) उक्त हुआ है। इस पाद में संयम प्रयोग के द्वारा अन्यान्य विषय का जैसे ज्ञान होता है और जैसे अव्याहत शक्ति का लाभ होता है वही प्रधानतः कथित होगा।

समाधि के द्वारा अलौकिक ज्ञान तथा शक्ति का लाभ होता है। ज्ञानशक्ति को यदि केवल एक ही विषय पर निवेशित किया जाय और अन्य विषय का ज्ञान उस समय सम्यक् न रहे तो उस विषय का सम्यक् ज्ञान होगा, यह निःसन्देह है। क्षण-क्षण नाना विषयों में विवरण करने से ज्ञानशक्ति स्पन्दित होती है, अतएव किसी विषय का सम्यक् ज्ञान नहीं होता है।

विशेषतः समाधि में ज्ञान शक्ति के साथ विषय का अत्यन्त सन्निकर्ष रहता है। क्योंकि, समाधि में ज्ञानशक्ति ज्ञेय से पृथक् प्रतीति नहीं होती (समाधि-लक्षण देखिए)। ज्ञान और ज्ञेय की अपृथक् प्रतीति ही अत्यन्त संनिकर्ष है। समाधि-द्वारा कैसे अलौकिक ज्ञान तथा शक्ति होती है, यह परिशिष्ट में देखिए।

प्रज्ञालोक का अर्थ है सम्प्रज्ञातरूप प्रज्ञा का आलोक, भुवन-ज्ञानादि नहीं। ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य विषयक जो तात्विक प्रज्ञा या समापत्ति है और कैवल्य का सोपान है। मुख्य भाव से प्रज्ञालोक नाम से उसी को कहा गया है। कैवल्य के अन्तराय स्वरूप अन्य सूक्ष्मव्यवहितादि ज्ञान प्रज्ञा नाम से संचित नहीं होता।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥

भाष्यम्—तस्य संयमस्य जितभूमेयनिन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः, न ह्याजिताऽधर-भूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते, तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः। ईश्वर प्रसादात् (ईश्वरप्रणिधानात्) जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः, कस्मात्, तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः, कथम्, एवमुक्तम् "योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते। योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्" इति ॥६॥

६—भूमियों में उसका (संयम का) विनियोग (करना चाहिये) । सू०

भाष्यानुवाद—उसका = संयम का । जितभूमि की जो परभूमि है उसी में विनियोग करणीय है (१) । जिन्होंने निम्नभूमि को नहीं जीता वे परवर्त्ती भूमियों को लाँघकर (एकबारगी) प्रांतभूमियों में संयमलाभ नहीं कर सकते हैं, उसके अभाव में उनको प्रज्ञा-लोक कैसे हो सकता है ? ईश्वरप्रसाद से (वा प्रणिधान से) । (२) जिन्होंने उत्तरभूमि को जीत लिया है उनको परचित्तादि ज्ञान-रूपा निम्नभूमियों में संयम करना युक्त नहीं है, क्योंकि (निम्नभूमि की जय से साध्य) जो उत्तर भूमि की जय है उसकी प्राप्ति अन्य से (ईश्वर या अन्य किसी प्रकार से) होती है । 'यह इस भूमि की परवर्त्ती भूमि है' इस विषय का ज्ञान योग द्वारा ही होता है । कैसे होता है, वह इस वाक्य में कहा गया है 'योग के द्वारा योग ज्ञेय है, योग से ही योग प्रवर्त्तित होता है, जो योग में अप्रमत्त रहते हैं वे ही योग में चिरकाल रमण करते हैं ।'

टीका ६ —(१) सम्प्रज्ञात योग की पहली भूमि ग्राह्य-समापत्ति है, दूसरी भूमि ग्रहण-समापत्ति, तीसरी भूमि गृहीतृ-समापत्ति और प्राँतभूमि विवेकख्याति है। एक के बाद एक निम्नभूमियों को जीतकर प्रांतभूमि में पहुँचना चाहिये । सहसा प्रान्तभूमि में नहीं पहुँचा जाता । ईश्वरप्रसाद (या प्रणिधान) से प्रांतभूमि की प्रज्ञा होने से अधर भूमि की प्रज्ञा अनायास ही उत्पन्न हो सकती है ।

६—(२) 'ईश्वरप्रसादात्' तथा 'ईश्वर प्रणिधानात्' ये दो प्रकार के पाठ हैं, दोनों का एक ही अर्थ है । ईश्वर-प्रणिधान से ईश्वरप्रसाद होता है, उससे उत्तराधर-भूमि-निरपेक्ष सिद्धि हो सकती है । शंका हो सकती है कि ईश्वर तो सदा ही प्रसन्न हैं, उनका फिर प्रसाद कैसे होगा ?—उत्तर म यही कहना है कि ईश्वर प्रणिधान प्राप्त करने में आत्मा के अन्दर ईश्वर की भावना करनी पड़ती है, उससे प्रत्येक देही में जो अनागत प्राप्त रहती है, वह प्रसन्न या अभिव्यक्त होती रहती है । उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति ही कैवल्य है । अतः इस प्रकार की ईश्वरता के प्रसाद से भूमिजयरूप क्रमनिरपेक्ष सिद्धि हो सकती है । पत्थर में जैसे सब प्रकार की मूर्तियाँ निहित हैं हमारे चित्त में भी वैसे ही अनागत ईश्वरता रहती है जो ईश्वरचित्त के समान है । उसकी भावना करना ही ईश्वर-भावना है । उसके आत्मगत होने पर भी वर्त्तमान अवस्था में वह हम लोगों के मध्यस्थ अन्य एक पुरुष हैं ऐसी धारणा होती है । वैसे भाव की प्रसन्नता ही ईश्वरप्रसाद है ।

त्रयमन्तरङ्गम्पूर्वेभ्यः ॥७॥

भाष्यम्—तदेतद् धारणा-ध्यान-समाधित्रयम् अन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिसाधनेभ्य इति ॥७॥

७—ये तीन पहिले साधनों से अंतरङ्ग हैं । सू०

भाष्यानुवाद—धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन पहले कहे हुए यमादि साधनों की अपेक्षा संप्रज्ञात योग के अन्तरंग हैं (१)।

टीका ७—(१) संप्रज्ञात योग के ही धारणा, ध्यान तथा समाधि अन्तरंग हैं, क्योंकि समाधि-द्वारा तत्वसमूहों का स्फुट ज्ञान होकर एकाग्रस्वभाव चित्त-द्वारा उस ज्ञान के रक्षित रहने से ही उसे संप्रज्ञान कहते हैं।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

भाष्यम्— तदपि अन्तरङ्गं साधनत्रयं, निर्बीजस्य योगस्य वहिरङ्गं, कस्मात् तदभावे भावादिति ॥ ८ ॥

८। वह भी निर्बीज वहिरङ्ग है ॥ सू०

भाष्यानुवाद—वह भी अर्थात् अंतरंग साधनत्रय भी निर्बीज योग का वहिरंग है; क्योंकि उसके (साधनत्रय के) अभाव से भी निर्बीज सिद्ध होता है। (१)।

टीका—८। (१) धारणा आदि असंप्रज्ञात योग का वहिरंग होते हैं। उसका अंतरंग केवल परवैराग्य है। पहले कहा गया है कि समाधि का लक्षण असंप्रज्ञात समाधि में प्रयोज्य नहीं है। कारण, असम्प्रज्ञात समाधि है अ (नञ्)+सम्प्रज्ञात समाधि; अर्थात् संप्रज्ञात का भी अभाव या निरोध। वृत्तिनिरोध के पक्ष में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों ही योग या समाधि हैं, पर सवीज समाधि के पक्ष में—असंप्रज्ञात = अ-वहिरंग समाधि या ध्येयार्थमात्र-निर्भास का भी निरोध है।

भाष्यम्— अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ६ ॥

व्युत्थान संस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः, निरोध-संस्कारा अपि चित्तधर्माः। तयोरभिभवप्रादुर्भावौ व्युत्थान संस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते; निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोध-परिणामः। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोध समाधौ व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

भाष्यानुवाद—गुणवृत्त चल या परिणामी हैं; (चित्त भी गुणवृत्त है) अतः सब निरोध क्षणों में चित्त का कैसा परिणाम होता है?—

९। व्युत्थान संस्कार का अभिभव और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होकर प्रत्यक निरोधक्षण में एक अभिन्न चित्त से अन्वित (जो परिणाम होता है वही) चित्त का निरोध परिणाम है (१) ॥ सू०

समस्त व्युत्थान संस्कार चित्त धर्म हैं, वे प्रत्ययोपादानक नहीं होते हैं, प्रत्यय के निरोध से वे निरुद्ध (लीन) नहीं होते। सब निरोध संस्कार भी चित्त-धर्म हैं। उनके अभिभव और प्रादुर्भाव का अर्थ है व्युत्थान संस्कारों का क्षीण होना और निरोध संस्कारों का संचित होना। निरोधावसर स्वरूप चित्त में परिणाम अन्वित रहता है। एक ही चित्त का प्रतिक्षण इस प्रकार के संस्कार का अन्यथात्व निरोध परिणाम है। उस समय 'चित्त संस्कार शेष होता है' यह निरोध समाधि में व्याख्यात हुआ है (१।१८ सूत्र)।

टीका--९। (१) परिणाम का अर्थ है अवस्थांतर होना या अन्यथात्व। व्युत्थान से निरोध होना एक प्रकार का अन्यथात्व या परिणाम है। निरोध एक प्रकार का चित्तधर्म है। चित्त त्रिगुणात्मक होता है। त्रिगुणवृत्ति सदा ही परिणामशील है। अतः निरोध भी परिणामशील होगा। परन्तु निरोध का स्फुट परिणाम अनुभूत नहीं होता है। उसका वह परिणाम कैसा है, यही सूत्रकार बतला रहे हैं।

एक ही धर्मी के एक धर्म का उदय और अन्य धर्म का लय ही धर्म परिणाम है। निरोध परिणाम में निरोधक्षणयुक्त चित्त ही धर्मी है और उसमें व्युत्थान या संप्रज्ञात के संस्काररूप चित्तधर्म का क्षय तथा निरोधसंस्काररूप चित्तधर्म की वृद्धि होती रहती हैं। ये दो धर्म उस निरोधक्षणात्मक चित्तरूप धर्मी में अन्वित रहते हैं, जैसे कि पिंडत्व धर्म तथा घटत्वधर्म एक मृत्तिका धर्मी में अन्वित रहते हैं।

निरोध क्षण का मतलब निरोधावसर है अर्थात् जब तक चित्त निरुद्ध रहता है तब तक जो लेशशून्य-सी चित्तावस्था होती है, उस चित्तावस्था में कोई परिणाम लक्षित न होने से भी उसमें परिणाम रहता है, क्योंकि निरोधसंस्कार बढ़ता हुआ देखा जाता है और उसका भंग भी होता है।

निरोध का अभ्यास करने पर ही जब निरोध-संस्कार बढ़ता है तब वह अवश्य ही व्युत्थान को अभिभूत कर बढ़ता है। वस्तुतः उसमें अभिभव-प्रादुर्भाव में संघर्ष होता है, इस लिये वह भी (अपरिदृष्ट) परिणाम है।

व्युत्थान उठता है व्युत्थान संस्कार के द्वारा; अतः व्युत्थान न उठ सकने का अर्थ है व्युत्थान संस्कार का अभिभव। निरोध संस्कारशेष या संस्कार मात्र होता है, प्रत्ययमात्र नहीं। अतः वह संघर्ष संस्कार-संस्कार में होता है। अतएव सूत्रकार ने संस्कार के अभिभव-प्रादुर्भाव दो प्रकार कहे हैं। संस्कार-संस्कार में संघर्ष होने के कारण वह अलक्ष्य होता है या प्रत्यय स्वरूप नहीं होता है अर्थात् विराम की चेष्टा का संस्कार व्युत्थान के संस्कार को उस समय अभिभूत कर रखता है। प्रत्यय स्वरूप न होने पर भी अर्थात् स्फुट ज्ञानगोचर न होने पर भी वह परिणाम है। ठीक वैसे ही जैसे एक कमानी के ऊपर एक गुरु भार रखने से कमानी नहीं उठती, परन्तु उसका अभिभव और भार का प्रादुर्भाव रूप जो संघर्ष चलता है वह जाना जाता है।

ये द्विविध संस्कार के अभिभव-प्रादुर्भाव रूप परिणाम किसको होते हैं? उत्तर--

उस समय के चित्त को होते हैं। उस समय का चित्त कैसा होता है? उत्तर--निरोध क्षण स्वरूप। विवर्द्धमान परिणाम्यमान निरोध का परिणाम ऐसा है। शंका हो सकती है कि यदि निरोध समाधि परिणामी है, तो कैवल्य भी परिणामी होगा--किन्तु ऐसा नहीं है। विवर्द्धमान निरोध में चित्त का परिणाम रहता है, कैवल्य में चित्त अपने कारण में लीन होता है, अतः उसमें चैत्तिक परिणाम नहीं होता। निरोध जब क्रमशः बढ़ते हुए सम्पूर्ण हो जाता है, व्युत्थान संस्कार जब समाप्त हो जाता है, तब निरोध का विवृद्धिरूप परिणाम (अथवा व्युत्थान द्वारा भंगुर परिणाम) समाप्त होने पर चित्त विलीन होता है। अतएव सूत्रकार ने आगे कैवल्य को **'परिणामक्रमसमाप्तिगुणानाम्'** (४।३२) कहा है। जब तक चित्त है तब तक गुणवृत्ति या विकार भी है। परिणाम शेष होने पर या कृतार्थता हो जाने पर गुणवृत्ति नहीं रहती है, चित्त उस समय गुण स्वरूप में रहता है अर्थात् अव्यक्त में विलीन होता है। निरोध शेष होने पर निरोध संस्कार भी लीन हो जाता है। भोजराज ने दृष्टांत दिया है कि--जिस प्रकार सीसक मिश्रित सोने को जलाने से वह सीसा स्वयं भी जल जाता है तथा सोने के मल को भी जला देता है, निरोध भी उसी प्रकार होता है। उपरिकथित कमानी तथा भार के दृष्टांत में यदि कमानी को तपाकर उसके स्थितिस्थापकता-संस्कार को नष्ट कर दिया जाय तो जैसे अभिभव-प्रादुर्भाव संघर्ष समाप्त हो जाता है, कैवल्य भी वैसे ही है।

भाष्यस्थ पद की व्याख्या—व्युत्थान संस्कार यहाँ पर संप्रज्ञातज संस्कार है। संस्कार प्रत्ययस्वरूप नहीं है परन्तु वह प्रत्यय की सूक्ष्म स्थितिशील अवस्था है। संस्कार जिस जाति का है, उस जाति का प्रत्यय निरुद्ध रहने से ही संस्कार निरुद्ध होता हो यह बात नहीं। बालकपन में बहुत-से प्रत्यय निरुद्ध रहते हैं परन्तु संस्कार नहीं जाता है। उसी संस्कार से जवानी में उसी प्रकार का प्रत्यय होता हुआ देखा जाता है। राग के समय में क्रोध-प्रत्यय निरुद्ध रहने के कारण क्रोध-संस्कार छूट गया, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः संस्कार, संस्कार के द्वारा ही निरुद्ध होता है अर्थात् व्युत्थान संस्कार, निरोध संस्कार से ही निरुद्ध होता है। क्रोध-संस्कार (क्रोध प्रत्यय उठने का संस्कार) अक्रोध संस्कार (क्रोधनिरोध का संस्कार) से ही निरुद्ध होता है।

व्युत्थान संस्कार का नाश तथा निरोध संस्कार का उपचय—प्रतिक्षण चित्त-रूप धर्मी के धर्म की ऐसी भिन्नता ही निरोध-परिणाम है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

भाष्यम्—निरोधसंस्काराभ्निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति, तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयत इति ॥१०॥

१०। उस निरोधावस्था-प्राप्त चित्त के संस्कार से प्रशांतवाहिता (१) सिद्ध होती है ॥ सू०

भाष्यानुवाद—निरोध संस्कार से अर्थात् निरोध संस्कार के अभ्यास में पटुता से चित्त में प्रशान्तवाहिता होती है। यदि यह निरोध संस्कार मन्द होता है तो व्युत्थान संस्कार द्वारा निरोध संस्कार अभिभूत होता है।

टीका—१०। (१) प्रशांतवाहिता=प्रशांत भाव से वहनशीलता। प्रशांत भाव का अर्थ है प्रत्ययहीनता या जिस भाव में परिणाम लक्षित नहीं होता, निरोधकालीन अवस्था ही चित्त का प्रशान्त भाव है। संस्कार बल से उसका प्रवाह ही प्रशांतवाहिता हो जाता है। एक पहाड़ी नदी यदि एक प्रपात (Cascade) के बाद कुछ दूर तक सम्पूर्ण समतल भूमि के ऊपर से बहती हुई फिर गिरे, तो वह समतलवाही अंश जैसे वेगशून्य प्रशांत ज्ञात होता है, निरोधप्रवाह भी वैसे ही प्रशांतवाही होता है। प्रशांति=वृत्ति का सम्यक् निरोध।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणामः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सर्वार्थता चित्तधर्मः, एकाग्रता चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयः तिरोभाव इत्यर्थः, एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः, तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्। तदिदं चित्तमपायोपजननयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

११। सर्वार्थता का क्षय तथा एकाग्रता का उदय चित्त की समाधि परिणाम हैं ॥ सू०

भाष्यानुवाद—सर्वार्थता (१) चित्तधर्म है, एकाग्रता भी सर्वार्थता का क्षय अर्थात् तिरोभाव, एकाग्रता का उदय अर्थात् आविर्भाव। चित्त इन दोनों के धर्मिरूप से अनुगत है। सर्वार्थता और एकाग्रता रूप स्वात्मभूत (स्वकार्य स्वरूप) धर्मों के यथाक्रम क्षय-काल में और उदय काल में अनुगत होकर ही चित्त समाहित होता है। उसे चित्त का समाधिपरिणाम कहा जाता है।

टीका—११। (१) सर्वार्थता—अनुक्षण सर्वविषयग्राहिता या विक्षिप्तता। चित्त जो सदा ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ग्रहण किया करता है एवं अतीत-अनागत चिंतन में लगा रहता है वही सर्वार्थता या सर्वविषयाभिमुखता है। "ता" (तल्+आप्) प्रत्यय भाव या स्वभाव वाचक है। सहजतः सर्व विषयों के ग्रहण करने में प्रस्तुत-भाव-रूप धर्म ही सर्वार्थता है।

वैसे ही एकाग्रता भी एक विषय में स्थितिशीलता है अर्थात् सहज ही एक विषय में लगा हुआ रहना। सर्वार्थता धर्म का क्षय या अभिभव तथा एकाग्रता धर्म का उदय या प्रादुर्भाव अर्थात् विवर्द्धनशील परिणाम ही चित्तधर्मी का समाधि परिणाम है। समाधि के अभ्यास से चित्त इस रूप में परिणत होता है।

निरोध परिणाम केवल संस्कार का क्षयोदय है। समाधिपरिणाम संस्कार तथा प्रत्यय दोनों ही का क्षयोदय है सर्वार्थता का संस्कार तथा तज्जनित प्रत्यय क्षय एवं

एकाग्रता का संस्कार तथा तन्मूलक एकप्रत्ययता का उपचय, यही भाव समाधिपरिणाम है ।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्तः, उत्तरस्तत्सदृश उदितः । समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैव आसमाधिभ्रेषादिति । स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

१२ । समाधि काल म जो एकाकार अतीत-प्रत्यय तथा वर्त्तमान-प्रत्यय होते रहते हैं वे चित्त के एकाग्रता परिणाम हैं ॥ सू०

भाष्यानुवाद—समाहित चित्त का पूर्व-प्रत्यय शांत (अतीत), और उसके समान उत्तर प्रत्यय उदित (वर्तमान) (१) होते हैं । समाधि-चित्त उन दोनों भावों के अनुगत हैं, और समाधिभंग पर्यंत उसी प्रकार से ही (शांतोदित तुल्य प्रत्यय अर्थात् धारावाही रूप से एकाग्र) रहते हैं । यही चित्त रूप धर्मी के एकाग्रता परिणाम हैं ।

टीका—१२ । (१) समाधिकाल में शांत प्रत्यय और उदित प्रत्यय एक समान होते हैं । उस प्रकार की सदृश प्रवाहिता ही समाधि है । समाधि काल के बीच में जो समानाकार पूर्व तथा परवृत्ति के लयोदय होते रहते हैं । वे ही एकाग्रता परिणाम हैं । सूत्र में 'ततः' शब्द का अर्थ है 'समाधि में' ।

एकाग्रता परिणाम केवल प्रत्यय के लयोदय हैं । मान लो कि कोई योगी छः घंटे तक समाहित हो सकता है । उन छः घंटे में उसकी एक ही प्रकार की प्रत्यय या वृत्ति थी, उस समय पूर्व वृत्ति जैसी थी परवर्त्ती वृत्ति भी वैसी ही थी । इस प्रकार की सदृश-प्रवाहिता का नाम **एकाग्रता परिणाम** है । तदनु वही योगी जब सम्प्रज्ञातभूमि में आरूढ़ होगा, तब उसका एकाग्रभूमिक चित्त होगा । अतएव वह सदा ही चित को समापन्न करने का साधन करने लगेगा । तब उसका चित सर्व-विषय-ग्राहक धर्म त्याग कर सदा ही एक विषय में आलीन-भाव को धारण करने लगेगा (समापत्ति का यही अर्थ है) । यही चित्त का समाधि परिणाम है ।

और वही योगी संप्रज्ञात योग क्रम से विवेकख्याति प्राप्तकर वैराग्य-द्वारा चित्त को कुछ काल तक जब सम्यक् निरुद्ध कर सकेगा; और उसके बाद उस निरोध को अभ्यास-क्रम से जब बढ़ाने लगेगा तब उनके चित्त का **निरोध परिणाम** होगा ।

एकाग्रता परिणाम समाधिमात्र में होता है, समाधिपरिणाम संप्रज्ञातयोग में और निरोध परिणाम असंप्रज्ञात योग में । एकाग्रता परिणाम प्रत्ययरूप चित्तधर्म का, समाधिपरिणाम प्रत्यय तथा संस्काररूप चित्तधर्म का (**'तज्जस्संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' यह १।५० सूत्र द्रष्टव्य**), और निरोधपरिणाम केवल संस्कार का होता है । एकाग्रता परि-

णाम समाधि होने से ही (विक्षिप्तादि भूमि में भी) होता है, समाधिपरिणाम एकाग्र-भूमि में होता है और निरोधपरिणाम निरोधभूमि में होता है।

परिणाम के ये भेद विवेचन के योग्य हैं। कैवल्ययोग के संबंध में आये हुए परिणाम ही दिखाये गये हैं। विदेहलयादि में भी निरोधादि परिणाम होते हैं परन्तु वे परिणाम-क्रम-समाप्ति के हेतु नहीं होते।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

भाष्यम्—एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण, भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थाननिरोधयो-र्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः।

लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः, स खल्वनागतलक्षण-मध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्त्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नो यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः, एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा, न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः। तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं, वर्तमानं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्, एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा, न चानागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम्। एवं पुनर्व्युत्थानमुप-सम्पद्यमानमनागतं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्त्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नं, यत्रास्य स्वरू-पाभिव्यक्ते। सत्यां व्यापारः, एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा, न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्या वियुक्तमिति। एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति।

तथाऽवस्थापरिणामः—तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति, एवं धर्माणामवस्थापरिणामः। तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामः, धर्माणां लक्षणैः परिणामः, लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति। एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलं च गुणवृत्तम्, गुणस्वाभाव्यन्तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति। एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः, परमार्थतस्त्वेक एवं परिणामः। धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मः, धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्चयत इति। तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्त्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागत वर्त्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न द्रव्यान्यथात्वं, यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति। अपर आह—धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्, पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येन विपरिवर्त्तेत यद्यन्वयी स्यादिति। अयमदोषः, कस्माद्, एकान्तानभ्युपगमात्। तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, कस्मात्, नित्यत्वप्रतिषधात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्त्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्त्तमानाभ्यां लक्ष-णाभ्यामवियुक्तः, तथानागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्त्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथा

वर्त्तमानो वर्त्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति । यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति ।

अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसङ्करः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति, तस्य परिहारः—धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यं, सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यः, न वर्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम्, एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति । किञ्च, त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेदिति । उक्तं च "रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते" तस्मादसङ्करः । यथा रागस्यैव क्वचित् समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः, किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः, तथा लक्षणस्येति । न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वानः, ते लक्षिता अलक्षिताश्च तान्तामवस्थाम्प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः, यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दश एकं चैकस्थाने, यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति ।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः कथम्, अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वाद् यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदाऽनागतः, यदा करोति तदा वर्त्तमानः, यदा कृत्वा निवृत्तस्तदाऽतीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोषउच्यते । नासौ दोषः, कस्मात्, गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् । यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां विनाश्यविनाशिनाम्, एवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनांगुणानां विनाश्यविनाशिनां, तस्मिन् विकारसंज्ञेति ।

तत्रेदमुदाहरणं मृद्धर्मी पिण्डाकाराद् धर्माद् धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति । घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्त्तमान लक्षणं प्रतिपद्यते, इति लक्षणतः परिणमते । घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति । धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था, धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्था इत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति । एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति । एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ताः । इत्येक एव परिणामः सर्वानमून् विशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परिणामः ?—अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः ॥ १३ ॥

१३ । इससे भूतों तथा इन्द्रियों के धर्म, लक्षण और अवस्था नामक परिणाम व्याख्यात हुए ।

भाष्यानुवाद—इससे अर्थात् पूर्वोक्त (१) धर्म, लक्षण और अवस्था नामक चित्त-परिणाम से; भूतेन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम कहे गये हैं यह जानना चाहिये (२)। उनमें व्युत्थानधर्म का अभिभव तथा निरोधधर्म का प्रादुर्भाव (चित्तरूप) धर्मी के धर्मपरिणाम हैं ।

लक्षण परिणाम,—निरोध तीन लक्षण अर्थात् तीन अध्वा (काल) द्वारा युक्त हैं । वह (निरोध) अनागतलक्षण प्रथम अध्वा को छोड़कर धर्मत्व का अतिक्रमण न कर (अर्थात् निरोध-धर्म को रखते हुए ही), जो वर्त्तमान लक्षण-संपन्न होता है—जिससे उसकी स्वरूप में अभिव्यक्ति होती है—वही निरोध का दूसरा अध्वा है । तब वह वर्त्तमान लक्षण-युक्त निरोध (सामान्यरूप से स्थित) अतीत और अनागत लक्षणों से भी वियुक्त नहीं

होता है। उसी प्रकार व्युत्थान भी त्रिलक्षण या तीन अध्वाओं से युक्त है। वह वर्त्तमान अध्वा को छोड़कर, धर्मत्व का अतिक्रम न कर अतीत लक्षणसम्पन्न होता है। यही इसकी (व्युत्थान की) तीसरी अध्वा है। तब यह (सामान्यरूप से स्थित) अनागत और वर्त्तमान लक्षण से वियुक्त नहीं होता है। इस प्रकार से जन्मते हुए व्युत्थान भी अनागत लक्षण को छोड़कर, धर्मत्व का अतिक्रम न कर वर्त्तमान लक्षणापन्न होता है, इस दशा में इसकी स्वरूपाभिव्यक्ति होने से व्यापार (कार्य) देखा जाता है। यही इसकी (व्युत्थान की) दूसरी अध्वा है और यह अतीत तथा अनागत लक्षण से भी वियुक्त नहीं होता है। निरोध भी ऐसा ही है, और व्युत्थान भी।

अवस्थापरिणाम—निरोधक्षणों में निरोधसंस्कार बलवान् होते हैं, व्युत्थान संस्कारसमूह दुर्बल होते हैं। यह धर्मों का अवस्थापरिणाम है। इनमें धर्मी का धर्मों-द्वारा परिणाम होता है; धर्म का लक्षणत्रय-द्वारा परिणाम होता है; लक्षणों का अवस्थासमूह-द्वारा परिणाम होता है (३) इस प्रकार से धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन तीनों परिणामों से शून्य होकर गुण-वृत्त क्षण काल भी अवस्थान नहीं कर सकता है। गुणवृत्त या गुणकार्यसमूह चल अर्थात् नित्यप्रति परिवर्त्तनशील हैं। गुणों का स्वभाव ही (४) गुणों की प्रवृत्ति का (कार्यरूप में परिणाम्यमानता के) कारण कहा गया है। अतएव भूतेन्द्रियों में धर्मधर्मिभेद के आश्रय-द्वारा तीन प्रकार के परिणाम जाने जाते हैं; किन्तु परमार्थतः (धर्मधर्मी के अभेद आश्रय-द्वारा) एक ही परिणाम है। (क्योंकि) धर्म धर्मी का स्वरूपमात्र होता है, और धर्मी का यह परिणाम धर्म (एवं लक्षण तथा अवस्था) द्वारा प्रपंचित होता है (५) धर्मी में वर्त्तमान जो धर्म है, जो अतीत अनागत या वर्त्तमान रूप में अवस्थित रहता है उसके भाव का अन्यथात्व (अर्थात् संस्थानभेदादि अन्य धर्मोदय) होता है पर द्रव्य का अन्यथात्व नहीं होता। जैसे कि सोने का बर्तन तोड़कर उसे अन्यरूप करने से केवल भाव का अन्यथात्व (भिन्न आकार का धर्मोदय) होता है, पर सोने का अन्यथात्व नहीं होता है। कुछ लोगों का कहना है कि "पूर्वतत्त्व (धर्मी) के अनतिक्रम हेतु से अर्थात् स्वभाव को अतिक्रम न करने के कारण धर्मी धर्म से अतिरिक्त नहीं है (अर्थात् धर्म और धर्मी एकान्त अभिन्न हैं)"—यदि धर्मी धर्मान्वयी (सब धर्म में एक ही भाव से अवस्थित) हों, तो वह (धर्मी) पूर्व तथा पर अवस्था का भेदानुपाती होकर अर्थात् समस्त भेदों में एक रूप से रहकर कूटस्थ (नित्य अधिकार भाव में अवस्थित) रहेगा (६) (इस प्रकार से धर्मी का कौटस्थ्य प्रसंग होने के कारण हमारा मत सदोष है—ऐसे वे दोषारोपण करते हैं)। (किन्तु ऐसा नहीं है) हमारे मत अदोष हैं, क्योंकि द्रव्य की एकान्त नित्यता या कूटस्थता का हमारे मत में उपदेश नहीं किया गया है (हमारे मत में) इस त्रैलोक्य (कार्य-कारणात्मक बुद्ध्यादि पदार्थ) का व्यक्तावस्था (वर्तमान या अर्थक्रियाकारी अवस्था) से अपगम होता है (अर्थात् अतीत या लयावस्था की प्राप्ति होती है) क्योंकि उसकी अविकारनित्यता का प्रतिषेध (हमारे मत में) है, तथा अपगत या लीन होकर भी वह रहता है, क्योंकि उसका (त्रैलोक्य) एकांत विनाश प्रतिषिद्ध है। संसर्ग (अपने कारण में लय पाने) से उसकी सूक्ष्मता है एवं सूक्ष्मता के कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती है।

लक्षणपरिणाम धर्म तीनों अध्वाओं (कालत्रय) में अवस्थान करता है। (कारण

यह है कि जो) अतीत या अतीत लक्षणयुक्त है, वह अनागत तथा वर्त्तमान लक्षण से अवियुक्त है। वैसे ही जो अनागत या अनागत लक्षणयुक्त है वह वर्त्तमान तथा अतीत लक्षण से अवियुक्त है। जो वर्त्तमान है वह वर्त्तमान लक्षणयुक्त है पर अतीतानागत लक्षण से अवियुक्त है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कोई पुरुष किसी एक स्त्री में अनुरक्त होने से दूसरी स्त्रियों में विरक्त नहीं होता है।

'सबके सब लक्षणयोग के हेतु से अध्वसंकर की प्राप्ति होगी' लक्षणपरिणाम के बारे में यह दोष अपरवादियों द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है (७) उसका परिहार यह है —सारे धर्मों का धर्मत्व (धर्मी से व्यतिरिक्तता अर्थात् विकारशील गुणत्व तथा अभिभव-प्रादुर्भाव पहले साधे हुए होने के कारण यहाँ पर) असाधनीय हैं, और धर्मत्व सिद्ध होने पर लक्षणभेद भी वाच्य है। क्योंकि (वर्त्तमान समय में) अभिव्यक्त (रहना ही) इसका धर्मत्व नहीं होता है। ऐसा होने से (वर्त्तमान-अभिव्यक्ति ही धर्मत्व होने से) चित्त क्रोध-काल में राग-धर्मक नहीं होगा; क्योंकि उस समय राग अभिव्यक्त नहीं रहता है। तथा त्रिविध लक्षणों का एक साथ एक व्यक्ति में होना संभव नहीं है, परन्तु क्रमानुसार अपने व्यंजक के द्वारा (निज अभिव्यक्ति के कारण-द्वारा) अंजन (अभिव्यक्त) का भाव होता है। इस विषय पर कहा भी है, 'बुद्धि के रूप (धर्मज्ञानादि आठ) और वृत्ति (शांतादि) का अतिशय या उत्कर्ष होने पर वे आपस में (विपरीत अन्य रूप या वृत्ति के साथ) विरुद्धाचरण करते हैं; तथा सामान्य (रूप या वृत्ति) अतिशय के साथ प्रवर्त्तित होता है' (२।१५ सूत्र देखिए)। अतएव अध्वसांकर्य नहीं होता है। जैसे किसी विषय पर राग का समुदाचार अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्त भाव रहने पर उस समय अन्य विषय में रागाभाव नहीं होता है, किन्तु केवल सामान्य रूप से उसमें राग रहा करता है। अतएव वहाँ (जहाँ राग अभिव्यक्त है वहाँ से अतिरिक्त स्थान में) राग का भाव है। लक्षण भी ऐसे ही हैं। धर्मी तो त्र्यध्वा नहीं होता है पर धर्मसमूह ही त्र्यध्वा हैं। लक्षित (व्यक्त; वर्त्तमान) अथवा अलक्षित (अव्यक्त; अतीत और अनागत) ये सब धर्म भिन्न अवस्था को प्राप्त कर भिन्नता से निर्दिष्ट होते हैं, केवल अवस्था भेद ही से ऐसा होता है, द्रव्यभेद से नहीं। ठीक वैसे ही जैसे एक रेखा सौ के स्थान में सौ, दस के स्थान में दस, एक के स्थान में एक, इस प्रकार से व्यवहृत होती है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं जैसे कि बँगला में एक रेखा या संख्या दो विंदुओं से पहिले रहने से सौ प्रकट करती है। और एक विंदु से पहिले रहने से दस और, अकेली होने से एक; और जैसे स्त्री एक ही होने पर भी वह संबंधानुसार माँ, बेटी तथा बहिन बोली जाती है, वैसे ही ये धर्म भी।

अवस्थापरिणाम में (८) कुछ व्यक्ति कौटस्थ्य-प्रसंग दोष का आरोप करते हैं—'अध्वा' के व्यापार-द्वारा व्यवहित या अन्तर्हित रहने के कारण जब धर्म अपना व्यापार नहीं करता है, तब वह अनागत है; जब व्यापार या क्रिया करता है तब वर्त्तमान है; और जब व्यापार कर निवृत्त होता है तब अतीत है; इसी से (त्रिकाल ही में सत्ता रहने के कारण) धर्म तथा धर्मी का और लक्षण तथा अवस्थाओं का कौटस्थ्य सिद्ध होता है इस प्रकार के दोष को परपक्ष वादी कहते हैं। यह दोष नहीं है, क्योंकि गुणी की नित्यता रहने से भी गुणों का विमर्दजनित (=परस्पर अभिभाव्य-अभिभावकत्व जनित), (कूट-

स्थता से) वैलक्षण्य के कारण (कौटस्थ्य सिद्ध नहीं होता है)। यथा—अविनाशी (भूत की अपेक्षा से) शब्दादि तन्मात्र का विनाशी, आदिमत्, धर्ममात्र (पंचभूतरूप) संस्थान है; ऐसे ही अविनाशी सत्त्वादि गुणों का लिंग (महत्तत्त्व) आदिमत्, विनाशी धर्ममात्र है। उसी में (धर्म ही में) विकार संज्ञा है।

परिणाम के विषय में यह (लौकिक) उदाहरण है :—मृत्तिका धर्मी है, वह पिंडाकार धर्म से अन्य धर्म प्राप्त कर "घटाकार" धर्म में परिणत होती है (अर्थात् घट रूप बनना ही उसका धर्म परिणाम होता है)। घटाकर अनागत लक्षण त्याग कर वर्त्तमान लक्षण को प्राप्त करता है; यह लक्षणपरिणाम है। घट प्रतिक्षण नवत्व तथा पुराणत्व अनुभव करता हुआ अवस्थापरिणाम प्राप्त करता है। धर्मी का भी धर्मान्तर अवस्थाभेद है, धर्म का भी लक्षणान्तर अवस्थाभेद है; अतः यह एक ही अवस्थांतरता रूप द्रव्य-परिणाम तीन भागों में दिखाया गया है। इसी प्रकार (परिणाम-विचार) पदार्थान्तर में भी योज्य है। ये धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणाम (त्रिविध होने से भी) धर्मी के स्वरूप का अतिक्रम नहीं करते हैं (अर्थात् परिणत होने पर भी धर्मी के स्वरूप से भिन्न कोई द्रव्य नहीं होते, पर नित्यप्रति धर्मी के स्वरूप में अनुगत रहते हैं) इस कारण (परमार्थतः) धर्मरूप एक ही परिणाम है; और वह अन्य विषयों को (धर्म, लक्षण तथा अवस्था को) व्याप्त करता है अर्थात् उक्त तीनों प्रकार का परिणाम एक ही धर्म परिणाम में सन्निहित होते हैं। यह परिणाम क्या है ?—अवस्थित द्रव्य के पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर अन्य धर्म की उत्पत्ति ही परिणाम है (६)।

टीका—१३। (१) पहले जो योगिचित्त के निरोधादि तीन परिणाम बताये गये हैं वे ही धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणाम नहीं हैं। निरोधादि जिस प्रकार परिणाम हैं, भूतेन्द्रियों में भी उसी प्रकार के परिणाम हैं। यही 'एतेन' शब्द-द्वारा कहा गया है। निरोधादि प्रत्येक परिणाम में धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम हैं, यही भाष्यकार ने विवृत किया है।

१३। (२) परिणाम या अन्यथाभाव तीन प्रकार होता है—धर्म, लक्षण तथा अवस्था-सम्बन्धी। अर्थात् इन तीन प्रकारों से हम किसी द्रव्य का भिन्नत्व समझते और कहते हैं। एक धर्म का क्षय और अन्य धर्म का उदय होने से जो भेद देखा जाता है, वही धर्म परिणाम कहाता है। जैसे व्युत्थान का लय तथा निरोध का उदय होने पर हम कहते हैं कि चित्त का धर्मपरिणाम हुआ।

तीन काल का नाम लक्षण है। काल भेद से जो भिन्नता हम समझते हैं वह लक्षण-परिणाम है। जैसे कहते हैं कि व्युत्थान था, अब नहीं है अथवा निरोध था, अब है अथवा निरोध रहेगा। अतीत, अनागत और वर्त्तमान इन तीन लक्षणों से लक्षित कर द्रव्य का जो भेद समझा जाता है वही लक्षणपरिणाम है।

फिर लक्षणपरिणाम में भी भेद करते है; वहाँ धर्मभेद या लक्षणभेद की विवक्षा नहीं रहती है, जैसे, एक ही हीरा नया और कुछ काल के बाद पुराना बोला जाता है। यहाँ पर एक ही वर्त्तमान लक्षण पुरातन और नूतन भाव से भेद प्राप्त करता है। हीरा के धर्मभेद की भी यहाँ विवक्षा नहीं है। [३। १५ (१) देखिए।] अन्य उदाहरण भी है—निरोधकाल

में निरोधसंस्कार बलवान् । और व्युत्थान संस्कार दुर्बल रहता है। वर्त्तमान-लक्षणक निरोध तथा व्युत्थान-धर्म को यहाँ 'दुर्बल एवं बलवान्' इस पदार्थ-द्वारा भिन्न प्रदर्शित किया गया है । बलवान् एवं दुर्बल पद के द्वारा यहाँ धर्मभेद की विवक्षा नहीं है यह समझना चाहिये । इनमें धर्मपरिणाम ही वास्तव है, अन्य दोनों परिणाम वैकल्पिक हैं। व्यवहार में उनकी आवश्यकता रहने के कारण यहाँ गृहीत हुए हैं। कारण, सूत्रकार इससे अतीतानागत ज्ञान की भूमिका बना रहे हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह (संयम-द्वारा साक्षात् की जाने वाली वस्तु) नयी है या पुरानी, इत्यादि ।

१३ । (३) धर्मी का परिणाम धर्म के अन्यथात्व द्वारा अनुभूत होता है । धर्मों का परिणाम लक्षण के अन्यथात्व-द्वारा कल्पित होता है। अतएव भाष्यकार ने लक्षणपरिणाम के व्याख्यान में कहा है कि 'धर्म के अनतिक्रम पूर्वक' अर्थात् वे लक्षणपरिणाम एक ही धर्म की कालावस्थिति के अन्यत्व हैं इसलिए उनमें धर्म का अन्यथात्व नहीं होता है। जैसे एकही नीलत्व धर्म था, है और रहेगा; इन तीनों भेदों से एक ही नीलत्व केवल भिन्नरूप में कल्पित होता है।

लक्षण का परिणाम अवस्थाभेद-द्वारा कल्पित होता है। उसमें लक्षण का अन्यथात्व नहीं होता है; अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान इनका एक ही लक्षण अवस्थाभेद से भिन्न भिन्न रूपों में कल्पित होता है । जैसे निरोधक्षण में निरोध संस्कार भी है तथा व्युत्थान संस्कार भी; परन्तु व्युत्थान की तुलना में निरोध बलवान् है अतः भिन्न माना जाता है।

वर्त्तमान लक्षणक भावपदार्थ अतीत और अनागत से वियुक्त नहीं हैं। कारण, वही अनागत था और वही अतीत होगा इस प्रकार का व्यवहार होता है । वास्तव में अतीत और अनागत भाव है केवल सामान्य रूप में रहना । उसमें पदार्थ का स्वरूप अनभिव्यक्त रहता है । वर्त्तमान लक्षणक पदार्थ की ही स्वरूपाभिव्यक्ति होती है अर्थात् अर्थ या विषय रूप से क्रिया-कारिणी अवस्था की अभिव्यक्ति होती है। स्वरूप = विषयीभूत तथा क्रिया-कारी रूप ।

१३ । (४) गुण का स्वभाव ही परिणामशीलता है । रज ही क्रियाशील भाव है। क्रियाशील ही परिणामशील है। स्वभावतः सब दृश्य पदार्थों में जो क्रियाशीलता देखी जाती है, सर्वसाधारण में उस क्रियाशीलता का नाम रज है। क्रियाशीलता का हेतु नहीं हैं; वही दृश्य का अन्यतम मूलस्वभाव है। (जगत का कारण रूप) त्रिगुण-निर्देश का अर्थ है उस प्रकार के स्वभाव का निर्देश । शंका होती है कि यदि स्वभाव ही से गुण प्रवर्त्तनशील है तो चित्तकी निवृत्ति असंभव है। ऐसा नहीं होता । गुण का स्वभाव से परिणाम होता है यह सत्य है, किन्तु बुद्धि आदि संघात या गुण-वृत्ति की संहत्यकारिता गुणस्वभावमात्र से नहीं होती । वह पुरुष के उपदर्शन की अपेक्षा करती है। उपदर्शन का हेतु संयोग, संयोग का हेतु अविद्या है । अविद्या निवृत्त होने पर उपदर्शन निवृत्त होता है। बुद्ध्यादिरूप संघात भी उसी में लीन होता है । उस समय दृश्य और पुरुष-द्वारा दृष्ट नहीं होते हैं।

१३। (५) मूलतः धर्मसमष्टि ही धर्मी का स्वरूप है। आगामी सूत्र में सूत्रकार ने धर्मी का लक्षण दिया है । भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान धर्म के अनुपाती पदार्थ को उन्होंने

धर्मी कहा है। व्यवहारिक दृष्टि में धर्म और धर्मी को भिन्नवत् व्यवहार किया जाता है। परन्तु मौलिक दृष्टि में (गुणत्व अवस्था में) जहाँ अतीत, अनागत नहीं हैं वहाँ धर्म और धर्मी एकही रूप से निर्णीत होते हैं। अर्थात् उस समय त्रिगुणभाव में धर्म और धर्मी एकही होते हैं। मूलतः विक्रियामात्र है। व्यवहारतः उस विक्रिया के कुछ अंशों को (जो हमारे गोचर होते हैं, केवल उन्हीं को) हम वर्त्तमान धर्म कहते हैं, अन्य अंश को अतीत-अनागत कहते हैं। उन अतीत-अनागत तथा वर्त्तमान धर्म समुदाय के साधारण आश्रमरूप में अभि-कल्पित पदार्थ को हम धर्मी कहते हैं। व्यवहार दृष्टि छोड़कर यदि समस्त दृश्यों को प्रकाश-शील, क्रियाशील तथा स्थितिशीलरूप से देखा जाय, तो अतीत-अनागत कुछ नहीं रहते हैं। परन्तु वह अव्यक्त अवस्था है अव्यक्त ही मूल धर्मी या धर्म है। [३।१५ (२) देखिए।] व्यक्ति में प्रकाशशीलता आदि गुणों का तारतम्य रहता है। ये असंख्य तारतम्य ही असंख्य धर्म हैं अतएव भाष्यकार ने कहा है कि धर्म धर्मी का स्वरूपमात्र है। और धर्मी की विक्रिया धर्म-द्वारा ही प्रपंचित या विस्तृत होती है अर्थात् धर्मी की विक्रिया ही अतीत-अनागत-वर्त्तमान धर्म-प्रपंच से प्रतीत होती है। वास्तव में धर्मी की विक्रिया ही है, वही धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणामरूप से व्यवहृत होती है।

१३। (६) धर्म और धर्मी मूलतः एक हैं पर व्यवहारतः भिन्न हैं, क्योंकि व्यवहार-दृष्टि तथा तत्त्वदृष्टि भिन्न हैं। उस भिन्नता को आश्रय करके ही धर्म और धर्मी ये भिन्न पदार्थ स्थापित हुए हैं। व्यवहारतः धर्म और धर्मी अभिन्न कहने से समस्त धर्म-मूलशून्य होते हैं या मूलतः अभाव हैं। सत् पदार्थ जो मूलतः असत ह यह सर्वथा अन्याय्य है। यदि कहा जाय कि घटरूप धर्म समष्टि ही है उसके अतिरिक्त धर्मी नहीं है, तो घट चूर्ण होने पर कहना चाहिये कि घटत्वधर्म समूह का अभाव हो गया और चूर्णत्वधर्म उस अभाव से उदित हुआ। यह असत्कारणवाद है। बौद्ध लोग इसी वाद को लेकर सांख्य से अपनों को पृथक् मानते हैं। सत्कार्यवाद में घटत्व मृत्तिकारूप धर्मी का धर्म है; चूर्णत्व भी मृत्तिका का धर्म है। घट के नाश का अर्थ है घटत्व धर्म का अभिभव और चूर्णत्व का प्रादुर्भाव। एक ही मृत्तिका के ये विभिन्न धर्म हैं, क्योंकि घट में भी मृत्तिका रहती है तथा चूर्ण में भी। अतः व्यवहारतः मृत्तिका को धर्मी और घटत्व आदि को धर्म नाम देकर भेद करने के सिवाय और उपाय नहीं है। तत्त्वदृष्टि क्रम से सामान्यधर्म से यथाक्रम चरमसामान्य धर्म में पहुँचने पर केवल सत्त्व, रज तथा तम ये तीन गुण रहते हैं। वहाँ धर्मधर्मी में प्रभेद करने का उपाय नहीं है। वे अभाव नहीं हैं एवं स्वरूपतः—व्यक्त भी नहीं हैं अतः सत् तथा अव्यक्त हैं। परमार्थ दृष्टि से इस प्रकार धर्म तथा धर्मी एक ही होते हैं। अतः तीनों गुण phenomena भी नहीं हैं और noumena भी नहीं हैं और इन पदों के द्वारा समझा जानेवाला पदार्थ भी नहीं होता है।

व्यवहार-दृष्टि में अतीत और अनागत धर्म अवश्य ही रहेंगे अतः समस्त व्यव-हारिक भाव को एकाएक वर्त्तमान या गोचर कहने से वाक्य-विरोध होता है। धर्म व्यव-हारिक भाव है अतः उसे अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान इस प्रकार से त्रिविध कहना ही चाहिये। वर्त्तमान धर्म ज्ञानगोचर होता है, अतीत तथा अनागत गोचर न होने पर भी रहते हैं। वे जिस भाव में रहते हैं वही धर्मी कहा जाता है। अतीत और अनागत सब मौलिक धर्म भी 'हैं' या 'वर्त्तमान हैं।" ऐसा कहने से वे 'सूक्ष्म रूप से' या 'मौलिक रूप से'

था 'अव्यक्त त्रिगुण रूप से हैं,' इस प्रकार कहना चाहिए। सांख्य ठीक यही कहते हैं। व्यवहारतः धर्मसमूह अतीत, अनागत और वर्त्तमान ऐसे भेदों से भिन्न हैं एवं धर्मी में समाहृत हैं; और तत्त्वतः वे अर्थात् गुण तथा गुणी अभिन्न और अव्यक्तस्वरूप हैं, यही सांख्यमत है।

पूर्वोक्त मतानुसार बौद्ध लोग आपत्ति करते हैं कि धर्म और धर्मी यदि भिन्न हैं तो समस्त धर्म ही परिणामी होंगे (क्योंकि उसी प्रकार वे देखे जाते हैं) और धर्मी कूटस्थ होगा, अर्थात् परिणाम धर्म में ही वर्त्तमान रहेगा, अतः धर्मी अपरिणामी होगा। सांख्य एकांत पक्ष में (सम्पूर्ण रूप से) धर्म और धर्मी का भेद स्वीकार नहीं करते हैं अतः यह आपत्ति निःसार है। व्यवहार में सचमुच एक धर्म ही अन्य का धर्मी होता है (आगामी १५वें सूत्र का भाष्य देखिए), जैसे सुवर्णत्व धर्म वलयत्व-हारत्व आदि धर्मों का धर्मी है, क्योंकि वह वलयत्व आदि अनेक धर्मों में एक सुवर्णत्वरूप से अनुगत है। इसी प्रकार से भूतों का धर्मी तन्मात्र, तन्मात्र का अहंकार, अहंकार का बुद्धि तथा बुद्धि का धर्मी प्रधान सिद्ध होता है। तन्मात्रत्व धर्म, भूतत्व धर्म का धर्मी है इत्यादि क्रम से एक धर्म में ही अन्य धर्म का आपेक्षिक धर्मित्व सिद्ध होता है।

धर्मसमूह भिन्न हैं यह बौद्ध लोग भी मानते हैं। अतः भूतों का धर्मिस्वरूप तन्मात्र-धर्म भूतधर्म से विभिन्न होगा। इस प्रकार व्यवहारतः धर्म तथा धर्मी में भेद है। एक परिणामी धर्मस्कन्ध ही जब अन्य धर्म का धर्मी है, तब धर्मी भी परिणामी होगा; उसके कौटस्थ्य की संभावना नहीं है।

अतएव बौद्धों की आपत्ति संगत नहीं है। पहले ही कहा गया है कि व्यवहारतः धर्म-धर्मी में भेद रहता है, पर मूलतः अभेद है। अतः सांख्य एकांत भेदवादी अथवा एकान्त अभेद-वादी नहीं हैं। बौद्ध लोग व्यवहार में भी धर्म-धर्मी का अभेद कर अन्याय्य शून्यवाद स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। उपादान कारण बौद्धमत में स्पष्टतः स्वीकृत नहीं होता, उसके समस्त कारण ही प्रत्यय या निमित्त होते हैं। वे एक साथ सारे संसार को रूपधर्म, वेदनाधर्म, संज्ञाधर्म, संस्कारधर्म तथा विज्ञानधर्म इन धर्मस्कन्धों में (समूहों में) विभक्त करते हैं। सभी जब धर्म हैं, तब धर्मी और क्या होगा? अतएव धर्म का मूल शून्य या अभाव है। रूप का मूल शून्य है, वेदना आदि प्रत्येक का मूल ही शून्य होता है। बौद्ध दर्शन में 'शून्यतावार' नाम से व्याख्यात होता है। उनमें (धर्मों में) कोई किसी का प्रत्यय है और कोई प्रतीत्य है।

वस्तुतः यह दृष्टि ठीक नहीं है। केवल हेतु से कुछ नहीं होता है, उपादान भी चाहिये। जो धर्म बहुत कार्यों में साधारण है वही उपादान है। यह जान पड़ता है कि रूप धर्मसमूह का उपादान भूतादि नामक अस्मिता है। वेदनादि का भी उपादान तैजस अस्मिता है; अस्मिता का उपादान बुद्धि सत्त्व और बुद्धि का उपादान प्रधान है। प्रधान अमूल भाव पदार्थ है। भाव-उपादान ही से भाव बनता है। अतएव मूल भाव प्रधान से ही समस्त भाव बन सकते हैं।

बौद्धों की इस धर्मदृष्टि से धर्म का निरोध या निर्वाण युक्तितः सिद्ध नहीं होता है। पहले ही शंका होती है कि यदि धर्मसन्तान स्वभावतः चल रहे हैं, तो उनका निरोध कैसे होगा? उत्तर में बौद्ध लोग कहते हैं कि धर्मसन्तान में प्रत्यय तथा प्रतीत्य देखे जाते हैं, बिना

हेतु के कुछ नहीं बनता है। हेतु का निरोध करने पर प्रतीत्य भी (हेतु से उत्पन्न पदार्थ भी) निरुद्ध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद में चक्राकार से यही हेतु-प्रतीत्य-शृङ्खला दिखाई जाती है, जैसे अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन (नामरूप—नाम का अर्थ है शब्द द्वारा मानस ज्ञान, रूप का अर्थ है बाह्य ज्ञान, षडायतन = पाँचों इन्द्रिय और मन), उससे स्पर्श (बाहर की इन्द्रियों का ज्ञान), उससे वेदना, उससे तृष्णा, तृष्णा से उपादान उससे भव, भव से जाति, जाति से दुःखादि। अविद्या निरुद्ध होने पर अनुलोम क्रम से संस्कार-निरोध होने से विज्ञान निरुद्ध होता है, इत्यादि। बौद्ध कहते हैं जब हम देखतें हैं कि ऐसे सभी निरुद्ध हो जाते हैं तब मूल शून्य है। इसमें तनिक भी युक्ति नहीं है। अगर अविद्या अपने आप निष्प्रत्यय ही निरुद्ध होती, तो वह सत्य होता। किन्तु अविद्यानिरोध का भी प्रत्यय आवश्यक है। विद्या ही वह प्रत्यय है। अतएव अविद्या सन्तान निरुद्ध होने पर विद्यासंतान रहेगा, यही युक्तियुक्त मत है। एक प्रकार के बौद्ध (शुद्ध-संतानवादी) हैं वे भावस्वरूप निर्वाण स्वीकार करते हैं। शून्यवादी का पक्ष सर्वथा अयुक्त है।

पानी से भाप बनती है, भाप से बादल, बादल से वर्षा, वर्षा से फिर पानी इत्यादि कार्य-कारण की परम्परा देखकर यदि यह कहा जाय कि बिना पानी के भाप नहीं रहेगी, भाप न रहने से बादल नहीं रहेगा, बादल के बिना वर्षा न रहेगी, बिना वर्षा के पानी नहीं होगा। अतः पानी की जड़ शून्य है। यह जिस प्रकार अयुक्त है, उसी प्रकार ऊपर कहा हुआ शून्यवाद भी। इसके अतिरिक्त बौद्ध लोग निर्वाण को भी धर्म कहते हैं। अतः 'शून्य' धर्म विशेष होता है, अभाव नहीं। फलतः परिदृश्यमान धर्मस्कन्ध का मूल भी "अभाव" नहीं है। अथवा धर्मों को अमूल कहने पर 'उनका अभाव होगा' इस प्रकार का मत स्वीकार्य नहीं है।

उस अमूल 'धर्म' को या मूल 'धर्मी' को सांख्य शास्त्री त्रिगुण कहते हैं। वह विकारशील है परन्तु नित्य है। व्यक्तावस्था में उसकी उपलब्धि होती है। वह सदा से ही सत् है, उसे अभाव कहना नितांत युक्ति-हीन चिन्तन है। भाष्यकार ने युक्ति और उदाहरण के साथ यह दिखाया है। त्रैलोक्य या व्यक्त विश्व विक्रयमाण होकर (यथायथरूप से विलोम-क्रम द्वारा) अव्यक्तता प्राप्त करता है। अव्यक्तता या कारण में लीन भाव भी एक प्रकार से विकार की अवस्था है। व्यक्तता भी एक प्रकार से विकार की अवस्था है। व्यक्ततारूप तथा अव्यक्तता रूप विकार का मौलिक विभाग इस प्रकार है। यथा—
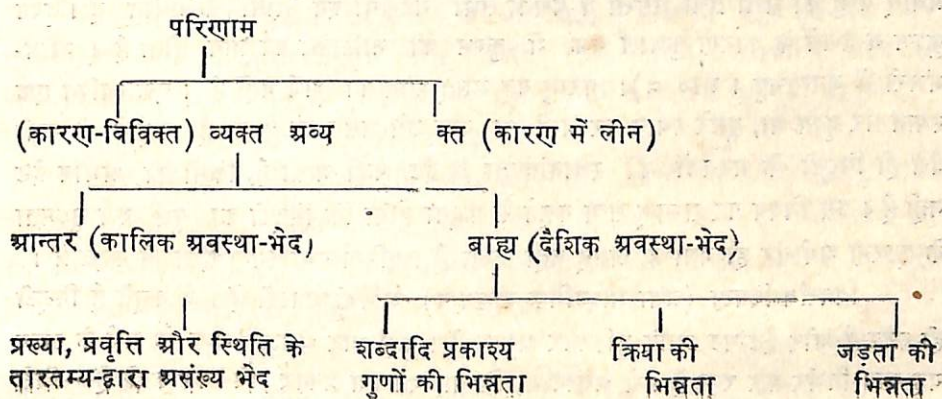
फलतः अव्यक्त भाव में भी विश्व रहता है। अतएव सांख्य में अत्यंतनाश स्वीकृत नहीं होता। अव्यक्तता में सूक्ष्मता के कारण किसी की भी उपलब्धि नहीं होती। सूक्ष्मता का अर्थ है संसर्ग या कारण के साथ अविविक्त (अतः दर्शन के अयोग्य) होकर रहना। ठीक वैसे ही जैसे कि घट का अवयव पिंड में संपिंडित रहने के कारण लक्षित नहीं होता है, परन्तु विशेष हेतु से वह अवयव यथास्थान स्थापित होने पर ही घट व्यक्त होता है। अथवा जैसे मांस का एक टुकड़ा मिट्टी आदि में परिणत होने से अलक्ष्य हो जाता है। बुद्ध्यादि भी वैसे ही त्रिगुण म लीन होते हैं। मिट्टी में परिणत होने से मांस का जिस प्रकार प्रातिस्विक परिणाम नहीं रहता है, परन्तु मिट्टी का परिणाम रहता है, बुद्ध्यादि का लय होने पर वैसे ही बुद्धि परिणाम आदि नहीं रहते किन्तु गुणपरिणाम या शक्तिभूत परिणाममात्र रहता है। [४।३३ (३) देखिये।]

बौद्धों के धर्म-वाद के अतिरिक्त आर्षदर्शन में कार्य-कारण-भाव का तत्त्व समझाने के लिये तीन प्रधान वाद हैं,—(१) आरंभवाद, (२) विवर्त्तवाद तथा (३) सत्कार्यवाद या परिणामवाद। तार्किकगण आरंभवादी, मायावादिगण विवर्त्तवादी और सांख्यादि अन्य सब दार्शनिक गण परिणामवादी होते हैं। मिट्टी के एक गोला से एक ईंट बन गयी, तो आरंभवादी इसमें कहते हैं कि ईंट पहिले असत थी अब सत् हुई, बाद में भी (नाश होने पर भी) असत् होगी। केवल शब्दमय वागाडम्बर द्वारा ये इस वाद के स्थापन करने की चेष्टा करते हैं। परिणाम वादिगण कहते हैं:—मृत्तिका ही परिणत होकर या भिन्न आकार धारण कर ईंट बन गयी, पिंडाकार मृत्तिका भी सत् है तथा ईंट भी। आरंभवादि गण कहते हैं—पहले जब ईंट नहीं देख रहे थे, बाद में नहीं देखेंगे, तब ये पूर्व और पर अवस्था असत् है। परिणामवादिगण उत्तर देते हैं:—जब पहले भी मिट्टी देख रहे थे, अब भी देख रहे हैं, बाद में भी देखेंगे तब भेद तो केवल आकार का है, परन्तु मिट्टी का वजन्, उसकी आकारधारण योग्यता आदि समान-भाव में सत् है। इस सत्य को अस्वीकृत करने का उपाय नहीं है। आरंभवादी कह सकते हैं कि हमारा कहना भी सत्य है। दोनों ही कथन यदि सत्य हैं तो भेद कहाँ है? भेद केवल 'सत्' शब्द का अर्थमात्र है।

तार्किकगण न देखने को ही या काल्पनिक गुणाभाव को ही 'असत्' कह रहे हैं यथा—**'दर्शनादर्शनाधीने सदसत्वे हि वस्तुनः। दृश्यस्यादर्शनात्तेन चक्रे कुम्भस्य नास्तिता।'** अर्थात् वस्तु की सत्ता तथा असत्ता ये देखना तथा नदेखना इन दोनों के अधीन हैं। दृश्य कुम्भ न देखने के कारण कुलाल चक्र में कुम्भ की नास्तिता का ज्ञान होता है (न्यायमंजरी में जयन्तभट्ट। आ० ८)। परन्तु यह असत् शब्द का अर्थ नहीं है। एक व्यक्ति एक स्थान पर दृश्य था, दूसरे स्थान पर जाने से क्या उसे असत् या "नही है" कहोंगे ? कभी वैसे ही मिट्टी के अवयवों की स्थानांतरता ही ईंट कही जाती है, किसी का अभाव ईंट नहीं है। इस विषय पर सम्यक् सत्य कहने से कहना होगा कि मिट्टी का पूर्व रूप सूक्ष्मता के कारण अगोचर हो गया है, असत् नहीं हुआ है। परिणामवादिगण ऐसा ही कहते हैं।

विवर्त्तवादिगण (तथा माध्यमिक बौद्धगण) अनिर्वाच्यवादी हैं। वे कहते हैं मिट्टी ही सत्य है और ईंट-घट आदि मृद्विकार असत्य हैं। यहाँ पर असत्य शब्द के अर्थ के ऊपर यह वाद निर्भर कर रहा है। ये असत्य या मिथ्या का इस प्रकार निर्वचन करते हैं—जिसे

"है" या "नहीं है" नहीं कह सकते, उसे मिथ्या कहते हैं (भामती)। जैसे कि रज्जु में सर्प-भ्रांति होने पर उस समय सर्पज्ञान हो रहा है अतएव उसे सम्पूर्ण असत् नहीं कह सकते हैं फिर भ्रान्ति हट जाती है इसलिए सत् भी नहीं कह सकते हैं। ऐसे ही **'सदसद्भ्यामनिर्वाच्य'** पदार्थ ही को हम मिथ्या कहते हैं।

इसी प्रकार वे मिथ्या का लक्षण कहते हैं कि जो विकार है वह मिथ्या है और जिसका विकार है वह सत्य है। सत्य का अर्थ मिथ्या का विपरीत या जिसे एकांतपक्ष में 'है' कह सकते हैं, यही होगा। यदि पूछा जाय—'विकार जो बनता है' क्या यह सत्य है या मिथ्या'? अवश्य ही यही कहना होगा कि वह सत्य है, नहीं तो मिथ्या का लक्षण ही मिथ्या हो जायगा। अतः कहना चाहिए कि मिट्टी ईंट बनने पर विकार नामक एक सत्य घटना घटती है।

इस समय ये लोग कह सकते हैं 'मिट्टी ही सत्य है ईंट मिथ्या है' यह बात भी कुछ सत्य है। अन्यवादी कहेंगे कि मिट्टी के गोले का विकार होकर जो ईंटपरिणाम हुआ हैं वह भी बराबर सत्य है। अतएव सम्यक् सत्य कहने में कहना होगा कि ईंट माने विकृत मिट्टी। विकार का अर्थ विकृत द्रव्य भी है और विकाररूप घटना भी है। विकृत द्रव्य को मिट्टी कह सकतें हो पर विकाररूप घटना नहीं होती, यह नहीं कह सकते हो और उसी प्रकार यथार्थ घटना का फल भी यथार्थ नहीं है यह भी नहीं कह सकते हो। परिणामवादी यही कहते हैं। सत् का अर्थ 'है' असत् का अर्थ 'नहीं है'। 'यह है या नहीं है' इस प्रकार का प्रश्न होने पर यदि वह अनिर्वाच्य कहा जाय तो उसका अर्थ होगा 'है या नहीं है, यह ज्ञात नहीं'। इसीलिए विवर्त्तवादी को अज्ञेयवादी कहते हैं। उनके द्वारा सिद्धांत भी इस कारण दर्शन नहीं होता है, पर अ-दर्शन है। ये शब्द का अर्थ सत्य, वर्त्तमान तथा निर्विकार, तीन प्रकार से करते हैं और निर्विशेष में उसका व्यवहार करने के कारण न्यायदोष में फँसते हैं।

आरंभवादी और विवर्त्तवादियों को द्व्यर्थक शब्द-व्यवहार, वैकल्पिक शब्द को वास्तववत् व्यवहार, संकीर्ण लक्षण इत्यादि न्यायदोष करने पड़ते हैं; अधिकांश दार्शनिक इस मत को नहीं मानते, वे परिणामवाद स्वीकार है। आधुनिक विज्ञानजगत में भी परिणामवाद ही सम्यक् गृहीत होता है।

सत् और असत् शब्द का प्रकृत अर्थ 'है' और 'नहीं है', सांख्य यही अर्थ लेते हैं। बौद्ध लोग कहते हैं **'यत्सत्तदनित्यम् यथा घटादिः,** (धर्म कीर्त्ति), रत्नकीर्त्ति कहते हैं **'यत्सत्तत्क्षणिकम् यथा घटादिः'**—इसमें सत् का ऊह्य (implied) अर्थ 'अनित्य' या विकारशील है और असत् का अर्थ उसके विपरीत है।

मायावादिगण सत् का अर्थ 'निर्विकार' और 'सत्य' कहते हैं, असत् उसके विपरीत है। तार्किकों का सत् केवल गोचर मात्र है, असत् का अर्थ अगोचर है 'सत्' शब्द के इन सब अर्थ-भेदों को लेकर ही भिन्न भिन्न वादों की सृष्टि हुई है। सांख्यमत में **'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः'** (गीता) का भाव प्रगट है।

बौद्ध गण सत् शब्द का अर्थ अनित्य, विकारी या क्षणिक करते हैं एवं उसमें नित्य निर्विकार निर्वाण को वे असत्, अभाव और शून्य कहते हैं। इस प्रकार, अर्थात् सत् यदि

अनित्य हो तो असत् नित्य होगा, ऐसी विरुद्ध प्रतिज्ञा को सत्य मानना न्यायसंगत नहीं होता है। सांख्य शास्त्री कहते हैं कि सत् पदार्थ दो प्रकार का है—नित्य तथा अनित्य, क्योंकि सत् शब्द का प्रकृत अर्थ 'है' है। नित्य और अनित्य ये दो प्रकार के ही पदार्थ हैं इसलिये वे सत् हैं। मायावादिगण निर्विकार सत्ता ही को सत् कहते हैं, विकारी को "सत् या असत् यह नहीं जानते हैं" या अनिर्वाच्य कहते हैं। इस प्रकार का अर्थभेद ही इन सब दृष्टि-भेदों का मूल है तथा इसी के द्वारा सांख्यीय सहज प्रज्ञामूलक न्याय दृष्टि से बौद्धादि अपने को पृथक रखते हैं। परन्तु यह सब केवल शब्दमय वागाडम्बर है। उदाहरण के लिए—परिणामवादी कहते हैं—"हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा" अर्थात् कुंडल वलयादि द्रव्य स्वर्णरूप कारण से अभिन्न हैं और कार्यरूप से भिन्न हैं। इसमें (माध्यमिक बौद्ध और) विवर्त्तवादी आपत्ति करते हैं कि भेद और अभेद विरुद्ध पदार्थ हैं, वे एक ही कुंडल आदि में कैसे सहावस्थान करेंगे इत्यादि। भेद और अभेद 'पदार्थ' हो सकते हैं पर 'द्रव्य' नहीं, वस्तुतः कुंडलादि का सुवर्ण में एकत्व है पर आकार में भिन्नत्व है। गोल और चौकोर ये दो आकार जो एक ही भाव में एक क्षण में व्यक्त रहेंगे यह परिणामवादी नहीं कहते हैं। आकार केवल अवयव का अवस्थान भेद मात्र है। वह किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं है। फलतः यहाँ पर परिणाम वादियों के 'आकार भेद-शब्द को दबा कर, केवल भेद और अभेद शब्द स्थापनपूर्वक भेद और अभेद का सहावस्थान नहीं है इस प्रकार केवल न्यायाभास की ही सृष्टि की जाती है।

१३। (७) लक्षण परिणाम के सम्बन्ध में यह आपत्ति होती है कि यदि वर्त्तमान लक्षण अतीतानागत से वियुक्त नहीं हैं, तो तीनों लक्षण एक से हैं। अतः वर्त्तमान, अतीत और अनागत परस्पर संकीर्ण होंगे अर्थात् अध्वसंकर-दोष होगा। यह आपत्ति निःसार है। सचमुच अतीत और अनागत काल अवर्त्तमान पदार्थ हैं अतः काल्पनिक हैं। उस काल्पनिक काल के साथ कल्पनापूर्वक संबंधस्थापन करना ही अतीत और अनागत अध्वा है। वर्त्तमानता द्वारा ही यह संबंध जाना जाता है। जैसे यह घट था वैसे ही रहेगा। वर्त्तमान या अनुभवापन्न घट से कालिक संबन्ध स्थापन कर*हम पदार्थ का किसी प्रकार भेद समझते हैं। अतएव कहा जाता है कि अध्वासमूह परस्पर अवियुक्त हैं। नहीं तो एक ही व्यक्ति में (साक्षात् अनुभूयमान द्रव्य में) तीन अध्वाएँ हैं ऐसा कहना भ्रांति है। जो अवर्त्तमान है वही अतीत और अनागत काल हैं, उन्हें भी वर्त्तमान समझकर यह आपत्ति हुई है। प्रकृतपक्ष में, इस काल्पनिक काल के साथ "सम्बन्ध-स्थापना" ही (मनोवृत्तिमात्र) रहता है। अतीतानागत की सत्ता अनुमेय है, उसके साथ वर्त्तमान प्रत्यक्ष सत्ता का सांकर्य्य नहीं हो सकता है। 'अतीत तथा अनागत द्रव्य हैं।' ऐसा कहने से यही ज्ञात होता है कि जिसे हम काल्पनिक अतीत और अनागत काल के साथ संवद्ध कर 'नहीं है' इस प्रकार मानते हैं, वह भी वस्तुतः सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान द्रव्य है।

जो गोचरीभूत अवस्था है वही व्यक्तता है, उसे ही हम वर्त्तमानलक्षण से लक्षित

---

* 'मेरे (मृत) पिता जी थे' यहाँ पर अवर्त्तमान पदार्थ के साथ अतीत अध्वा का संयोग हुआ, यह शंका हो सकती है। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पर भी अनुभूयमान (वर्त्तमान) स्मृति के साथ अतीत अध्वा का योग होता है।

करते हैं। जो अव्यक्त है या सूक्ष्म है या साक्षात् ज्ञान के अयोग्य है उसे ही हम अतीतानागत (था या होगा) लक्षण से व्यवहार करते हैं। अतः एक ही व्यक्ति में तीन लक्षणों का आरोप करने की संभावना नहीं है। ऐसा मूर्ख कौन है जो स्वयं 'था, है तथा रहेगा' इन तीनों में भेद मानकर फिर उनको एक ही कहेगा ? धर्म व्यक्त न होने से भी वह जो रहता है, भाष्यकार ने यही दिखाया है। क्रोध-काल में चित्त क्रोधधर्मक होने पर भी उसमें उस समय राग नहीं रहता है। इस प्रकार कोई नहीं कह सकता है। क्षणभर में ही फिर उसमें रागधर्म आविर्भूत हो सकता है।

पंचशिखाचार्य के वचन का अर्थ है—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य (जिस इच्छा का सर्वतः व्याघात होता है ऐसी इच्छाशक्ति) ये आठों पदार्थ बुद्धि के रूप हैं ; और सुख, दुःख तथा मोह बुद्धि की वृत्ति या अवस्था हैं। यह वाक्य २।१५ सूत्र के व्याख्यान में विवृत हुआ है।

१३। (८) भाष्यकार यहाँ पर अवस्थापरिणाम की व्याख्या कर, उसमें दूसरे विचारक जो दोष दिखाते हैं उसका निरसन कर रहे हैं। दूषक कहते हैं, 'जब धर्म-धर्मी त्रिकाल ही में रहते हैं, तब धर्म, धर्मी, लक्षण और अवस्था सभी तुम्हारी चितिशक्ति के समान कूटस्थ हैं।" अर्थात् जिसे पुरातन अवस्था कहते हैं, वह सूक्ष्मरूप से है तथा रहेगी एवं नूतन भी वैसे ही थी तथा रहेगी। जो त्रिकालस्थायी है वही कूटस्थ नित्य है। अतः अवस्था भी कूटस्थ नित्य है।

इसका उत्तर यह है कि—नित्य होने से ही कोई कूटस्थ नहीं होता है, जो अपरिणामी नित्य है वही कूटस्थ होता है। विकारशील जगत् का उपादान कारण अवश्य ही विकारशील होगा। अतः स्वभावतः विकारशील एक प्रधान नामक कारण प्रदर्शित होता है। प्रधान नित्य होने पर भी विकारशील है। वह विकार-अवस्था ही धर्म या बुद्धि आदि व्यक्ति है। इस सब धर्मों का विमर्द या लयोदय रूप अकौटस्थ्य देख कर ही मूल कारण को परिणामि-नित्य कहते हैं।

विमर्द-वैचित्र्य शब्द का अर्थ दो प्रकार से हो सकता है। भिक्षु के मत में विमर्द या विनाशरूप वैचित्र्य या कौटस्थ्य से विलक्षणता है। अन्य अर्थ है विमर्द अर्थात् परस्पर की अभिभाव्य-अभिभावकता के कारण वैचित्र्य या नानात्व। गुणिनित्यत्व और गुण-विकार को भाष्यकार तात्त्विक तथा लौकिक उदाहरण-द्वारा दिखाये हैं। मूला प्रकृति ही नित्या है, अन्य प्रकृतियाँ विकृति की अपेक्षा नित्या हैं, जैसे घटत्व-पिंडत्व आदि की उपेक्षा मृत्तिकात्व है।

१३। (९) परिणाम के लक्षण को स्पष्ट करने के बाद भाष्यकार ने उपसंहार किया है; धर्मी का अवस्थान भेद ही परिणाम है। अर्थात् अवस्थित द्रव्य का पूर्व धर्म नहीं, किन्तु अन्य धर्म देखने पर उसे परिणाम कहते हैं। द्रव्य शब्द का विवरण ३। ४४ सूत्र का भाष्य में देखिए।

अवस्था भेद ही परिणाम है। यहाँ अवस्था-भेद का अर्थ पूर्वोक्त अवस्थापरिणाम न समझिए। उनमें वाह्य द्रव्य के अवयवों का यदि दैशिक अवस्थान भेद है, तो उसे परिणाम कहते हैं। शब्दादि गुण अवयव का कम्पन है; कम्पन का अर्थ देशान्तर-गति-विशेष। कम्पन के भेद में शब्दादि में भेद होता है; अतः शब्द रूपादि धर्म का अन्यथात्व देशान्तरिक अवस्था

हुआ। वाह्य द्रव्य का क्रिया परिणाम स्पष्ट ही देशांतरिक अवस्थान भेद है। कठिनता-कोमलतादि जड़ता का परिणाम भी अवयव का देशांतरिक अवस्थान भेद है। कठिन लोहा तापयोग से कोमल होता है, इसका आशय यह है कि—ताप नामक क्रिया-द्वारा उसके अवयवों में अवस्थान-भेद होता है।

आभ्यंतरिक द्रव्य का परिणाम भी उसी प्रकार कालिक अवस्थान भेद है। सब मनोवृत्तियाँ दैशिक-सत्ताहीन, कालव्यापी पदार्थ हैं। उनका परिणाम केवल कालिक लयोदय रूप है। अर्थात् एक काल में एक वृत्ति अन्य काल में और एक वृत्ति इस प्रकार अन्यथा-भाव स्वरूप होता है। अतएव दैशिक या कालिक अवस्था भेद ही परिणाम है।

भाष्यम्—तत्र—

शान्तोदिताव्यपदेशाधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः। स च फलप्रसवभेदानुमित सद्भाव एकस्याऽन्योऽन्यश्च परिदृष्टः। तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन् धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते, यदा तु सामान्येन समान्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात् कोऽसौ केन भिद्येत। तत्र त्रयः खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति, तत्र शान्ता मे कृत्वा व्यापारानुपरताः, सव्यापारा उदिताः, ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः, वर्तमानस्यानन्तराः अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः, पूर्वपश्चिमताया अभावात्। यथाऽनागत वर्त्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य, तस्मान्नातीतस्यास्ति समगनन्तरः, तदनागत एवं समानन्तरो भवति वर्त्तमानस्येति।

अथाव्यपदेश्याः के? सर्व सर्वात्मकमिति। यत्रोक्तं "जलभूम्योः परिणामिकं रसादि वैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु" इति, एवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति। देशकालाकार निमित्तापवन्धान्न खलु समानकालमात्मानमभिव्यक्ति रिति। य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषुधर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी।

यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः, कस्मात्, अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत् कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत; तत् स्मृत्यभावश्च, नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति। वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥ १४ ॥

भाष्यानुवाद — उनमें—

शांत, उदित तथा अव्यपदेश्य (शक्तिरूप से स्थित) इन त्रिविध के धर्मों का अनुपाती द्रव्य धर्मी है ॥

धर्मी की योग्यताविशिष्ट (योग्यता से विशेषित) शक्ति को ही धर्म (१) कहा जाता है। इस धर्म की सत्ता फलप्रसव भेद को ही (भिन्न-भिन्न कार्यजनन से) अनुमति होती

है। एक ही धर्मी के बहुत से धर्म भी देखे जाते हैं। उनमें (धर्मों में) व्यापारासत्व हेतु से वर्त्तमान धर्म, अतीत और अव्ययदेश्य इन धर्मातर से भिन्न है। परंतु जब धर्म (शांत और अव्यपदेश्य) अविशिष्ट भाव से धर्मी में अन्तर्हित रहते हैं, तब धर्मिस्वरूपमात्र से वह धर्म भिन्न भाव में कैसे उपलब्ध होगा? धर्मी का धर्म त्रिविधि है—शांत, उदित तथा अव्यपदेश्य। उनमें जो व्यापार करके उपरत हुए हैं, वे शांत धर्म हैं। व्यापारयुक्त धर्म उदित हैं; वे अनागत लक्षण के समानन्तर भूत (अर्थात् अव्यवहित परवर्ती) हैं। अतीत समस्त धर्म वर्त्तमान के समनन्तर भूत हैं। वर्त्तमान धर्म समूह अतीत के परवर्त्ती क्यों नहीं होते हैं? उनकी (अतीत की और वर्त्तमान की) पूर्वपरता के अभाव के कारण जिस प्रकार अनागत और वर्त्तमान की पूर्वपरता रहती है, अतीत और वर्त्तमान में उस प्रकार नहीं है। अतः अतीत के अनन्तर और कुछ नहीं है। (और) अनागत ही वर्त्तमान का पूर्व है।

अव्यपदेश्य धर्म क्या है?—सर्व सर्वात्मक होते हैं। इस विषय में कहा गया है, "जल और भूमि के पारिणामिक रसादि का वैश्वरूप्य (अर्थात् असंख्य प्रकार के भेद) वृक्ष आदि में देखा जाता है। उसी प्रकार वृक्ष आदि के असंख्य पारिणामिक भेद उद्भिज्ज-भोजी जन्तुओं में देखे जाते हैं। जन्तुओं में भी स्थावर परिणाम देखा जाता है।" इस प्रकार जाति के अनुच्छेद के कारण (अर्थात् जलत्व-भूमित्व जाति के सभी स्थानों पर प्रत्यभिज्ञान होने के कारण) सर्व वस्तुएँ सर्वात्मक होती हैं। देश, काल, आकार तथा निमित्त के अपबंध अर्थात् न रहने और इन चारों से नियमित होने के कारण भावों की समान काल में अभिव्यक्ति नहीं होती है। जो इन सब अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त धर्मों का अनुपाती सामान्य विशेषात्मक (शांत तथा अव्यपदेश्य = सामान्य; उदित = विशेष) है वह अन्वयी द्रव्य ही धर्मी है।

जिनके मत में यह चित्त केवल धर्ममात्र तथा निरन्वय (अर्थात् बहुत धर्मों में एक चित्त रूप द्रव्य सामान्य रूप से अन्वयी नहीं होता है) उनके मत में भोग नहीं सिद्ध होता है; क्योंकि अन्य एक विज्ञान-द्वारा कृत कर्म को अन्य एक विज्ञान कैसे भोक्तृभाव से अधिकार कर सकता है? उस कर्म की स्मृति का भी अभाव होता है; क्योंकि एक का दृष्ट विषय अन्य का स्मरण नहीं हो सकता है और प्रत्यभिज्ञान के कारण (अर्थात् 'यही वह है' या 'मृत्तिका पिंड ही घट बन गया है,' इस प्रकार अनुभव होने के कारण) अन्वयी धर्मी विद्यमान है; और वह धर्मान्यथात्व प्राप्त होकर प्रत्यभिज्ञात होता है ("यही वह वस्तु है" ऐसे अनुभूत होता है)। इसी कारण यह (जगत्) धर्म-मात्र तथा निरन्वय (धर्मिशून्य) नहीं है।

टीका—१४। (१) योग्यता अर्थात् क्रियादि द्वारा किसी एक प्रकार से बोध्य होने की योग्यता। अग्नि में दाहयोग्यता है। दाह जानकर अग्नि की दाहिका शक्ति का ज्ञान होता है। दाहिका शक्ति को अग्नि का धर्म कहते हैं। यह शक्ति दाह क्रिया का हेतु है। दाहिका शक्ति दाह क्रिया से अवच्छिन्न या विशेषित होती है। दहन है योग्यता; तथा दहन कारिणी (दहन से विशेषित) शक्ति ही अग्नि का एक धर्म है।

फलतः पदार्थ का बुद्ध भाव ही धर्म है। अर्थात हम जिससे किसी पदार्थ को जानते हैं,

यही उसका धर्म होता है। धर्म वास्तविक और वैकल्पिक या वाङ्मात्र दो प्रकार का है। जो वाक्य की सहायता के बिना भी बोधगम्य होता है। वह वास्तविक है। वास्तविक धर्म भी यथार्थ और आरोपित होता है। सूर्य की श्वेतता यथार्थ धर्म है, मरुभूमि में जलत्व आरोपित धर्म है।

वाक्य या पद ही के द्वारा जिसका बोध होता है और उनके अभाव से जिसका बोध नहीं होता, वह वैकल्पिक धर्म है, जैसे अनन्तत्व; घट का 'जलाहरणत्व' इत्यादि। जल-आहरणत्व हमारे व्यवहार के अनुसार कल्पित होता है। वास्तव में घटावयव तथा जलावयव इन दोनों का संयोग विशेष रहता है, और उन दोनों में एक स्थान से अन्य स्थान में गति-रूप वास्तविक धर्म रहता है। उसी को हम जलाहरणत्व' नाम देकर एवं एक धर्म रूप से कल्पना कर, व्यवहार करते हैं। घट नष्ट होने पर जलाहरणत्व भी नष्ट हो जाता है परन्तु उसमें किसी सत् का विनाश नहीं होता है, क्योंकि जलाहरणत्व केवल कथामात्र, अवास्तव पदार्थ है, वास्तव में घट के अवयव का और जल के अवयव का अवस्थान भेद रूप परिणाम होता है; किसी का अभाव नहीं होता है। जल तथा घटावयवों में पूर्ववत् नीयमानता भी रहती है। इस प्रकार अवास्तव उदाहरण का बल से अपरवादी सत्कार्यवाद को परास्त करने की चेष्टा करते हैं। अवास्तव सामान्य पदार्थ (mere abstractions) प्रभृति सभी उसी प्रकार के वैकल्पिक धर्म हैं।

वास्तविक धर्म समूह बाह्य और आभ्यंतर होते हैं। बाह्य धर्म मूलतः तीन प्रकार के हैं—प्रकाश्य, कार्य तथा जाड्य। शब्दादि गुण प्रकाश्य, सब प्रकार की क्रिया कार्य और काठिन्यादि धर्म जाड्य है। आभ्यंतर गुण भी मूलतः तीन प्रकार के हैं—प्रख्या, प्रवृत्ति तथा स्थिति या बोध, चेष्टा तथा धृति। इन सब वास्तव धर्मों का अवस्थांतर होता है परन्तु विनाश नहीं होता है। पाश्चात्य विज्ञान की (Conservation of energy) शक्ति संरक्षा का प्रकरण समझने से यह सम्यक् ज्ञानगम्य होगा। प्राचीन काल का सीधा उदाहरण आजकल उतना उपयोगी नहीं होता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि, जो किसी प्रकार से बोधगम्य होता है, ऐसे भाव को ही हम धर्म कहते हैं। बोधगम्य भाव में जो ज्ञायमान है वही उदित धर्म है, जो ज्ञायमान था वह अतीत धर्म, और जो भविष्य में ज्ञायमान होने योग्य है ऐसा प्रतीत होता है, वह अव्यपदेश्य धर्म है।

वर्त्तमान होकर जो निवृत्ति हुआ है, वह शांत धर्म होता है। जो व्यापार में आरूढ़ या अनुभूयमान धर्म है, वह उदित धर्म है। और जो हो सकता है एवं कभी वर्त्तमानता प्राप्त न होने के कारण व्यपदेश के या विशेषित करने के अयोग्य है वही अव्यपदेश्य धर्म होता है।

वर्त्तमान धर्म धर्मी में विशिष्टरूप से प्रतीत होता है परन्तु शांत तथा अव्यपदेश्य धर्म धर्मी में अविशिष्टभाव से अन्तर्गत रहने के कारण पृथक् अनुभूत नहीं होते हैं। उनकी सत्ता अनुमान-द्वारा निश्चित होती है।

अतीत तथा अव्यपदेश्य धर्म (किसी एक धर्मी के) असंख्य हो सकते हैं, क्योंकि

समस्त द्रव्यों में मूलगत एकत्व रहता है, अतएव समस्त द्रव्य ही परिणत होकर समस्त प्रकार के हो सकते हैं।

इस प्रकार धर्म-धर्मि-दृष्टि सांख्यदर्शन की मौलिक प्रणाली है। बौद्ध आदि इस दर्शन के प्रतियोगियों ने अन्य जिन सब दृष्टियों की उद्भावना की है उनकी अयुक्तता यहाँ दिखाई जा रही है। सांख्य परिणामवादी या सत् कार्यवादी हैं, बौद्ध असत्कारणवादी हैं, और मायावादिगण असत् कार्यवादी हैं आरंभवादी तार्किकगण भी असत्कार्यवादी कहे जाते हैं। उनके मत में कार्य पहिले असत्, बीच में सत्, बाद में असत् है। मायावादियों में बहुत से अपनों को अनिर्वाच्य असत्त्ववादी या विवर्त्तवादी बोलते हैं। किन्तु कई (जैसे कि प्रकाशानन्द जी) एकवारगी ही विकार का असत्ता वाद ग्रहण करने के कारण प्रकृत असत् कार्यवादी होते हैं। अनिर्वाच्य वादिगण कहते हैं कि विकार समूह सत् या असत् अर्थात् "है या नहीं" यह ठीक कह नहीं सकते हैं" अर्थात् वे उन्हें अनिर्वाच्य कहते हैं। ३। १३ (६) देखिए।

सांख्य मत के दो कारण हैं—निमित्त और उपादान। निमित्त-वश उपादान की बदली हुई अवस्था ही कार्य है। बौद्ध मत में निमित्त या प्रत्यय ही कारण होता है। कई धर्मरूप प्रत्ययों से अन्य कई धर्म उत्पन्न होते हैं। वे ही कार्य कहाते हैं। कारण कार्यरूप में परिवर्त्तित होकर नहीं रहता है, परन्तु प्रत्ययरूप धर्म विरुद्ध या शून्य हो जाता है, बाद में कार्य या प्रतीत्यरूप धर्म उदित होता है। कार्य तथा कारण में वस्तुगत कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, वे निरन्वय हैं। एक भरी सोने का पिंड परिणत होकर कुंडल बना। पश्चात् हार बना, बौद्ध लोग यहाँ पर कहेंगे सोने का पिंड है = एक भरित्व धर्म + स्वर्णत्व धर्म + पिंडत्व धर्म। कुंडल परिणाम में वे सब धर्म विनष्ट होकर पुनः एक भरित्व धर्म और सुवर्णत्व धर्म-रूप में उदित हुए, केवल पिंडत्व धर्म के बदले कुंडलत्व धर्म उदित हुआ इत्यादि। सांख्य लोग जिसे धर्मी सुवर्ण कहते हैं, बौद्ध उसे ही धर्म कहते हैं एवं परिणाम होनेपर वे फिर उदित होते हैं ऐसा कहते हैं, क्योंकि उनके मत में सब प्रत्ययभूत धर्म एकदा भिन्न भाव से परिणत या अन्यथा-भूत नहीं हो सकते हैं। कई धर्म जो निरूद्ध होते हैं उनके प्रतीत्य धर्म ठीक उनके समान होते हैं, यही बौद्ध मत की संगति है।

कोई एक धर्मसन्तान सहसा क्यों निरुद्ध हो जायगा, उसका कारण क्या है बौद्ध लोग यह नहीं दिखाते हैं। यह भगवान् बुद्ध ने कहा है, बौद्ध लोग केवल ऐसा विश्वास करते हैं :—"**ये धर्मा हेतु प्रभावास्तेषां हेतुं तथागत आह तेषां च यो निरोध एवं वादी महा-श्रमणः।**" यही शास्त्र वाक्य उस विषय में बौद्धों का प्रमाण है। अतः बौद्ध लोग जो कहते हैं कि पूर्व प्रत्ययभूत धर्म शून्य हो जाता है, उसके बाद अन्य धर्म उठता है यह युक्ति शून्य प्रतिज्ञामात्र है। शुद्ध संतान-वादी बौद्ध लोग संपूर्ण निरोध स्वीकार नहीं करते हैं। शून्यवादिगण भी यह स्वीकार करते हैं। परन्तु इनका मत अन्याध्य है वह पहिले [३। १३ सू (६) टिप्पणी में] ही प्रदर्शित हो चुका है।

बौद्धों को कहना चाहिए कि कुछ धर्म अपेक्षाकृत स्थिर रहते हैं (जैसे कुंडल परिणाम में सुवर्णत्व) और कुछ बदल जाते हैं। सांख्य उन स्थिर धर्मों को धर्मी कहते हैं, तथा विश्लेषण कर दिखाते हैं कि ऐसे कई गुण हैं जिनका कभी अभाव या निरोध नहीं होता है। भीतर के तथा बाहर के सभी द्रव्यों में परिणाम धर्म नित्य है, और

सत्ता* या सत्त्वधर्म नित्य है (क्योंकि कुछ रहने से तभी वह परिणत होगा)। और निरोध धर्म नित्य है। निरोध का अर्थ अत्यंताभाव नहीं परन्तु अलक्ष्यभाव में स्थिति है। भाष्यकार ने यह अनेक उदाहरणों से प्रदर्शित किया है। वस्तुतः अभाव का अर्थ 'और एक भाव' है, अभाव शब्द को इसी अर्थ में हम व्यवहार करते हैं। १।७ (१) देखिए। अत्यंताभाव या संपूर्ण ध्वंस विकल्पमात्र है, उसे किसी भाव पदार्थ में प्रयोग करना नितांत अयुक्त चिंता है। शून्य वादी भी कहते हैं 'शून्य है' 'निर्वाण है' इत्यादि। जो रहता है वही भाव है। जो रहता नहीं, था नहीं, रहेगा भी नहीं वही संपूर्ण अभाव कहाता है। उस प्रकार के शब्द का व्यवहार कहना निष्प्रयोजन है। ये तीन नित्य धर्म ही (परिणाम, सत्त्व तथा निरोध) सांख्य के रज, सत्त्व तथा तम हैं। वे ही समस्त निम्न धर्मों के धर्मि-स्वरूप हैं।

पाश्चात्य धर्मवादी द्विविध हैं—एक अज्ञातवादी तथा अन्य अज्ञेयवादी। उनमें से कोई भी शून्य वादी नहीं हैं, क्योंकि बौद्धों को जिस प्रकार निर्वाण को शून्य प्रमाणित (ऐसा ही बुद्ध जी को अभिमत है इस प्रकार सोचकर) करना आवश्यक हुआ था पाश्चात्यों को उस प्रकार से आवश्यक नहीं हुआ। उनको इस प्रकार की अयुक्तता का आश्रम नहीं लेना पड़ा।

Hume पहले कहे हुए अज्ञातवाद के उद्भावक हैं। ह्यम ने समस्त पदार्थ को धर्म या phenomena कहकर उस phenomena का मूल अन्वयिभाव या Substratum क्या है यह 'नहीं जानता हूँ' कहा है। वस्तुतः ह्यूम ने ठीक 'नहीं जानता हूँ' यह नहीं कहा है, "As so those impressions which arise from the senses, their ultimate cause is, in my opinion, perfectly inexplicable by human reason, and it will always be impossible to decide with certainty, whether they arise from the object or are produced by the creative power of the mind, or are derived from the Author of our being." जब ह्यूम के तीन प्रकार के कारण हो सकते हैं तब उन्हें अज्ञातवादी बोलना ही ठीक है।

Herbert spencer प्रधानतः अज्ञेयवाद का समर्थन करते हैं। वे मूल कारण को unknowable या अज्ञेय कहते हैं। किन्तु एक unknowable मूल है इसको उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता है, Thus it forms out that the objective agency, the numeral power, the absolute force, declared as unknowable, is known after all, to exist, persist, resist and cause our subjective affections and phenomena, yet not to think or to will.

सांख्यशास्त्री किस प्रकार विश्लेषण-द्वारा मूल कारण का निर्णय करते हैं यह उक्त हुआ है। Hume जिसे inexplicable कहते हैं, सांख्य उसे explain करके निर्णय करता है। और spencer unknowable कहते हैं वह जब अनुमान बल से 'है' इस प्रकार का निश्चय होता है, तब वह संपूर्ण अज्ञेय नहीं है। परन्तु Phenomena का या धर्म परिणाम सन्तान का जो कारण रूप से स्वीकार्य है उसमें जो उस कार्य की उत्पादिका शक्ति

---

* सत्ता वैकल्पिक धर्म होने पर भी सत्ता कहेने से ही ज्ञान जान पड़ता है। पाश्चात्य विद्वान् भी कहते हैं, 'Knowing is being' अतः सत्ता-प्रकाश शीलत्व नामक धर्म की कल्पित एक भिन्न दृष्टि है।

रहती है, यह भी स्वीकार्य है। समस्त ज्ञात भाव, समस्त क्रियाशील भाव तथा समस्त लयशील भाव ही धर्म हैं। अतः 'धर्म' का मूल कारण, अज्ञेयवादी के मत में अज्ञेय में जो प्रकाश, क्रिया और स्थिति है वह स्वीकार्य होगा। आपत्ति हो सकती है कि वह धारणा के अयोग्य होने के कारण ही 'अज्ञेय' कहा गया है, अतः उसमें प्रकाश, क्रिया और स्थिति कैसे स्वीकार्य हो सकती हैं ? यह सत्य है। किन्तु प्रकाशादि हैं जब इस प्रकार प्रमित हो चुका है, तब तो यही कहना ही पड़ेगा कि उसमें प्रकाश, क्रिया और स्थिति 'अलक्ष्य भाव से' हैं या शक्तिरूप से हैं। शक्तिरूप से रहने का अर्थ है क्रिया की अनभिव्यक्ति। क्रिया तुल्य वल वाली विपरीत क्रिया से अनभिव्यक्त होती है अर्थात् समान विपरीत क्रिया के द्वारा क्रिया की शांति होती है। अतः उस 'अज्ञेय' मूल कारण में प्रकाश-क्रिया स्थिति या सत्त्व-रज-तम समता-द्वारा अभिभूत होकर रहते हैं इस प्रकार से धारणा (Conception) करनी चाहिये। अतएव मूल कारण प्रकृति को सांख्य **'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था'** कहते हैं और साधारण वस्तु के अनुकूल धारणा के योग्य न होने के कारण उसे अव्यक्त कहते हैं। धर्म तथा धर्मी दोनों ही दृश्य पदार्थ हैं। द्रष्टा धर्म भी नहीं होते हैं तथा धर्मी भी नहीं होते हैं और उनके सन्धिभूत भी नहीं। बौद्ध और पाश्चात्य पंडितगण इस विषय में अधिक नहीं जानते हैं।

धर्मी के शून्यतारूप बौद्ध-मत के विरुद्ध भाष्यकार ने तीन युक्तियाँ दी हैं; यथा—स्मृत्य भाव, भोगाभाव और प्रत्यभिज्ञा। स्मृत्यभाव और भोगाभाव व्यतिरेकमुख युक्ति हैं, यह १।३२ (२) की टिप्पणी में व्याख्यात हुआ है। प्रत्यभिज्ञा अन्वयमुख युक्ति है। वह मिट्टी ही परिणत होकर घट हुई है, यह जब अनुभव-सिद्ध है तब शून्यता के व्यर्थ प्रमाण के लिये कष्ट-कल्पना कर धर्मित्व लोप की चेष्टा समीचीन नहीं है।

१४—(२) देश, काल, आकार तथा निमित्त इनकी अपेक्षा से ही कोई एक द्रव्य अभिव्यक्त होता है। सभी द्रव्यों से सब द्रव्य हो सकते हैं; इसी कारण वह निरपेक्ष भाव से होता है ऐसा नहीं है। देश की अपेक्षा जैसे—आँखों के अत्यन्त सन्निकट देश में अच्छी दृष्टि नहीं होती है, उससे दूर देश में होती है। देशव्याप्ति के अनुसार वस्तु क्षुद्र बृहत् रूप से अभिव्यक्त होती है। काल जैसे—बालक सहसा ही वृद्ध नहीं बनता है, कालक्रम से होता है; दोनों वृत्तियाँ एक काल में नहीं उठती हैं, पूर्वोत्तर काल में होती हैं। आकार—जैसे चौकोर साँचे में गोल मुद्रा नहीं बनती है, चोकोर ही होती है। मृगी के गर्भ में मृगाकार जंतु होता है, मनुष्याकार नहीं होता है, इत्यादि। निमित्त—निमित्त ही वास्तव हेतु होता है। देश आदि निमित्त के व्यावहारिक भेदमात्र हैं। उपादान छोड़कर सभी कारण निमित्त कहे जाते हैं। यथायोग्य निमित्त पाने से ही अव्यपदेश्य धर्म अभिव्यक्त होता है।

विशेष या प्रत्यक्ष या उदित धर्म तथा अनुमेय या सामान्य या अतीतानागत धर्म इन सबों के समाहार स्वरूप से हम जिसका व्यवहार करते हैं, वही धर्मी होता है यह भाष्यकार का लक्षण है। अनुपाती अर्थात् पीछे रहने वाला। किसी धर्म को देखने से उसके पीछे उसका आश्रय स्वरूप धर्म-समाहार रूप धर्मी रहेगा। बिना धर्मी के तत्त्वचिंता नहीं होती है।

सभी द्रव्यों के बहुत से अभिव्यक्त गुण रहते हैं, वे ही ज्ञानमान धर्म हैं। और जो

अनभिव्यक्त असंख्य गुण रहते हैं वे ही या उनका समाहार ही धर्मी रूप से व्यवहृत होते हैं। अभिव्यक्त अवस्था को ही द्रव्य का समस्त कहना अन्याय्य है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतु ॥ १५ ॥

भाष्यम्—एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति, तद् यथा चूर्णमृत् पिण्डमृद् घटमृत् कपालमृत् कणमृदिति च क्रमः। यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः, पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्म परिणामः क्रमः। लक्षणपरिणाम क्रमः घटस्यानागतभावाद्वर्त्तमानभावक्रमः, तथा पिण्डस्य वर्त्तमान भावादतीतभावक्रमः। नातीतस्यास्ति क्रमः, कस्मात्, पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वं, सा तु नास्त्यतीतस्य, तस्माद्द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः। तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति, धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति।

त एते क्रमाः, धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः। धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति। यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारस्तद्द्वारेण स एवाभिधीयते धर्मः, तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते। चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च, तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टाः, वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः। ते च सप्तैव भवन्ति अनुमानेन प्रापितवस्तुमात्र सद्भावाः, "निरोध-धर्म-संस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्। चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः" इति ॥ १५ ॥

१५। क्रम का अन्यत्व परिणाम के अन्यत्व का कारण है ॥

भाष्यानुवाद्—एक धर्मी का एक (धर्म, लक्षण तथा अवस्था) परिणाम प्राप्त होने के कारण परिणामान्यत्व का हेतु क्रमान्यत्व (१) है, जैसे चूर्ण मृत्ति का, पिंडमृत्तिका, घटमृत्तिका, कपालमृत्तिका, कर्णमृत्तिका ये क्रम होते हैं। जिस धर्म का जो परवर्त्ती धर्म है, वही उसका क्रम है। "पिंड अन्तर्हित होता है; घट उत्पन्न होता है" यह धर्म परिणाम क्रम है। लक्षणपरिणामक्रम—घट का अनागत भाव से वर्तमान भावक्रम। उसी प्रकार पिंड का वर्त्तमान भाव से अतीत भाव क्रम। अतीत का और क्रम नहीं है, क्योंकि पूर्वपरता रहने से ही समनन्तरता रहती है, अतीत का ऐसा नहीं है (अर्थात् अतीत किसी का पूर्व नहीं होता है सुतरां उसका पर भी कुछ नहीं है); इसलिये अनागत और वर्त्तमान इन द्विविध लक्षणों का ही क्रम है। अवस्थापरिणाम क्रम भी उसी प्रकार है। यथा—अभिनव घट के अन्त में पुराणता देखी जाती है, वह पुराणता क्षण परम्परानुगामी क्रमसमूहों के द्वारा होकर उस समय ज्ञायमान पुराणता रूप चरम अवस्था प्राप्त करती है (पुराणता का अर्थ यहाँ पर जीर्णतादि धर्म भेद नहीं १३।२ देखिये)। धर्म तथा लक्षण से भिन्न यह तृतीय परिणाम है।

ये सब क्रम, धर्म और धर्मी का भेद रहने से ही उपलब्ध होते हैं। अन्य धर्मों की अपेक्षा धर्म भी धर्मी है (२)। जब परमार्थतः धर्मी में (धर्म का) अभेद-उपचार होता है तब उससे (अभेद-उपचार से) वही धर्मी धर्म कहाता है; और उस समय यह (परिणाम) क्रम एकही रूप से प्रत्यवभासित होता है। चित्त के द्विविध धर्म हैं परिदृष्ट और अपरिदृष्ट। उनमें प्रत्ययात्मक धर्म (प्रमाणादि तथा रागादि) परिदृष्ट (ज्ञातस्वरूप) है और वस्तु-(संस्कार) मात्रस्वरूप धर्म अपरिदृष्ट (अलक्षित) है। वे (अपरिदृष्ट धर्म) सात संख्यक हैं; और वे अनुमान द्वारा वस्तुमात्र स्वरूप से प्राप्त किये जाते हैं। निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा तथा शक्ति ये सब चित्त के दर्शनवर्जित या अपरिदृष्ट धर्म (३) हैं।

टीका—१५। (१) एक धर्मी के (एकक्षण में) पूर्व धर्म की निवृत्ति और उदित धर्म की अभिव्यक्ति इस प्रकार एक परिणाम होता है। उस परिणामभेद का कारण होता है उस एक एक परिणाम का क्रम। अर्थात् क्रमानुसार परिणाम भिन्न हो जाता है। परिणाम का प्रकृत क्रम हम देख नहीं पाते, क्योंकि वह क्षणावच्छिन्न सूक्ष्म परिवर्त्तन है। परिणाम का प्रांत ही हम अनुभव कर सकते हैं। क्षण का अर्थ है सूक्ष्मतम काल, जिस काल में परमाणु की अवस्था का अन्यथात्व लक्षित होता है, उसकी व्याख्या आगे भाष्यकार ने की है। अतः प्रकृत क्रम परमाणु का क्षणशः परिणाम है। तान्मात्रिक स्पंदनधारा ही बाह्य परिणाम का धारा वाही सूक्ष्म क्रम है। अणुमात्र आत्मा या बुद्धि का परिणाम आन्तर परिणाम का सूक्ष्म एक क्रम है।

एक परिणाम के परवर्त्ती परिणाम को उसका क्रम कहते हैं। मिट्टी का पिंड घट बनने से वहाँ पिंडत्व धर्म का क्रम घटत्व-धर्म होता है; यह धर्म परिणाम का क्रम है। इसी प्रकार लक्षण तथा अवस्था परिणाम का भी क्रम होता है, भाष्यकार ने इसका उदाहरण दिया है।

अनागत का क्रम उदित और उदित का क्रम अतीत है; यही लक्षण परिणाम का क्रम होता है। नया घट पुराना हुआ, यहाँ वर्त्तमानतारूप एक ही लक्षण रहता है, और धर्म का भेद यदि प्रतीत न हो, तो नया-पुराना आदि जो भेदज्ञान होते हैं, वे ही अवस्था-परिणाम हैं। देशान्तर में स्थिति भी अवस्थापरिणाम है। धर्म परिणाम का लक्ष्य न कर भिन्नता-ज्ञान करना ही अवस्था-परिणाम है। परन्तु उसमें भी धर्म परिणाम होता है। धर्म भेद लक्ष्य न करने से भी या उसे लक्ष्य न करने की शक्ति न रहने से भी (जैसे एकाकार सुवर्ण गोलकों म कौन पुराना है और कौन नया,) सभी वस्तुओं का धर्मपरिणाम क्षणक्रम से हो रहा है। अतः अवस्थापरिणाम जो धर्म तथा लक्षण से पृथक् हैं यही भाष्यकार ने कहा है 'धर्म से भिन्न धर्मी है' इस प्रकार की दृष्टि से देखकर धर्म के परिणाम क्रम की उपलब्धि करनी चाहिये।

१५। (२) एक धर्म अन्य धर्म का धर्मी हो सकता है यह इस पाद के १३ वें सूत्र की ६ ठी टिप्पणी में दिखाया गया है। परमार्थ दृष्टि से अलिंग प्रधान में जाकर धर्म-धर्मी के अभेद का उपचार होता है; यह भी दिखाया गया है। उस समय धर्म-धर्मी भेद करना व्यर्थ होता है। उस समय केवल अभिभाव्य-अभिभाकरूप विक्रिया शक्तिरूप से है ऐसा कहा जा सकता है परन्तु किसकी विक्रिया शक्ति है वह नहीं कहा जा सकता। विक्रिया शक्ति ही समताप्राप्त रजोगुण है।

प्रधान के विषमपरिणाम का विषय रूप से (पुरुष द्वारा) उपदर्शन करना ही बुद्धि आदि विकार हैं। संयोग के अभाव से उपदर्शन का अभाव होने पर बुद्धि आदि विषम क्रम की समाप्ति या अनुपदृष्टि होती है। तब बुद्धि के अभाव हेतु परमार्थ दृष्टि भी समाप्त हो जाती है; अतएव गुणत्रय तथा उनके विक्रिया स्वभाव उस समय पुरुष-द्वारा दृष्ट नहीं होते हैं।

गुणविक्रिया का विषम रूप से दर्शन का अर्थ है—प्रादुर्भाव का आधिक्य-दर्शन, अर्थात् सत्त्व का आधिक्य-दर्शन ही ज्ञान है, रज का आधिक्य-दर्शन प्रवृत्ति है और तम का आधिक्य-दर्शन स्थिति है। ऐसे ही पुरुषोपदृष्टा प्रकृति के द्वारा बुद्धि आदि का सर्ग होता है।

१५। (३) प्रसंगतः भाष्यकार ने चित्त के धर्म का उल्लेख किया है। परिदृष्ट धर्म प्रत्ययरूप या ज्ञान प्रख्या तथा प्रवृत्ति है। अपरिदृष्ट धर्म स्थिति है। प्रवृत्ति धर्म के कुछ परिदृष्ट हैं और कुछ अपरिदृष्ट हैं। अपरिदृष्ट धर्म का भाष्यकार ने सप्तविध उल्लेख किया है। सातों अपरिदृष्ट धर्म वस्तुमात्र स्वरूप हैं अर्थात् वे 'हैं' इस प्रकार से अनुमित होते हैं, पर किस रूप से हैं उसकी विशेष धारणा नहीं होती। जिसका वास है वही वस्तु कहाती है।

निरोध = निरोध समाधि। धर्म = पुण्यापुण्यरूप त्रिविपाक संस्कार। संस्कार = वासनारूप स्मृतिफल संस्कार। परिणाम = जिस अलक्ष्य क्रम से चित्त परिणत होता जाता है। जीवन = प्राणवृत्ति; वह तामस करण (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय की अपेक्षा तामस) है और उसकी क्रिया अज्ञात भाव से होती है; चेष्टा = इन्द्रिय-चालिका चित्त चेष्टा, इच्छारूप चित्तचेष्टा परिदृष्टा है पर यह चेष्टा (अवधान रूपा) अपरिदृष्टा है; क्योंकि इच्छा के बाद वह शक्ति कैसे कर्मेन्द्रिय आदि में आती है यह साक्षात् अनुभव नहीं होता, अर्थात् दर्शनवर्जित वह अवधानरूपा चेष्टा तामस है। शक्ति = चेष्टा या व्यक्त क्रिया की सूक्ष्मावस्था।

भाष्यम्— अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थ प्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

'धर्म लक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद् योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम्। धारणाध्यान समाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः, तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियामाणमतीतानागतज्ञानं तेषु संपादयति ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद—इसके बाद सर्वसाधन संपन्न योगी को बुभुत्सित (जिज्ञासित) विषय की प्रतिपत्ति (साक्षात्कार) के लिए संयम के विषय का अवतरण किया जा रहा है—

१६। परिणामत्रय म संयम करने से अतीत तथा अनागत विषय का ज्ञान होता है। सू०

धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन तीन परिणामों में संयम करने पर योगियों को अतीत और अनागत का ज्ञान होता है। धारणा, ध्यान और समाधि एकत्र ये तीनों (एक ही विषय पर ये तीन साधन) संयम कहे गये हैं। उससे (संयम से) परिणामत्रय साक्षात् करते रहने पर उन तीन परिणामों में अनुगत विषय का अतीत तथा अनागत ज्ञान साधित होता है (१)।

टीका—१६। (१) समाधि-निर्मल ज्ञानशक्ति-द्वारा अप्रकाश्य कुछ नहीं रह सकता है। इसका कारण पहिले कहा जा चुका है। त्रिकाल-ज्ञान के लिए परिणाम-क्रम में उस शक्ति का नियोग करना पड़ता है।

साधारण प्रज्ञा से भी हम कुछ कुछ अतीत और अनागत विषय जान सकते हैं। हेतु से उसका अनुमान कर जानते हैं। संयम बल से हेतु के समस्त विशेष का साक्षात्कार होता है; अतः हेतु के गम्यविषय का भी विशेष ज्ञान या साक्षात्कार होता है। फिर जिसका वह हेतु है, उसका भी उसी प्रकार से साक्षात्कार होता है। इस प्रकार क्रम से अतीत तथा अनागत विषय का ज्ञान होता है।

स्थूल चक्षु-कर्णादि ही हमारे ज्ञान के एक मात्र द्वार नहीं होते हैं यह clairvoyance telepathy आदि साधारण घटना-द्वारा प्रमाणित हो चुका है और भविष्य ज्ञान भी हो सकता है यह बहुत से यथार्थ स्वप्नों-द्वारा प्रमाणित हुआ है। जब चित्त में भविष्यत् ज्ञान की शक्ति है तथा स्वप्नादि में कभी कभी उसका प्रकाश भी होता है, तब वह साधन-बल से अधीन हो सकती है यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। जैसे न्यूटन साहब ने एक सेब फल का पतन देखकर मध्याकर्षण के नियम का आविष्कार किया था, वैसे ही यदि कोई अपने जीवन के किसी सफल स्वप्न के तत्त्व का अनुसंधान करें तो वे योगशास्त्र के इन सब नियम तथा युक्तियों को हृदयंगम कर सकेंगे। अतीतानागत ज्ञान स्वाभाविक शैली से ही होता है। उसमें कुछ 'अतिप्राकृतिकत्व' या mysticism नहीं है। चित्त को भविष्यत् ज्ञान हो सकता है, यह सत्य या Fact है। कैसे हो सकता है उसका भी अवश्य ही कुछ कारण है। भगवान् सूत्रकार ने उसी प्रणाली को युक्ति के साथ दिखाया है। संसार में और किसी ने भी यह नहीं दिखाया है।

यहाँ पर योगसिद्धि के विषय में कई बातें कहना आवश्यक है। समाधिसिद्ध योगी विरले ही होते हैं। संसार के समस्त धर्म संप्रदायों के प्रवर्त्तकों की अलौकिक शक्ति के विषय में वर्णित होता है, परन्तु विचार करने से देखा जाता है कि प्रायः ही उसके समस्त विवरण अलीक या लोक-संग्रह के लिए कल्पित या दर्शक की अविचक्षणता के कारण भ्रान्तधारणा मूलक होते हैं। किन्तु अलौकिक शक्तियों से एक न एक उन सब व्यक्तियों में भी यह अनुमान किया जा सकता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥१७॥

भाष्यम्—तत्र वाग् वर्णेष्वेवार्थवती, श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयं, पदं पुनर्नी-

दानुसंहार बुद्धिनिर्ग्राह्यम् इति । वर्णा एकसमयासंभवित्वात् परस्पर निरनुग्रहात्मानः, ते पदमसंस्पृश्यानपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते । वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधान शक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तर प्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यामिवापन्नः । पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बध्वो वर्णाः क्रमानुरोधिनाऽर्थ संकेते नावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकार विसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति ।

तदेतेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तम् अभागमक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्ण प्रत्यय व्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यहारवासनानुविद्धया लोक बुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते । तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभाग एतावतामेवं जातीयकोऽनुसंहार एकस्यार्थस्य वाचक इति ।

संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः । योऽयं शब्दः सोऽयमर्थः, योऽर्थः स शब्द इत्येवमितरेतराविभागरूपः (मितरेतराध्यासरूपः) संकेतो भवति । इत्येवमेते शब्दार्थ प्रत्यया इतरेतराध्यासात् संकीर्णाः, गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम् । य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित् ।

सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः, वृक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते, न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति । तथा न साधना क्रियास्तीति, तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो नियमार्थोऽनुवादः कर्त्तृ कर्मकरणानां चैत्राग्नितण्डुलानामिति । दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं, श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते जीवति प्राणान् धारयति । तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्तिः, ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं कारकवाचकं वा । अन्यथा भवति, अश्वः, अजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञतं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति ।

तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः, तद् यथा श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः, श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः । क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च, कस्मात् सोऽयमित्यभि सम्बन्धादेकाकार एवं प्रत्ययः संकेते इति । यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्ययोरालंबनीभूतः, स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः । एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इति । अन्यथा शब्दोऽन्यथार्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः, एवं तत्प्रविभागसंयमाद्योगिनस्सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति ॥ १७ ॥

१७ । शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय के परस्पर अध्यास के कारण संकर (अभिन्न ज्ञान) होता है, उनके प्रविभाग में संयम करने पर सारे प्राणियों के उच्चारित शब्द का अर्थज्ञान होता है (१) सू० ।

भाष्यानुवाद—उस विषय में (२) (शब्दार्थ ज्ञान के विचार में) वाक् इन्द्रिय के विषय वर्णसमूह (क) हैं । और श्रोत्र के विषय केवल (वागिन्द्रियजात वर्णरूप) ध्वनि परिणाम (ख) हैं । नाद (अ, आ वगैरह शब्द का) ग्रहण-पूर्वक उनका एकत्व बुद्धिनिर्ग्राह्य, मानस वाचक शब्द ही पद (ग) है । (पद के अंतर्गत) समस्त वर्ण (क्रमशः उच्चारित होने के कारण) एक समय में आविर्भूत नहीं रहने के कारण परस्पर असंबन्ध स्वभाव होते हैं, अतएव वे पदत्व प्राप्त न कर (अतः अर्थ स्थापन न कर) आविर्भूत तथा तिरोभूत होते हैं (अतः पदांतर्गत समस्त वर्णों का) । प्रत्येक को अपदस्वरूप कहा जाता है (घ) ।

प्रत्येक वर्ण पद के उपादान सर्वाभिधान-योग्यता-संम्पन्न (ङ), सहकारी दूसरे वर्णों के साथ संबंधित होने से मानों असंख्य रूप संपन्न होता है। पूर्व वर्ण, उत्तर वर्ण के साथ तथा उत्तर वर्ण, पूर्व वर्ण के साथ विशेष में (वाचक पद रूप में) अवस्थापित होते हैं। इस प्रकार क्रमानुरोधी (च) बहुत से वर्ण अर्थ संकेतद्वारा नियमित होकर दो, तीन, चार या किसी भी संख्या में एकत्र मिलकर सर्वाभिधान योग्यता युक्त होते हैं। (उस प्रकार की योग्यता-युक्त गौः इस पद में) गकार, औकार तथा विसर्ग सास्ना (गोजाति की गलकंबल) प्रभृति से युक्त (गोरूप) अर्थ को प्रतिभात करते हैं।

अर्थसंकेत से नियमित इन वर्णों के (क्रमशः उच्चारित होने के कारण) ध्वनि क्रम-समूह एकीकृत होकर जो एक रूप से बुद्धिगोचर होते हैं, वे ही .वाचक पद हैं और वाचक पद के ही द्वारा वाच्य का संकेत किया जाता है। वाचक पद एक बुद्धिविषय हेतु से एक-स्वरूप, एक प्रयत्नोत्पादित, अभाग, अक्रम, अतएव अवर्णस्वरूप, बौद्ध अर्थात् एकीकृत बुद्धि-विदित, पूर्ववर्णज्ञान के संस्कार के साथ अन्त्यवर्णज्ञान के संस्कार द्वारा अथवा उस ज्ञान-रूप उद्बोधक द्वारा विषयीकृत या अभिव्यक्त होता है (६)। वह पद दूसरे को ज्ञापन करने की इच्छा से (वक्ता कर्तृक) वर्ण-द्वारा अभिधीयमान तथा श्रोता-द्वारा श्रूयमाण होकर अनादि वाग्व्यवहार वासनावासित लोकबुद्धिकर्तृक वृद्धसंवाद के द्वारा सिद्धवत् (वर्ण-समष्टि अर्थ तथा अर्थज्ञान मानों वास्तविक में अभिन्नरूप) प्रतीयमान होता है (ज)। ऐसे पद का प्रविभाग (झ) (अर्थात् गोपद का यह अर्थ है, मृगपद का यह अर्थ है। इस प्रकार अर्थभेद की व्यवस्था) संकेत बुद्धि से सिद्ध होता है; जैसे इन सब (ग, औ, :) वर्णों का इस प्रकार (गौः) अनुसंहार (एकीभूत बुद्धि) इस एक रूप (सास्नादियुक्त गोरूप) अर्थ का वाचक होता है।

पद तथा पदार्थ की इतरेतर अध्यासरूप (ञ) स्मृति ही संकेत का स्वरूप होता है। 'इस शब्द का यही अर्थ होता है, यह अर्थ इस शब्द का है' इस प्रकार इतरेतर अध्यासरूप स्मृति-संकेत कहा जाता है। ऐसे शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय इतरेतर अध्यास हेतु से संकीर्ण होते हैं। जैसे, गो यह शब्द, गौ यह पदार्थ और गौ यह ज्ञान। जो इनका प्रविभाग जानने वाले हैं, वे ही सर्ववित् (उच्चारित समस्त शब्दों के अर्थज्ञ) हैं।

सभी पदों में (ट) वाक्यशक्ति रहती है। (केवल) 'वृक्ष' कहने से 'है' यह ज्ञात होता है; (क्योंकि) पदार्थ में कभी सत्ता का व्यभिचार (अन्यथात्व) नहीं होता है (अर्थात् असत् की विद्यमानता नहीं रहती)। वैसे ही साधनहीन (कारक ज्ञानरहित) क्रिया भी नहीं है, यथा—'पचति' कहने से कारक समूह सामान्यतः अनुमित होने पर भी अन्य-व्यावृत्त कर बोलने में कारकों का अनुवाद या पुनः कथन आवश्यक होता है अर्थात् अन्यकारक व्यावृत्त, तदन्वयी 'कर्ता चैत्र, करण अग्नि, कर्म तंडुल' इन विशेष कारकों को कहना पड़ता है। तथा वाक्य के अर्थ में भी पद रचना देखी जाती है, जैसे—'जो छन्द का अध्ययन करता है' इस वाक्य के अर्थ में 'श्रोत्रिय' पद; 'प्राण धारण करता है' इस वाक्य के अर्थ में 'जीवति' पद। वाक्यार्थक पद के अर्थद्वारा भी अभिव्यक्त होने के कारण पद क्रियावाचक या कारक वाचक है यह प्रविभाग कर व्याख्यान करना चाहिये (अर्थात् अन्य उपयुक्त पद के साथ भोगकर वाक्यरूप से विशद कर बोलना चाहिये)। ऐसा न करने से 'भवति' (= है, पूज्य में) 'अश्व' (= घोड़ा, गया था) 'अजापय' (= बकरी का दूध, जिताया था) इन

स्थलों में श्लिष्ट पद अकेले प्रयुक्त होने से भिन्न-अर्थ-वाचक पदों के नाम के साथ सादृश्य रहने के कारण निश्चय रूप से नहीं जाने जा सकते, और वे क्रिया अथवा कारक इनमें किस भाव से व्याख्यात होंगे, यह कहना कठिन है।

शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय के प्रविभाग, जैसे—(ठ) 'प्रासाद श्वेत दीखता है' (श्वेतते प्रासादः) यह क्रियार्थ शब्द है और 'श्वेत प्रासाद' यह कारकार्थ शब्द है। अर्थ क्रिया-कारकात्मक है और प्रत्यय भी, क्योंकि 'वही यह है' इस प्रकार अभिसंबन्ध हेतु से संकेत-द्वारा एकाकार प्रत्यय सिद्ध होता है। जो श्वेत अर्थ है वही पद और प्रत्यय का आलंबनीभूत है, तथा वह अर्थ अपनी अवस्था-द्वारा विक्रियमाण होने से शब्द प्रत्यय का सहगत (समानाधार) नहीं है। ऐसे ही शब्द और प्रत्यय भी परस्पर साथ नहीं रहते हैं। शब्द भिन्न है, अर्थ भिन्न है और प्रत्यय भिन्न हैं इस प्रकार का विभाग होता है। उनके इस प्रविभाग में संयम करने से योगियों को समस्त प्राणियों के उच्चारित शब्द का अर्थज्ञान सिद्ध होता है।

टीका—१७। (१) शब्द = उच्चारित शब्द। अर्थ = उस शब्द का विषय। प्रत्यय = अर्थ का मनोगत स्वरूप या वक्ता के मन का भाव एवं शब्द सुनकर श्रोता का अर्थज्ञान रूप मनोभाव। उनका (शब्दार्थ प्रत्यय का) परस्पर अध्यास या एक के ऊपर दूसरे का आरोप अर्थात् एक को दूसरा समझना है। उस अध्यास से उनका सांकर्य होता है अर्थात् जो शब्द है वही मानों अर्थ है और वही मानों ज्ञान है इस प्रकार की एकत्व बुद्धि होती है। परन्तु वास्तव में वे अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। गो-शब्द वक्ता के वागिन्द्रिय में रहता है, गो-अर्थ गोशाला में या गोचर में रहता है; और गो-ज्ञान श्रोता के मन में रहता है। इस प्रकार का विभाग जानकर योगी केवल शब्द, केवल अर्थ तथा केवल प्रत्यय की अलग-अलग भावना करना सीखते हैं। उस समय शब्द में मन लगाने पर शब्द मात्र निर्भासित होगा; अर्थ में अथवा प्रत्ययमात्र में मन लगाने से अर्थ या प्रत्यय ही निर्भासित होगा। इस प्रकार भावना-कुशल योगी किसी अज्ञातार्थ शब्द को सुनने से उस शब्द मात्र में संयम कर उस शब्द के वक्ता के वाग्यंत्र में पहुँच जाते हैं। वहाँ पहुँच कर ज्ञान-शक्ति सम्पन्न योगी वाग्यंत्र के प्रयोजक उच्चारक के मन में प्रवेश करते हैं। उसके बाद जिस अर्थ के लिए वह मन उस वाक्य का उच्चारण करता है योगी को उस अर्थ का ज्ञान हो जाता है।

१७। (२) इस प्रसंग में भाष्यकार ने सांख्य-सम्मत शब्दार्थ तत्त्व विवृत किया है। यह अत्यधिक सारवान् तथा युक्तियुक्त है। यह विभाग-द्वारा समझाया जा रहा है।

(क) वागिन्द्रिय से केवल क, ख इत्यादि वर्णों का उच्चारण होता है। वर्ण का अर्थ उच्चार्य शब्द का मौलिक विभाग है। मनुष्यों की जो साधारण भाषा है वह क, ख आदि वर्णों में से प्रत्येक या एक से अधिक के संयोग से निष्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त क्रंदन आदि शब्दों का भी उपयुक्त वर्णविभाग हो सकता है। मान लो कि कोचवान लोग घोड़ों को रोकते समय जो पुचकारते हैं, उसके वर्ण का एक प्रकार का अक्षर-संकेत बनाया गया। उस लिखित अक्षर संकेत को देखकर विज्ञ व्यक्ति उपयुक्त संकेतानुसार उस शब्द का दीर्घ या ह्रस्व उच्चारण कर सकेगा। साधारण 'क' आदि वर्णों से यह उच्चारण नहीं किया जाता है। सभी प्राणियों के शब्दों का इस प्रकार का वर्ण है। रूप के सात प्रकार के मौलिक वर्णों के योग से जैसे समस्त रंग बनते हैं, वैसे कई वर्णों से समस्त प्रकार के वाक्य उच्चारण किये जा सकते हैं।

(ख) कान केवल ध्वनि (sound) ग्रहण करता है, अर्थ नहीं । वर्ण की ध्वनि कान ग्रहण करता है । वर्ण जिस प्रकार-क्रम से उच्चारित होते हैं (एक साथ दो वर्ण उच्चारित्त नहीं हो सकते), कान भी उसके अनुसार क्रमशः एक एक वर्ण की ध्वनि सुनता है ।

(ग) पद वर्ण-समष्टि है । वर्ण-समूह एक साथ उच्चारित नहीं हो सकते, अतः पद एक साथ नहीं रहते । पदोच्चारण में पद के समस्त वर्ण उठते और लीन होते रहते हैं । अतः पद का एकत्व कान से नहीं, परन्तु मन से होता है । पूर्वापर सभी वर्णों के संस्कारों को याद रखकर एकत्व बुद्धि करना ही पद का स्वरूप है । परन्तु एकवर्णिक पद में इसका प्रयोजन नहीं होता है ।

(घ) समस्त वर्ण पद के उपादान हैं परन्तु प्रत्येक वर्ण अपद है । वर्णों के बहुत-से संयोग हो सकते हैं अतः पद मानों असंख्य हैं ।

(ङ) वर्णसमूह पद रूप से या अकेले ही सर्वाभिधान-समर्थ हैं, अर्थात् वे सब पदार्थों के वाचक हो सकते हैं । संकेत के द्वारा किसी भी पद को किसी भी अर्थ का वाचक किया जा सकता है । कई वर्णों को किसी विशेष क्रम में स्थापित कर और किसी विशेष अर्थ में संकेत कर पद बनाया जाता है; जैसे गौः एक पद है, इसमें ग, औ तथा : ये तीन वर्ण हैं; 'ग' के बाद 'औ' और औ-कार के बाद विसर्ग हैं, इस प्रकार एक क्रम व्यवस्थापित हुआ है, तथा 'गौ प्राणी' इस प्रकार के अर्थ का संकेत किया गया है । अतएव गो-पद संकेत व्यक्ति को प्राणि विशेष रूप अर्थ द्योतित करता है ।

(च) यद्यपि पद प्रायः अनेक वर्णों द्वारा निर्मित होते हैं तो भी वे अनेक वर्ण एक साथ वर्त्तमान नहीं रहते हैं; परन्तु वे क्रमशः उच्चारित होते हैं । लीन और उदित द्रव्यों का वास्तविक समाहार नहीं होता है, अतः पद का अर्थ यहाँ मनोभावमात्र होता है । मन ही मन उन सब ध्वनिक्रमों को उपसंहृत या एकत्र किया जाता है, अतः पद उस एकीभूत-बुद्धि से निर्भास्य पदार्थ या मनोभावमात्र हुआ । मन ही मन वर्णसमूह को एक कर एक पद के रूप में स्थापन करने का नाम है अनुसंहार या उपसंहार बुद्धि । इस प्रकार के बुद्धि-निर्मित पद से ही अर्थ का संकेत किया जाता है ।

(६) उच्चार्यमाण पद समूह लीयमान तथा उदीयमान वर्णरूप अवयवस्वरूप होते हैं, किन्तु एक बुद्धिनिर्ग्राह्य मानस पदसमूह वैसे नहीं हैं क्योंकि वे एक बुद्धि के विषय हैं । बुद्धिद्वारा अनुभूयमान विषय वर्त्तमान ही होता है, लीन नहीं होता है । जो ज्ञायमान नहीं होता है, पर अव्यक्तभाव में रहता है वही लीन द्रव्य होता है । मानस पद एक भावस्वरूप है । यह अनुभव भी होता है कि हम मन ही मन पद को एक प्रयत्न से उठाते हैं । तथा वह एक, वर्त्तमान, भावस्वरूप हो अतः उसके उदीयमान और लीयमान अवयव नहीं हैं, वह भागहीन तथा क्रमहीन है । वर्णसमाहार-रूप उच्चारित पद सभाग और सक्रम होने के कारण बुद्धिनिर्मित पद अवर्णस्वरूप है । बुद्धि द्वारा यह कैसे बनता है ?—वर्णक्रम सुनते समय एक एक वर्ण का ज्ञान होता है; ज्ञान होने पर संस्कार होता है, संस्कार से स्मृति होती है । क्रमशः श्रूयमाण वर्णसमूह का इस प्रकार क्रमिक ज्ञान और तज्जनित संस्कार होता है । शेष वर्णों का संस्कार होने पर, उन सब संस्कारों को स्मृति द्वारा एक प्रयत्न में उपस्थापित करने से एक बौद्ध पद निर्मित होता है ।

(ज) बुद्धिस्थ पद अवर्ण होने पर भी उसे व्यक्त करने के लिए उस श्रवणज्ञान के

संस्कार के साथ वर्णों के द्वारा उसको भाषण करना चाहिये । मानुष-प्रकृति अपने वाग्व्यवहार की वासना से युक्त है । मनुष्य जाति में वाक्योत्कर्ष एक विशेषता है, वासना अनादि होने के कारण वाग्व्यवहार की वासना भी अनादि है । मानव शिशु उपयोगी संस्कार-हेतु से सहज ही वाग्व्यवहार सीख लेता है । मूलतः शिक्षा सुनने से ही होती है । शिशु जैसे पद जानता रहता है वैसे पद का अर्थसंकेत भी । यद्यपि पद, अर्थ तथा प्रत्यय पृथक् हैं तो भी वे इतरेतर-अध्यास के द्वारा अभिन्न-भाव से व्यवहार किये जाते हैं और ऐसे व्यवहार की वासना रहने के कारण सीखते समय सहज ही ऐसे शब्दार्थप्रत्यय को अभिन्नवत् मानकर ही सीखते हैं । शिक्षा प्राप्त करते हैं—संप्रतिपत्ति-द्वारा । संप्रतिपत्ति का अर्थ है वृद्ध-संवाद; अर्थात् हम सर्व प्रथम वयोवृद्ध व्यक्तियों से ही उस प्रकार की संकीर्ण भाषा सीखते हैं और बाद में शब्दार्थ-प्रत्यय को संकीर्ण रूप से व्यवहार करते हैं ।

(झ) पदसमूह का प्रविभाग या अर्थभेद-व्यवस्था संकेत से सिद्ध होती है । 'इतने वर्णों से यह पद निर्मित किया एवं यह अर्थ संकेत किया' ऐसे ही किसी व्यक्ति-द्वारा पद और अर्थ का संकेत किया जाता है । चन्द्र, महताब, 'मून' (moon) आदि शब्द किसने रचे हैं और उनका अर्थसंकेत किसने किया है यह न जानने पर भी किसी व्यक्ति ने उसे किया है यह निश्चित है ।

(ञ) पद तथा अर्थ की अध्यास-स्मृति ही संकेत कहाती है । 'यह प्राणी गौ है' 'गौ वह प्राणी है' इस प्रकार इतरेतर अध्यास की स्मृति ही संकेत है ।

अतः पद, पदार्थ और स्मृति या प्रत्यय इतरेतर में अध्यस्त होने के कारण संकीर्ण या विविक्त करने के अयोग्य होते हैं । योगी उनका प्रविभाग जानने पर या समाधि से असंकीर्ण प्रत्येक को साक्षात् करने पर निर्वितर्का प्रज्ञा-द्वारा सब पदों का अर्थ जान सकते हैं ।

(ट) वाक्य का अर्थ है क्रियापद-युक्त विशेष पद । वाक्य शक्ति का अर्थ है वाक्य द्वारा जो अर्थ समझ में आता है उसको समझाने की शक्ति । 'घट' एक पद है; 'घट है' यह एक वाक्य है, घट लाल है यह भी वाक्य है । (वाक्य = proposition; पद = term)

सभी पदों में वाक्यशक्ति रहती है; अर्थात् एक पद कहने से उसमें कुछ न कुछ, अन्ततः 'सत्ता' या 'है' इस प्रकार की क्रियायुक्त, वाक्य वृत्ति रहती है । वृक्ष कहने से वृक्ष 'है' 'था' या 'होगा' इस प्रकार की सत्त्व क्रिया का अध्याहार होता है, क्योंकि सभी पदार्थों में सत्त्व अव्यभिचारी है । 'नहीं है' का अर्थ अन्यत्र अन्य ढंग से है । तब 'आकाश कुसुम' बोलने से भी क्या 'है' समझा जायगा ? हाँ, यही समझा जायगा । यहाँ 'आकाश' भी है, 'कुसुम' भी है तथा 'आकाश कुसुम' पद का एक अर्थ है, वह बाहर नहीं भी है परन्तु मन में है । इस प्रकार भावार्थ या अभावार्थ सभी विशेष्य पदों की सत्त्व-क्रियायोगरूप वाक्य वृत्ति है ।

क्रियापद की भी वाक्य वृत्ति रहती है । इस विषय में 'पचति' पद के उदाहरण से भाष्यकार ने समझाया है । 'पचति' पद कहने से 'रसोई बनाता है, यह वाक्यार्थ प्रकट होता है । अतएव क्रिया में भी वाक्यार्थ-विज्ञापिका शक्ति रहती है, और जो सब पद वाक्यार्थ समझाने के लिए रचे गये हैं, उनमें भी वाक्य शक्ति तो रहेगी ही, जैसे श्रोत्रिय, आदि ।

अनेकार्थक या श्लिष्ट पद (भवति आदि) अकेले प्रयुक्त होने पर योगज प्रज्ञा-द्वारा अर्थ प्रकट करते हैं, साधारण प्रज्ञा से उनका अर्थ नहीं समझा जा सकता ।

(ठ) शब्द, अर्थ और प्रत्यय का भेद उदाहरण देकर समझा रहे हैं ' 'श्वेतते प्रासादः' तथा 'श्वेतः प्रासादः' इन स्थलों में 'श्वेतते' शब्द क्रियार्थक है अर्थात् साध्यरूप अर्थयुक्त है; और 'श्वेतः' यह शब्द 'कारकार्थक" है या सिद्धरूप अर्थयुक्त है। पर उन दोनों शब्दों का जो अर्थ है वही क्रियार्थक और कारकार्थक है, क्योंकि एकही श्वेतता (सफेद रंग) को क्रिया तथा कारक दोनों में ही प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रत्यय भी क्रियाकारकार्थ होता है। कारण 'यह गौ है' इस प्रकार का ज्ञान तथा 'गौ-प्राणिरूप' विषय, संकेत द्वारा अभिसंवद्ध होने के कारण एकाकार होते हैं। इस प्रकार क्रियार्थ अथवा कारकार्थ 'शब्द' से क्रियाकारकार्थ अर्थ और वैसे प्रत्यय का भेद सिद्ध हुआ, अर्थात् शब्द केवल क्रियार्थ अथवा कारकार्थ होता है, परन्तु अर्थ (गवादि) तथा ज्ञान क्रिया और कारक एक साथ उभयार्थक होते हैं। और भी, अर्थ शब्द तथा ज्ञान का आलंबन स्वरूप है अतः वह अपनी अवस्था के विकार से विकृत् होता है। अतएव अर्थ, शब्द या ज्ञान, किसी में भी अन्तर्गत नहीं है। फलतः शब्द तथा प्रत्यय से अर्थ भिन्न होता है। इस प्रकार गो-शब्द रहता है कण्ठ में, गोप्राणी यह अर्थ रहता है गोशाला आदि में, और गोप्रत्यय रहता है मन में; अतएव वे पृथक् पृथक् हैं।

भाष्यकार ने शब्द, अर्थ और प्रत्यय के स्वरूप, संबंध तथा भेद युक्ति से स्थापन कर संयमफल बतलाया है। बौद्ध अर्थात् बुद्धिनिर्मित पद को स्फोट कहते हैं। कुछ विद्वान् स्फोट की सत्ता स्वीकार नहीं करते। न्याय मत में उच्चार्यमाण वर्ण समूह (पदांग) के संस्कार से अर्थज्ञान होता है। भाष्यकार भी, संस्कार से स्फोट होता है, यह कहते हैं। वर्णसंस्कार चित्त में क्रमशः उठ सकता है, परन्तु उस क्रम की अलक्ष्यता हेतु से हम उसे एक स्वरूप में व्यवहार करते हैं अतः बौद्ध पद एकस्वरूप प्रत्यय है, फलतः वह क्रमिक वर्ण-धारा (उच्चार्यमाण पद) से पृथक् हुआ।

भाष्यकार का अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ का संकेत किसी एक समय में किया हुआ है। तंत्रांतर में (मीमांसक मत में) कई शब्दों को नित्य (अनादि अर्थ संबंध युक्त) स्वीकार किया गया है। परन्तु उसका प्रमाण नहीं मिलता है। जब यह पृथ्वी सादि है और मनुष्यों का निवास-काल भी सादि है, तब मनुष्यों की भाषा अनादि है यह कहना ठीक नहीं है। हाँ, जातिस्मर (पूर्व जन्म वृत्तज्ञ) पुरुषों द्वारा पूर्व सर्ग का कोई कोई शब्द इस सर्ग में प्रचारित हुआ है, यह हमारे मत में भी अस्वीकृत नहीं।

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

भाष्यम्—द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः, विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः। ते पूर्वभवाभि संस्कृताः परिणाम चेष्टा निरोध शक्ति जीवन धर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः। तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः, न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्, तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम्। अत्रेदमाख्यानं श्रूयते, भगवतो जैगीषव्यस्य

संस्कारसाक्षात्करणाद्दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत् । अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच, दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति । भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच, दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत् किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानावट्य उवाच, यदिदमायुष्मतः प्रधान वशित्वमनुत्तमं च संतोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति । भगवान् जैगीषव्य उवाच विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं संतोषसुखमुक्तं, कैवल्यापेक्षया दुःखमेव । बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः, त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेमपक्षे न्यस्त इति । दुःखस्वरूपस्तृष्णातन्तुः, तृष्णादुःखसन्तापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥ १८ ॥

१८ । संस्कार-साक्षात्कार करने पर पूर्व जन्म का ज्ञान होता है (१) ॥ सू०

भाष्यानुवाद—ये (सूत्रोक्त) सब संस्कार दो प्रकार के हैं स्मृतिक्लेशहेतु वासना रूप तथा विपाक हेतु धर्माधर्म रूप (२) । ये पूर्व जन्मों में निष्पादित होते हैं । परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन तथा धर्म के समान वे अपरिदृष्ट चित्तधर्म या चित्त के गुण हैं । संस्कार में संयम करने पर संस्कार का साक्षात्कार होता है, और (उस संस्कार के संबंधी) देश, काल तथा निमित्त के साक्षात्कार के बिना संस्कार का साक्षात्कार नहीं हो सकता है, अतएव संस्कार साक्षात्करणद्वारा योगियों को पूर्वजाति का ज्ञान उत्पन्न होता है । दूसरों को भी इस प्रकार से संस्कार साक्षात्कार हो जाने पर अपनी पूर्वजाति का ज्ञान होता है । इस विषय में यह आख्यान सुना जाता है । भगवान जैगीषव्य को पहले संस्कार साक्षात्कार से दस महासर्ग के सभी जन्म परिणामक्रम ज्ञात हो गये थे, और बाद में विवेकज ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ था । तदनन्तर तनुधर (निर्माण कायाश्रित) भगवान् आवट्य ने उनसे पूछा, "भव्यत्व हेतु से (सत्त्वोत्कर्ष के कारण) अनभिभूत-बुद्धि-सत्त्व-संपन्न आपने दस महासर्गों में नरक-तिर्यक जन्म से उत्पन्न हुए और दुःख उपभोग कर तथा देव और मनुष्य योनियों में बार-बार जन्म पाकर (अर्थात् उन जन्मों से उत्पन्न हुए सुख अनुभव कर), सुख तथा दुःख इन दोनों में से कौन अधिक उपलब्ध किया है ?" भगवान आवट्य को भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया—"भव्यत्व हेतु से अनभिभूत बुद्धिसत्त्वसंपन्न मैंने दस महासर्गों में नरक-तिर्यक् जन्म के दुःख अनुभवकर और देव-मनुष्य योनियों में बारंवार उत्पन्न होकर जो कुछ अनुभव किया है उस सबको मैं दुःख ही मानता हूँ ।" भगवान् आवट्य ने फिर पूछा, "आयुष्मन् ! आप के ये जो प्रधानवशित्व तथा अनुत्तम सन्तोष सुख हैं क्या उन्हें भी आप दुःख के अन्तर्गत गिनते हैं ?" भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया—"केवल विषयसुख की अपेक्षा ही संतोषसुख अनुत्तम कहा गया है, कैवल्य की अपेक्षा वह दुःख ही है । बुद्धि सत्त्व का यह धर्म (संतोषरूप) त्रिगुण है, और त्रिगुण प्रत्ययमात्र ही हेयपक्ष में न्यस्त हुआ है । तृष्णा रज्जु ही दुःखस्वरूप है । तृष्णा के दुःखसंताप का अपगम होने से यह (सन्तोष-प्रसन्न-सुख) अबाध और सबके अनुकूल सुख कहा गया है" (३) ।

टीका—१८ । (१) संस्कार साक्षात्कार का अर्थ है संस्कार की स्मृति या स्मरण-ज्ञान । संस्कार का साक्षात्कार होने पर जो पूर्वजाति का ज्ञान होता है, यह स्पष्ट है । उत्तरोत्तर जन्मों में ही संस्कार संचित होते हैं; अतः संस्कारमात्र ही में यदि समाधिबल से ज्ञान

शक्ति को पुञ्जीभूत किया जाय, तो संस्कार सम्यक् (विशेषयुक्त भाव से) विज्ञात हो जायगा, तथा कहाँ, कौन जन्म में, कैसे और कब वह संस्कार संचित हुआ है यह भी याद आ जायगा।

१८। (२) संस्कार के बारे में पहिले व्याख्या की गयी है (२।१२ सूत्र की टिप्पणी देखिए)। संस्कार परिणामादि के समान अपरिदृष्ट चित्तधर्म है। 'धर्म' के बदले 'कर्म' भी पाठांतर है, कर्म का अर्थ कर्माशय है। संस्कार-साक्षात्कार करने में आत्मगत किसी संस्कार की भावना करनी पड़ती है। प्रबल संस्कार रहने से उसका फल प्रस्फुट होता है। अतः किसी प्रबल प्रवृत्ति या करणशक्ति की धारणा कर उसमें समाहित होनेपर (विशदतम उपलक्षण-स्वरूप होकर उस संस्कार का जो स्मरणज्ञान होता है, वही संस्कारसाक्षात्कार या पूर्वजाति का स्मरणज्ञान होता है) संस्कार का साक्षात्कार होता है। मानव के लिए मानव के जातिगत विशेष गुण समूह ही स्मृतिफल वासनारूप संस्कार हैं। मानवीय आकार, इन्द्रिय, मन इत्यादि की विशेषता धारण कर समाहित होने से यह वासनारूप साँचा, किस लिए स्मरणारूढ़ होकर वर्त्तमान मानव जन्म के धर्माधर्म धारण करता है, इसका ज्ञान होता है। वासना की पहले व्याख्या की गई है। वासना साँचे के समान, और धर्माधर्म द्रवीभूत धातु के समान हैं। [२।१२ (१) और २।१५ (१) (३) देखिए।]

१८। (३) भाष्यकार ने महायोगी जैगीषव्य और आवटच का संवाद उद्धृत कर इस विषय की व्याख्या की है। महाभारत में भगवान् जैगीषव्य का योगसिद्धि-विषयक आख्यान कई स्थानों पर हैं, किन्तु आवटच-जैगीषव्य-संवाद किसी प्रचलित ग्रन्थ में नहीं है। 'श्रूयते' शब्द कहने से, वह किसी काललुप्त श्रुति की शाखा में था, ऐसा प्रतीत होता है। इस आख्यान की रचना-शैली अति प्राचीन है। प्राचीनतम बौद्धग्रन्थ में ऐसी ही रचनाशैली का अनुकरण हुआ है।

प्रसन्न = वैषयिक दुःख से अस्पृष्ट। अबाध = किसी बाधा से जो भग्न न हो। भिक्षु कहते हैं 'यावद् बुद्धिस्थायीअक्षय।' सर्वानुकूल = सभी का प्रिय या सभी अवस्थाओं में अनुकूल रूप में स्थित।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—प्रत्यये संयमात् प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

१९। प्रत्ययकाल में संयम का अभ्यास करने पर परचित्त का ज्ञान होता है। सू०

भाष्यानुवाद—प्रत्यय में संयम-द्वारा प्रत्यय साक्षात् करने पर उससे परचित्त-ज्ञान होता है (१)।

टीका—१९। (१) यहाँ पर प्रत्यय शब्द का अर्थ विज्ञान भिक्षु के मत में स्वचित्त, दूसरों के मत में परचित्त है। परचित्त को कैसे साक्षात् करना होगा इस पर भोजराज कहते हैं कि 'मुखरागादिना।' वस्तुतः प्रत्यय यहाँ पर स्व-पर दोनों प्रकार का प्रत्यय है। अपने

किसी एक प्रत्यय को विविक्त कर साक्षात्कार न कर सकने से पराया प्रत्यय कैसे साक्षात् किया जायगा ? पहले अपनी प्रत्यय जानकर परप्रत्यय के ग्रहण के लिए स्वचित्त को शून्य-वत् करना और उसे पर प्रत्यय के ग्रहणार्थ उपयोगी कर पराया प्रत्यय जानना चाहिए।

परचित्तज्ञ व्यक्ति बहुत देखे जाते हैं। वे योगसिद्ध नहीं, परन्तु जन्मसिद्ध होते हैं। जिसका चित्त जानना है उसकी ओर लक्ष्य रखकर अपने चित्त को शून्यवत् करने पर उसमें जो भाव उठते हैं वे ही परचित के भाव होते हैं। इस प्रकार से साधारण परचित्तज्ञ व्यक्ति पराये मनोभाव जानते हैं; परन्तु वे यह कह नहीं सकते हैं कि कैसे उनके मन में पराये मनोभाव आया करते हैं। किन्तु समझ सकते हैं कि यह पराया मनोभाव है। बिना आयास के ही किसी किसी को परचित्त का ज्ञान होता है। मन ही मन किसी बात की भावना करने से या किसी रूपरसादि का चिंतन करने से किसी भी पूर्वानुभूत तथा विस्मृत भाव को भी परचित्तज्ञ व्यक्ति मानों सहज ही समय समय पर जान सकते हैं।

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ २०॥

भाष्यम्—रक्तं प्रत्ययं जानाति, अमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति । पर प्रत्ययस्य यदालम्बनं तद योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रन्तु योगिचित्तस्य आलम्बनीभूतमिति॥ २०॥

२०। उसके (परचित्त के) आलम्बन के साथ ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि उसका (योगिचित्त का) आलम्बन विषयीभूत नहीं होता है। सू०

भाष्यानुवाद—(पूर्व सूत्रोक्त संयम में योगी) रागयुक्त प्रत्यय जान सकते हैं, परन्तु अमुक विषय रागयुक्त है, यह नहीं जान सकते हैं। (क्योंकि) परचित्त का जो आलम्बन (विषय) है योगिचित्तद्वारा उसका आलम्बन नहीं किया गया, केवल परप्रत्यय ही योगिचित्त का आलम्बनीभूत होता है (१)।

टीका—२०। (१) प्रत्ययसाक्षात्कार द्वारा राग, द्वेष तथा अभिनिवेशरूप अवस्था-वृत्तियों के आलम्बन का ज्ञान नहीं होता है, क्यों कि उनमें बहुत-सी आलम्बन-निरपेक्ष चित्तावस्थाएँ हैं। बाघ देखकर भय पाने से बाघ भयभाव में नहीं रहता है, वह रूपज-ज्ञान में ही रहता है। अतएव अवस्था वृत्ति का आलम्बन जानना हो तो फ़िर प्रणिधान कर जानना चाहिये। परन्तु जो सब प्रत्यय आलम्बन के सहभावी हैं उनका अर्थात् शब्दादि प्रत्ययों का ज्ञान होने से आलम्बन का भी ज्ञान अवश्य होता है। कोई व्यक्ति यदि नील आकाश का ध्यान कर रहा है तो योगी अवश्य ही एक साथ 'नील आकाश' जान सकेंगे; क्योंकि नील आकाश का प्रत्यय मनमें 'नील आकाश'-रूप से ही उठता है।

विज्ञान भिक्षु के मत में बीसवाँ सूत्र भाष्य का अंग है, अलग सूत्र नहीं है।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—कायरूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिबध्नाति, ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानमुत्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

२१ । शरीर के रूप में संयम करने से उस रूप का ग्राह्य शक्तिस्तंभ होने पर शरीर का रूप चक्षु-ज्ञान का अविषयीभूत होता है, अतः अन्तर्द्धानसिद्ध होता है ।

भाष्यानुवाद—शरीर के रूप में संयम से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है वह स्तंभित होती है, ग्राह्य शक्ति का स्तंभ होने पर चक्षु प्रकाश के अविषयीभूत होने से, योगी को अंतर्द्धान उत्पन्न होता है । इससे शरीर के शब्दादि का भी अंतर्द्धान उक्त हुआ है यह जानना चाहिये (१) ।

टीका—२१। (१) भानुमती के बाजीगर जो ऐन्द्रजालिक युद्ध दिखाते हैं, उसमें वह बाजीगर केवल संकल्प करता है कि दर्शकगण इन रूपों को देखें, उसीसे दर्शकगण इस प्रकार देखते हैं । किसी अंगरेज़ ने लिखा है कि वह उस जादू के स्थान से कुछ दूर थे, और वे देख रहे थे कि जादूगर चुपचाप खड़ा है, पर उसके निकटस्थ सभी दर्शकगण ऊपर देख रहे हैं और उत्तेजित होकर ऊपर से गिरे हुए कटे हाथ पैर सब देख रहे हैं । यहाँ तक कि एक पलटन के डाक्टर ने एक काल्पनिक हाथ को उठा कर कहा, 'जिसने यह काटा है उसका पेशी संस्थान का अच्छा ज्ञान है ।' इस प्रकार दर्शकगण उत्तेजित भाव से देख रहे थे, परन्तु वास्तव में जादूगर के संकल्प के सिवाय और कुछ नहीं था ।

जो हो इससे जान पड़ता है कि संकल्प के द्वारा कैसे असाधारण व्यापार भी सिद्ध हो सकते हैं । योगीगण यदि अव्याहत संकल्प के साथ सोचें कि हमारे शरीरों के रूप शब्दादि किसी को गोचर न हों, तो यह सम्भव होगा ऐसा कहना अनावश्यक है ।

ये सब बातें लिखने का एक और प्रयोजन है । बहुत से लोग परचित्तज्ञता या ये सब जादू देख कर सोचते हैं कि मैंने अब सिद्ध पुरुष प्राप्त कर लिया है । अज्ञ लोग अपनी धारणा के अनुसार भूतसिद्ध, पिशाचसिद्ध, योगसिद्ध इत्यादि कुछ विश्वास कर शायद किसी भ्रष्टचरित्र अधर्मी ठग के फेर में पड़ कर यहलोक-परलोक खो बैठते हैं । इस प्रकार के सिद्धों के फेर में फँस कर कुछ व्यक्ति सर्वस्व खो बैठे हैं यह हम जानते हैं । ये सब मामूली जन्मज सिद्धियाँ हैं, योगज सिद्धियाँ नहीं । ऐसी किसी असाधारण शक्ति को देख कर किसी को योगी मानना ठीक नहीं है । परन्तु अहिंसा, सत्य आदि यम तथा नियम आदि का साधन देखकर योगी मानना चाहिए । क्षुद्रसिद्धियुक्त बहुत आदमी साधु-सन्त के वेष में पैसा कमाते हैं । ऐसे व्यक्तियों को योगी मानकर बहुत से भ्रांत होते हैं और प्रकृत योगी का आदर्श भी इसी से विपर्यस्त हो गया है ।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

भाष्यम्—आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं, निरुपक्रमं च । तत्र यथा आर्द्रवस्त्रं